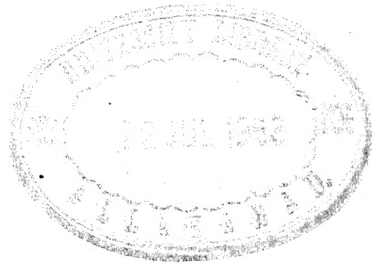
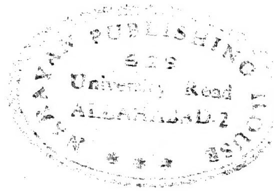
ऋग्वैदिक काल
में
पारिवारिक सम्बन्ध
(Family Relationships in the Rigvedic Age)



डा० शिवराज शास्त्री,
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ।



१९६२
लीला-कमल प्रकाशन
मेरठ।

प्रकाशक—
लीला-कमल प्रकाशन,
३०१, ऊर्मिला शास्त्री रोड,
मेरठ।

मूल्य—
रु. २७·५० (देश में)
रु. ४१·२५ (विदेश में)

मुद्रक—
भात प्रेस, मेरठ।

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल रूप में आगरा विश्व-विद्यालय ने १९५८ में पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत किया था और अब उसे केवल यत्र-तत्र मामूली संशोधनों के साथ प्रकाशित किया जा रहा है ।

अब से लगभग १२ वर्ष पहले प्रस्तुत विषय को लेकर ऋग्वेद का अध्ययन करना प्रारम्भ किया था। मेरे गुरु डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने १९४९ ई० के ऑल-इण्डिया कान्फ्रेन्स के बम्बई अधिवेशन में *Ṛgvedic Conception of Brother* विषय पर एक शोधपूर्ण तथा स्फूर्तिदायक लेख पढ़ा था। उस लेख को तैयार करते समय उन्हें यह अनुभव हुआ कि यद्यपि ऋग्वेद पर परिवार के सम्बन्ध में कुछ कार्य अवश्य हो चुका है,[1] परन्तु परिवार के सम्बन्ध में ऋग्वेद में विद्यमान सारी सामग्री के एक जगह एकत्रित न होने से ऐसे गवेषक के लिए जो परिवार सम्बन्धी एक पहलू पर विचार कर रहा है, बड़ी कठिनता उपस्थित होती है, क्योंकि ऐसे गवेषक के लिये सारे ऋग्वेद का पारायण करना सम्भव नहीं होता। उनका विश्वास था कि ऋग्वेद में इस प्रकार की सामग्री का प्राचुर्य है और ऋग्वेद-कालीन पारिवारिक सम्बन्धों की विवेचना से आधुनिक भारतीय समाज में प्रचलित परिवार संस्था को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है। दिसम्बर १९४९ ई० में शीतकालीन अवकाश में जब मैं प्रोफेसर साहब से मिला तो उन्होंने परिवार-सम्बन्धी सामग्री का संकलन करने की दृष्टि से ऋग्वेद के अध्ययन का सुझाव दिया। मुझे वैदिक साहित्य के प्रति अपने विद्यार्थी-जीवन से ही अनुराग रहा है, इसलिये प्रोफेसर साहब ने जब उक्त दृष्टि से ऋग्वेद के अध्ययन का सुझाव दिया तो मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और ऋग्वेद का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया।

इस दृष्टि से कि ऋग्वेद में उपलब्ध परिवार सम्बन्धी कोई भी सामग्री संकलन करने से छूट न जाए, मैंने ऋग्वेद का कई बार आद्योपान्त पारायण किया। पहले पारायण में मैंने अपने प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध ऋग्वेद के सब स्थलों को रेखाङ्कित किया और दूसरे पारायण में ऋग्वेद के ग्रिफ़िथकृत अंग्रेजी अनुवाद की सहायता से सम्पूर्ण सामग्री का संकलन करके उसे विषय-वार विभक्त किया। इसके पश्चात् ऋग्वेद के अपने

---

१. देखिये उपोद्घात पृष्ठ २, ३।

विषय से सम्बद्ध उन स्थलों का, जिनका अर्थ अस्पष्ट तथा संदिग्ध था और जिनके विषय में ऋग्वेद के भाष्यकार अथवा रूपान्तरकार एक-मत नहीं थे, सायणाचार्य के भाष्य तथा प्रो० विल्सन और ग्रिफ़िथ के ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवादों एवम् टिप्पणियों और प्रो० गेल्डनर के ऋग्वेद के जर्मन अनुवाद तथा टिप्पणियों की सहायता से मनन किया। इस प्रकार ऋग्वेद में बिखरी हुई परिवार-सम्बन्धी सम्पूर्ण सामग्री का संकलन और वर्गीकरण करके ऋग्वैदिक आर्यों की परिवार-संस्था तथा उसमें स्वीकृत पारिवारिक सम्बन्धों एवम् उनके साथ संलग्न अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का पूर्ण चित्र तैयार करने का प्रयास किया गया है।

आर्यों के सामाजिक संगठन की दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन करने के लिए समाज-विज्ञान-शास्त्र के स्थूल सिद्धान्तों और परिवार-संस्था के विकास-क्रम की स्थूल रूपरेखा का सामान्य ज्ञान सर्वथा अनिवार्य है, इसलिये समाज-विज्ञान-शास्त्र तथा मानव-विज्ञान-शास्त्र के कुछ प्रतिनिधि लेखकों के ग्रन्थों का भी स्वाध्याय आवश्यक था। उसका अध्ययन विशेष करके इन ग्रन्थों के आधार पर किया गया है: फ्रैडरिक एन्जिल्स का *Origin of Family Private Property and the State*, डब्ल्यु० एच० आर० रिवर्स का *Social Organisation*, रौबर्ट एच० लोवी का *Primitive society* तथा *Social Organisation.*

प्रस्तुत अध्ययन-काल में मुझे अनेक बार आशा और निराशा के झूले में आरूढ होना पड़ा है। अनेक बार ऐसे अवसर आये कि ऋग्वेद में उपलब्ध परिवार-सम्बन्धी सामग्री की एकरूपता कण्ठावरोध करने वाली अनुभव हुई, लेकिन ऐसे अवसरों पर मेरे पथ-प्रदर्शक डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने प्रोत्साहित करके तथा उपलब्ध सामग्री के उपयोग का नया मार्ग प्रदर्शित करके निरन्तर आगे बढ़ते रहने के लिये सम्बल प्रदान किया। ऋग्वेद की सम्पूर्ण सामग्री को संकलित तथा सारित (collected and tabulated) करने पर यह अनुभव हुआ कि ऋग्वेद में एक ही प्रकार की सामग्री की इतनी अधिकता थी कि उस सबको पी-एच० डी० डिग्री के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले शोध-प्रबन्ध की सीमाओं में समाविष्ट नहीं किया जा सकता था, इसलिये ऋग्वेद में प्राप्त ऐसी सामग्री को जिससे कोई और नया प्रकाश नहीं पड़ता था, छोड़ दिया गया है, लेकिन यह ध्यान रक्खा गया है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण अथवा नया प्रकाश डालने वाली सामग्री छूटने न पाये।

ऋग्वैदिक आर्यों की परिवार-संस्था तथा पारिवारिक सम्बन्धों के अध्ययन की दृष्टि से ऋग्वेद के अब तक किये गये अध्ययन किसी एक

विशेष पहलू से सम्बन्ध रखते हैं और उनका क्षेत्र ऋग्वेद की सीमा से अधिक व्यापक है, जैसा कि उपोद्घात में स्पष्ट किया गया है।[1] परन्तु वर्तमान अध्ययन का क्षेत्र केवल ऋग्वेद है यद्यपि उत्तरवर्ती साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि मे यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है, और ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री के आधार पर तत्कालीन परिवार का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करना इस अध्ययन का उद्देश्य रहा है।

ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित परिवार संस्था तथा पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप के समुचित मूल्याङ्कन के लिये अथवा किसी विषय पर ऋग्वैदिक साक्ष्य के अत्यल्प एवम् संदिग्ध होने पर, जैसा कि ऊपर कहा गया है, आवश्यकतानुसार उत्तरवर्त्ती साहित्य में उपलब्ध सामग्री का भी उपयोग किया गया है, और उत्तरवर्ती साहित्य में प्रतिबिम्बित अवस्था से तुलना करके ऋग्वैदिक काल की अवस्था का स्पष्ट चित्र देने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ कहीं ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका है, वहाँ केवल ऋग्वैदिक साक्ष्य का विवेचन करके सन्तोष करना पड़ा है। किसी विषय पर ऋग्वैदिक साक्ष्य के किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये अत्यल्प अथवा संदिग्ध होने पर उसका केवल विवेचन कर देना ही अधिक उचित प्रतीत हुआ और ऐसे साक्ष्य के आधार पर कोई परिणाम निकालने का प्रयास नहीं किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी पूर्व-धारणा के बिना किया गया है। इसका एकमात्र लक्ष्य ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री का सोद्देश्य संकलन रहा है। ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री की सहायता से ऋग्वैदिक आर्यों के परिवार का और उसमें उद्भूत सम्बन्धों का जैसा भी चित्र बन सकता था, उसे ही देने का प्रयत्न किया गया है और कच्चे-पक्के आधार पर संदिग्ध साक्ष्य को तोड़-मरोड़ कर ऋग्वैदिक आर्यों में विलक्षण सामाजिक प्रथा खोज निकालने की चेष्टा का बोधपूर्वक संवरण किया गया है। यह सम्भव है और वस्तुतः स्वाभाविक है कि पारिवारिक संस्था का जो चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उससे किन्हीं आलोचकों का मत-भेद हो, परन्तु वर्तमान लेखक को कम से कम यह सन्तोष तो अवश्य है कि उसने पारिवारिक संस्था सम्बन्धी ऋग्वेद की सारी सामग्री एक जगह प्रस्तुत कर दी है, जो इस क्षेत्र में सभी विचारकों के लिये सहायक सिद्ध होगी।

अपने प्रस्तुत अध्ययन की परिपूर्णता के लिये भारतवर्ष के कुछ आधुनिक वैदिक विद्वानों के सुझाव तथा सत्परामर्श प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया गया। पूना विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर तथा भण्डारकर ओरियण्टल

---

१. देखिये उपोद्घात पृष्ठ ३, ४।

रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना के ऑनरेरी डायरेक्टर डा० आर० एन० दाण्डेकर ने भण्डारकर इन्स्टीट्यूट में लगभग दो मास रहने तथा कार्य करने की सुविधा देकर तथा उस बीच में कई बार अपना बहुमूल्य समय देकर मुझे अपने सुझावों से अनुगृहीत किया। भण्डारकर इन्स्टीट्यूट के क्यूरेटर (दिवंगत) डा० पी. के. गोडे ने भी मेरी अनेक प्रकार से सहायता की जिसके लिये मैं उनका अत्यधिक कृतज्ञ हूँ। विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट होशियारपुर के ऑनरेरी डायरेक्टर श्री विश्वबन्धु शास्त्री, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस के भूतपूर्व प्रिन्सिपल डा० मंगल देव शास्त्री और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने भी मुझे अपने अनेक प्रेरणादायक तथा बहुमूल्य सुझावों से अनुगृहीत किया। पूना में रहते हुए मैं डा० इरावती कार्वे से भी मिला जिन्होंने मुझसे पूर्व इस क्षेत्र में काम किया था। उनके अध्ययन से मुझे कार्य करने के लिये बहुत प्रेरणा मिली है और उनके ऐसे निष्कर्षों ने, जिनसे मैं सहमत नहीं हो सका हूँ, मुझे ऋग्वेद का और अधिक सूक्ष्मता तथा सावधानी से अध्ययन करने के लिये स्फूर्ति दी है। इसलिये मैं डा० इरावती कार्वे का कृतज्ञ हूँ। बम्बई विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्कूल आफ इकोनामिक्स एण्ड सोशियोलौजी (School of Economics and Sociology) में समाज-विज्ञान-शास्त्र के प्राध्यापक डा० के० एम० कापडिया ने भी अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर किसी पूर्व-धारणा के बिना शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से निष्पक्षपात होकर ऋग्वेद का अध्ययन करके वैदिक आर्यों के पारिवारिक संगठन का चित्र निरूपित करने के लिए उत्साहित किया, जिसके लिये मैं डा० कापडिया का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के शुद्ध और स्वच्छ मुद्रण तथा आकलन के लिये मैं प्रभात प्रेस के व्यवस्थापक श्री कृष्ण अवतार रस्तौगी और उनके सहयोगियों का भी कृतज्ञ हूँ जिनके सहयोग, उत्साह, अथक परिश्रम और सूझ-बूझ के बिना पुस्तक का यह रूप असम्भव ही था।

इस निबन्ध में ऋकारान्त माने जाने वाले शब्दों को प्रो० रौथ तथा बोतलिङ्क के कोष के अनुसार रेफान्त रक्खा गया है अर्थात् 'पितृ', 'मातृ', 'भ्रातृ', 'स्वसृ' आदि प्रातिपदिक शब्दों को पितर्', 'मातर्', 'भ्रातर्', 'स्वसर्' आदि लिखा गया है, जो कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि इण्डो-यूरोपीय मूल मातृ-भाषा में 'पितृ', 'मातृ' आदि शब्द न होकर 'मातर्', 'पितर्' आदि से ही सम्बद्ध शब्द थे और मातृ, पितृ आदि केवल व्याकरण में कल्पित शब्दस्वरूप हैं।

—:०:—

संकेत-सूची

(अ) निबन्ध में निर्दिष्ट भाषायें, उनके संकेत तथा अंग्रेजी अनुवर्तनी (Spellings)

अवस्ता (ज़ेन्द)		(Zend) Avestan	Av.
अल्बानियन	अल्बा०	Albanian	Alb.
आयरिश		Irish	Ir.
आर्मीनियन	आर्मीनि०	Armenian	Arm.
आस्कन		Oscan	Osc.
इटालियन	इटा०	Italian	It.
एंग्लोसेक्सन		Anglo-Saxon	A. S.
केल्टिक		Celtic	
कोर्निश		Cornish	Corn.
ग्रीक		Greek	Grk.
गोथिक		Gothic	Goth.
चर्चस्लाव (या प्राचीन स्लाव)	प्रा० स्लाव	Church Slavic	Ch. Sl.
जर्मन		Germanic	Gemc.
ट्यूटानिक		Teutonic	
डच		Dutch	Du.
डेनिश		Danish	Dan.
तुखारी		Tocharian	Toch.
नूतन अंग्रेजी	नू० अंग्रेजी	New English	N. E.
नूतन आयरिश	नू० आय०	New Irish	
नूतन उच्च जर्मन	नू० उ० ज०	New High German	N. H. G.
नूतन ग्रीक		New Greek	NG.
नूतन पर्शियन		New Persian	N. Pers.
पहलवी		Pahlavi	Pahl.
पोलिश		Polish	Pol.
प्राचीन अंग्रेजी	प्रा० अंग्रेजी	Old English	O. E.

प्राचीन आयरिश	प्रा० आयरिश	Old Irish	O. Ir.
प्राचीन उच्च जर्मन	प्रा० उ० ज० (या जर्म०)	Old High German	O. H. G.
प्राचीन नोर्स	प्रा० नोर्स	Old Norsh	O. N.
प्राचीन पोलिश	प्रा० पोलिश	Old Polish	
प्राचीन फ्रेंच	प्रा० फ्रें०	Old French	
प्राचीन बोहेमियन	प्रा० बोहेमि०	Old Bohemian	
प्राचीन लिथुआनियन	प्रा० लिथु०	Old Lithuanian	
प्रुशियन	प्रुशि०	Prussian	Pruss.
फारसी		Persian	
फ्रीजियन		Frisian	Fris.
ब्रिटन		Breton	Br.
बोहेमियन	बोह०	Bohemian	Boh.
मध्य इंग्लिश	म० इंग्लिश	Middle English	M. E.
मध्य उच्च जर्मन	म० उ० जर्मन	Middle High German	M. H. G.
रुमानियन	रुमा०	Rumanian	Rum.
रूसी		Russian	Russ.
लिथुआनियन	लिथु०	Lithuanian	Lith.
लेटिन		Latin	Lat.
लेटिश		Lettish, Lettic	Lett.
लिथुस्लावनिक	लिथु० स्लाव०	Lith-Slavonic	
वेल्स		Welsh	W.
सर्बो-क्रोशियन		Serbo-Crotian	Scr.
स्पेनिश		Spanish	Sp.
स्वीडिश		Swedish	Sw.
स्लावनिक		Slavonic	
हिट्टाइट		Hittite	Hitt.

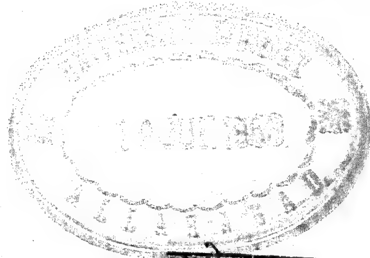
(ब) निबन्ध में प्रयुक्त पुस्तकें, तथा उनके निर्देश संकेत

अथर्ववेद	अथर्व०
आपस्तम्बधर्मसूत्र	आप० ध० सू०

आश्वलायनगृह्यसूत्र	आश्व० गृ० सू०
ऋग्वेद	ऋक्
ऐतरेयब्राह्मण	ऐत० ब्रा०
काठकसंहिता	का० सं०
कात्यायनश्रौतसूत्र	कात्या० श्रौ० सू०
गौतमधर्मसूत्र	गौ० ध० सू०
छान्दोग्योपनिषद्	छान्दो० उप०
जैमिनीयब्राह्मण	जै० ब्रा०
तैत्तिरीयब्राह्मण	तैत्ति० ब्रा०
तैत्तिरीयसंहिता	तैत्ति० सं०
पञ्चविंशब्राह्मण	पञ्च० ब्रा०
बृहदारण्यकोपनिषद्	बृहदा० उप०
बौधायनधर्मसूत्र	बौ० ध० सू०
भागवतपुराण	भाग० पु०
मनुस्मृति	मनु० स्मृ०; मनु०
मुद्राराक्षस	मुद्रा०
मैत्रायणीसंहिता	मै० सं०
याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञ०
रघुवंश	रघु०
वसिष्ठधर्मसूत्र	वसि० ध० सू०
वाजसनेयीसंहिता	वा० सं०
वायुपुराण	वायु०
शतपथब्राह्मण	शतपथ ब्रा०; शत० ब्रा०
Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.	A. B. O. R. I.
A Dictionary of Selected Synonyms in Principal Indo-European Languages.	Buck ; Buck : Dictionary
Encyclopaedia of Religion and Ethics.	E. R. E.
Fourth Oriental Conference Proceedings.	F. O. C. P.

Vergleichendes Wörterbuch der Indogermanishen Sprachen.	Fick
Original Sanskrit Texts (Ed. Muir, J.)	O. S. T.
Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference, Bombay.	P. T. A. I. O. C.
Sanskrit Dictionary (Monier-Williams).	Sans. Dict.
Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.	Z. D. M. G.

विषय-सूची



उपोद्घात

यूरोप में संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन ने इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा इण्डो-यूरोपीय जाति के धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक परिस्थितियों के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और नूतन सामग्री उपस्थित की है। प्रो० मैक्समूलर[१], ह्विटनी[२] तथा मैक्डानल[३] आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इण्डो-यूरोपीय तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक देवताख्यान (Mythology) इन दो नूतन विज्ञानों की उत्पत्ति और विकास का आधार संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य को स्वीकार किया है। वेदों का, विशेषत: ऋग्वेद का, मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा, धर्म, देवताख्यान और समाज की युक्तियुक्त तथा यथातथ्य कल्पना करने में सबसे अधिक महत्त्व रहा है। ऋग्वेद इण्डो-यूरोपीय जाति का प्राचीनतम ग्रन्थ होने के कारण, केवल भारतीय आर्यों के जीवन का ही प्राचीनतम लेखा नहीं है, अपितु मूल इण्डो-यूरोपीय जाति का भी प्राचीनतम लेखा है। मैक्समूलर के अनुसार वेद के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा साहित्यिक अवशेष नहीं है जो हमें मानव के विकास की और अधिक आदिम अवस्था का ज्ञान प्राप्त करा सके।[४] प्रो० मैक्डानल ने भी मानव के विकास के अध्ययन के विषय में संस्कृत साहित्य को प्राचीन ग्रीक साहित्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।[५]

पश्चिमी जगत् में संस्कृत के प्रवेश के कुछ समय पश्चात् से ही विद्वानों का ध्यान ऋग्वेद के अध्ययन की ओर आकृष्ट रहा है और अनेक विद्वानों ने ऋग्वेद का भाषा-विज्ञान, देवताख्यान और धर्म की दृष्टि से अध्ययन किया

---

१. '*The Religion of the Veda*' (India—what can it teach us, 1882)

२. *Oriental and Linguistic studies* (New York, 1873) pp. 31, 198 & 203.

३. *History of Sanskrit Literature* (London, 1905) p. 6.

४. '*What is the Veda*' (Chips from a German Workshop, Vol I, 1868)

५. 'To the latter (Greek literature) it is, as a source for the study of human evolution, even superior'. *History of Sanskrit Literature*. p. 6.

है। देवताख्यान और धर्म की दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन स्वाभाविक भी था, क्योंकि ऋग्वेद प्रधान रूप से धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है, जिसमें विभिन्न देवों की स्तुतियाँ संकलित की गई हैं, लेकिन ऋग्वेद में धर्म के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सामग्री का भी अभाव नहीं है। ऋग्वेद में ऐसी सामग्री की भी प्रचुरता है जिससे ऋग्वैदिक आर्यों के दैनिक जीवन तथा सामाजिक प्रथाओं के विषय में भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसलिये अनेक विद्वानों ने ऋग्वेद का सांस्कृतिक दृष्टि से भी अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में जिमर (Zimmer) का आल्टइण्डिशन लेबन (*Altindischen Leben*) नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें चारों संहिताओं के आधार पर प्राचीन आर्यों के जीवन के अनेकविध चित्र निरूपित किये गये हैं। डा० जे० म्यूर (*Original Sanskrit Texts*, 5 vols), प्रो० मैक्डानल और कीथ (*Vedic Index of Names and Subjects*, 2 vols), प्रो० केगी (*Life in Ancient India*), रागोजिन (*Vedic India*) ने भी वैदिक आर्यों की सामाजिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत तथा प्राचीन भारतीय साहित्य सम्बन्धी विषयों पर लिखी हुई इतिहास की पुस्तकों में भी प्राचीन भारतीयों के सामाजिक संगठन का निरूपण किया गया हैं। इन विद्वानों ने वैदिक आर्यों की सामाजिक परिस्थिति के चित्रण में उनके पारिवारिक संगठन की भी झाँकी दी है।[1] लेकिन ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में परिवार-सम्बन्धी सामग्री की इतनी अधिकता है कि वैदिक आर्यों के पारिवारिक संगठन तथा पारिवारिक प्रथाओं के विस्तृत ज्ञान के लिए वैदिक साहित्य का केवल उसी लक्ष्य को सामने रखकर उसी दृष्टिकोण से विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

कुछ विद्वानों ने प्राचीन भारतीयों के पारिवारिक संगठन के अध्ययन की दृष्टि से भी प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन किया है। इनमें से मुख्य निम्न हैं :—

(१) इस दिशा में कदाचित् डेलब्रूक का सर्वप्रथम प्रयास है। डेलब्रूक ने

---

१. डा० जे० म्यूर ने (*Original Sanskrit Texts*, vol 5 में) एक अध्याय में ऋग्वैदिक परिवार के विषय में प्रकाश डाला है। 'वैदिक इण्डैक्स' में पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक पदों का विवेचन करते हुए सम्बन्धियों के अधिकार और कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है। इसी प्रकार केगी और रागोजिन के उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थों में आर्यों के पारिवारिक जीवन के विषय में कुछ प्रकाश डाला गया है।

'Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen' शीर्षक के अन्तर्गत एक लेख में इण्डो-यूरोपीय पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक पदों का विश्लेषण करते हुए ऋग्वेद से लेकर महाभारत पर्यन्त के भारतीय साहित्य में पाए जाने वाले सम्बन्धवाचक पदों का विवेचन किया है। यह लेख सन् १८८९ ई० में *Abhandlungen der Sachsischen Gesellschaft der Wissenschaften*, vol XI No. 5 में प्रकाशित हुआ था।

(२) डा० एस० सी० सरकार *(Some Aspects of the Earliest Social History of India)* ने वैदिक साहित्य तथा पुराणों के आधार पर प्राचीन भारतीयों की कुछ पारिवारिक प्रथाओं पर प्रकाश डाला है।[1]

(३) डा० इरावती कार्वे ने ऋग्वेद तथा अथर्ववेद को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाकर वैदिक आर्यों के पारिवारिक संगठन का अध्ययन किया है।[2]

वैदिक आर्यों के पारिवारिक संगठन के ज्ञान की वृद्धि में उक्त तीनों विद्वानों का प्रयत्न स्तुत्य है। परन्तु इन तीनों ही विद्वानों के अध्ययन का क्षेत्र इस प्रस्तुत अध्ययन के क्षेत्र से एक दृष्टि से व्यापक और दूसरी दृष्टि से सीमित है। डेलब्रूक के अध्ययन का क्षेत्र इण्डो-यूरोपीय जातियों का सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य और प्राचीन भारतीय साहित्य में भी ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक विस्तृत है, दूसरी ओर उसने अपने अध्ययन को केवल सम्बन्धवाचक पदों के विवेचन तक सीमित रखा है। डा० एस० सी० सरकार ने भी एक ओर अपने अध्ययन के क्षेत्र को ऋग्वेद से लेकर महाभारत और पुराणों तक विस्तृत रखा है और पारिवारिक प्रथाओं के अतिरिक्त प्राचीन भारत में वास्तु-निर्माण, गृह-उपकरण (furniture), वेष और भूषा का भी विवेचन किया है, दूसरी ओर उनका अध्ययन परिवार के सदस्यों के मध्य यौन-सम्बन्ध तथा समाज में नारी की स्थिति के विवेचन तक ही सीमित रह गया है। डा० सरकार ने अपने २२५ पृष्ठ के निबन्ध में केवल ३९ पृष्ठ वैदिक काल की सामाजिक प्रथाओं के विवेचन में लगाये हैं। इसी प्रकार डा० इरावती कार्वे

---

१. डा० सरकार की यह पुस्तक आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० डिग्री के लिये स्वीकृत और एफ० ई० पार्जिटर (F. E. Pargiter) की देख-रेख में तैयार किया गया एक शोध-प्रबन्ध है, जो सन् १९२८ में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ था।

२. डा० इरावती कार्वे का यह अध्ययन *Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute,* Vol XX, 1939 में प्रकाशित तीन लेखों में सन्निहित है।

के अध्ययन का क्षेत्र एक ओर ऋग्वेद और अथर्ववेद तक विस्तृत है और दूसरी ओर ऋग्वेद और अथर्ववेद में पाए जाने वाले सम्बन्धवाचक पदों तथा परिवार के स स्यों के मध्य यौन-सम्बन्धों के विवेचन तक सीमित है। डा० इरावती कार्वे ने भी ऋग्वेद में उपलब्ध परिवार-सम्बन्धी सामग्री का पूर्ण उपयोग नहीं किया है। फिर डा० एस० सी० सरकार और ड० इरावती कार्वे ने ऋग्वैदिक आर्यों के पारिवारिक संगठन तथा सम्बन्धियों के पारस्परिक व्यवहार का जो चित्र निरूपित किया है, वह पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता है। इसका एक कारण यह भी है कि उन विद्वानों ने ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री का पूरा पूरा उपयोग नहीं किया। इसलिये ऋग्वेदकालीन पारिवारिक संस्था के संगठन के परिपूर्ण एवं स्पष्ट चित्र के ग्रहण के लिए ऋग्वेद के अधिक विस्तृत अध्ययन की अभी भी उतनी ही अपेक्षा है, जितनी कि ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन के प्रारम्भिक काल में थी। क्योंकि जिन किन्हीं विद्वानों ने ऋग्वेद का गहन अध्ययन किया है, उन्होंने इस विषय को केवल गौगरूप से ही लिया है। लेकिन मानव जाति के सांस्कृतिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि मुख्य रूप से आर्यों की परिवार-संस्था के अध्ययन को लक्ष्य में रखकर ऋग्वेद का अध्ययन किया जाये। प्रस्तुत अध्ययन उसी दिशा में एक प्रयत्न है।

प्रस्तुत अध्ययन में ऋग्वेद में उपलब्ध परिवार-सम्बन्धी प्रत्येक सामग्री का उपयोग करके तत्कालीन परिवार संस्था के संगठन का परिपूर्ण चित्र तथा उस संगठन में स्वीकृत सम्बन्धों से उत्पन्न कर्त्तव्यों तथा अधिकारों की पूर्ण विवेचना करके ऋग्वेद के अध्ययन से परिलक्षित होने वाले पारिवारिक सम्बन्धों के विकास एवं परिवर्तन के सम्भावित कारणों पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में ऋग्वैदिक आर्यों की पारिवारिक संस्था के संगठन तथा सम्बन्धों के अधिकार और कर्तव्यों के विषय में जो परिणाम निकाले गये हैं, चाहे वे सब विद्वानों को अन्तिम रूप से मान्य न हों, परन्तु इस अध्ययन में ऋग्वेद में उपलब्ध परिवार सम्बन्धी सामग्री को पूर्ण रूप से संकलित कर दिया गया है, इसलिये यह अध्ययन प्राचीन तथा वर्तमान भारतीय समाज का अध्ययन करने की इच्छा वाले समाज-विज्ञान-शास्त्रियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

ऋग्वेद में इण्डो-यूरोपीय-भाषा-भाषी जातियों के एक भाग के सामाजिक विकास-क्रम की जो विशिष्ट अवस्था परिलक्षित होती है, वह अवस्था उनके भारतवर्ष में प्रवेश से पहले ही समाज-विकास-क्रम की विभिन्न आरम्भिक

दशाओं को पार करके प्राप्त हुई है। इसलिए ऋग्वैदिक आर्यों की ऋग्वेद में परिलक्षित होने वाली अवस्था का समुचित मूल्याङ्कन परिवार-संस्था के विकास-क्रम के सर्वमान्य सिद्धान्तों तथा उनकी इण्डो-यूरोपीय तथा इण्डो-ईरानी काल की पारिवारिक संस्थाओं के प्रकाश में ही हो सकेगा। अतः मुख्य विषय की पृष्ठभूमि के रूप में प्रारम्भ के तीन अध्याय प्रस्तुत किए गये हैं, जिनमें परिवार-संस्था के उद्भव और विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं परम्पराओं पर समाज-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान की सहायता से प्रकाश डालकर मुख्य विषय से सम्बद्ध निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए आधार की स्थापना की गई है।

अध्याय १

परिवार का स्वरूप—वैज्ञानिक विवेचन

१. 'परिवार' का अर्थ

'परिवार' (family) शब्द सामान्य व्यवहार में प्रचलित है और साथ ही इसे मानव-विज्ञान (Anthropology) में भी विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसलिये 'परिवार' शब्द के प्रयोग के विषय में अत्यन्त अव्यवस्था दिखाई देती है; वस्तुतः सामान्य व्यावहारिक भाषा तथा विज्ञान दोनों में प्रयुक्त होने वाले प्रायः प्रत्येक शब्द के विषय में यह बात लागू है। इसलिये परिवार संस्था के विषय में विचार करने से पूर्व 'परिवार' शब्द की व्याख्या एवम् उसके भिन्न भिन्न प्रयोगों की विवेचना करना आवश्यक है।

परिवार के लिए प्रचलित अंग्रेजी भाषा का 'family', जर्मन भाषा का 'Familie', फ्रेंच भाषा का 'Famille' आदि शब्द रोमन लॉ (Roman Law) में व्यवहृत 'Famulus' (बहुवचन famuli) से सम्बद्ध हैं। लेटिन भाषा में 'famulus' का अर्थ दास होता है। प्रारम्भ में Patera familia का अर्थ 'दासों या सेवकों का अधिपति' था और रोमन लॉ में patria potestas (पिता के अधिकारों) के अनुसार patera (अधिपति, पिता) को दासों के जीवन और मरण पर भी अधिकार था। Familia में patera के स्त्री और बच्चे भी सम्मिलित किये जाते थे और उनका जीवन भी patera के अधीन-वर्ती अन्य दासों के समान ही अधिपति की कृपा पर निर्भर रहता था। लेकिन आजकल यूरोप की अनेक भाषाओं में 'familia' से सम्बद्ध शब्दों से जिस सामाजिक समूह (social group) का बोध होता है, उसमें केवल कोई पुरुष, उसकी स्त्री, बच्चे तथा रक्त से सम्बन्ध रखने वाले पहली और पिछली पीढ़ी के अन्य व्यक्ति अर्थात् पिता और पौत्र आदि सम्मिलित होते हैं; इसमें सेवकों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि आधुनिक भारतीम आर्य भाषाओं (हिन्दी, मराठी, गुजराती और बंगला) में कुटुम्ब (family) के लिए प्रचलित 'परिवार' शब्द के अर्थ का विकास भी अपने वर्तमान अर्थ (अर्थात् कुटुम्ब के अर्थ) में लगभग 'family' शब्द के अर्थ के विकास के सदृश ही हुआ है। आधुनिक आर्य भाषाओं में 'परिवार' शब्द संस्कृत भाषा से लिया हुआ 'तत्सम' शब्द है। 'परिवार'

शब्द 'परि' उपसर्गपूर्वक 'वृ' घेरना अर्थ की धातु से निष्पन्न है, इसलिए 'परिवार' का शाब्दिक अर्थ 'घेरने वाला' है। संस्कृत में परिवार का प्रयोग अनुयायी वर्ग,[1] सेवक वर्ग,[2] राजा के अधीन कार्य करने वाला अधिकारी वर्ग[3] आदि अर्थों में हुआ है। बहुत कम लोगों का ध्यान इस ओर गया है कि संस्कृत भाषा में 'परिवार' शब्द कुटुम्ब के अर्थ में नहीं पाया जाता। कुटुम्ब के अर्थ में 'परिवार' शब्द का प्रयोग केवल आधुनिक आर्य भाषाओं में ही पाया जाता है। इस प्रकार 'family' शब्द के समान ही 'परिवार' शब्द का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कुटुम्ब के अर्थ में अर्थ-विकास एक रोचक और महत्त्वपूर्ण घटना है, जो कि आकस्मिक नहीं हो सकती। उसका बीज यूरोपीय और भारतीय समाज के मूलभूत इण्डो-यूरोपीय समाज में अवश्य रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आर्य भाषाओं में कुटुम्ब के लिए 'परिवार' शब्द का प्रयोग इस सादृश्य के आधार पर होने लगा है कि जिस प्रकार प्रमुख राजा को सामन्त तथा परिचारक घेरे रहते थे और राजा उनका शासन करता था तथा उनका, विशेषतः परिचारकों का, पालन-पोषण करता था, इसी प्रकार घर में एक प्रधान पुरुष के आश्रय में रहने वाले जो स्त्री, बच्चे तथा दास आदि रहते थे, वे सब प्रधान पुरुष के परिवार—अधीन, आश्रित या सहायक—होते थे। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि 'परिवार' शब्द के आधुनिक अर्थ में दास या सेवक सम्मिलित नहीं किये जाते हैं।

२. परिवार और तत्सदृश अर्थों में प्रयुक्त शब्द

भारतीय आर्य भाषाओं में कुटुम्ब के अर्थ में 'परिवार' शब्द का प्रयोग प्राचीन नहीं है। संहिताओं तथा ब्राह्मणों के काल में कुटुम्ब अर्थ में 'कुल' शब्द का प्रयोग होता था। 'कुल' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक बार ही हुआ है और वह भी समासयुक्त पद में।[4] शतपथब्राह्मण तथा उत्तर-

---

१. पञ्चतन्त्र के मित्रसंप्राप्ति तन्त्र में चित्रग्रीव नामक कपोत-राज को 'कपोत-सहस्रपरिवारः' सन्धिविग्रहतन्त्र में वायसराज को 'काकसहस्रपरिवारः' और उलूकराज को 'उलूकसहस्रपरिवारः' कहा गया है। इन स्थानों में 'परिवार' का अर्थ अनुयायी प्रतीत होता है।

२. मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि। रघुवंश ६, १०।

३. प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम्।
कुर्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारं महीपतिः॥ कामन्दकीयनीतिसार ४,१०।

४. परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्।
ऋक् १०, १७९, २।

वर्ती वैदिक ग्रन्थों में अकेले 'कुल' शब्द का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।[1] 'कुल' शब्द का अर्थ 'घर' 'वासस्थान' है; उसमें रहने वाले लोगों का समूह भी लाक्षणिक रूप से 'कुल' कहलाता है।[2] छान्दोग्य उपनिषद्[3] में तथा आगे 'गोत्र' शब्द का भी कुटुम्ब अथवा कबीले के अर्थ में प्रयोग हुआ है, परन्तु 'गोत्र' शब्द का 'कुल' शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग होता था।[4] 'गोत्र' से अभिप्राय उन लोगों का होता था और अब भी होता है, जिनमें परस्पर कोई रक्त-सम्बन्ध होता था अथवा स्थापित किया जा सकता था और जिनके लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे एक घर या एक स्थान पर ही रहते हों, जबकि 'कुल' शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिये किया जाता था, जिनमें निश्चित रूप से रक्त-सम्बन्ध होता था और जो एक ही घर में रहते थे। एक घर में रहने वाले और निश्चित रूप से रक्त से सम्बद्ध व्यक्तियों के लिये समष्टि अर्थ में 'कुल' शब्द व्यवहृत होता था और व्यष्टि अर्थ में उन्हें 'गृह्य'[5] (घर में रहने वाले) शब्द से निर्दिष्ट किया जाता था। कुल के समान ही कुटुम्ब के लिये 'अमात्य' शब्द का भी व्यवहार किया गया है।[6] अमात्य शब्द का प्रयोग समष्टि[7] और व्यष्टि[8] दोनों अर्थों में पाया जाता है। ऋग्वेद में 'जन्मन्'[9] और 'धामन्'[10] शब्दों का भी

१. शत० ब्रा० १,१,२,२२; २,१,४,४; ४,१,१४; ६,५,३,११; ८, १, ३; १३,४,२,१७; बृहदा० उप० १,५,३२; छान्दो० उप० ३,१३,६, आदि।
२. देखिये, *Vedic Index*, 1, 171, 'कुल, कुलपा'।
३. ४,४,१।
४. ऋग्वेद में 'गोत्र' का अर्थ 'गायों का स्थान' (cow-stall) अथवा 'गायों का समूह' है। कालान्तर में समूह अर्थ से कुटुम्ब अर्थ का विकास हो गया है।
५. शत० ब्रा० २,५,२,१४; ३,१६; ६,२,४; ३,४,१,६; १२,४,१,४।
६. लौकिक संस्कृत में 'अमात्य' का अर्थ 'राजा का मन्त्री' है। लौकिक संस्कृत में राजा के मन्त्री के लिए 'अमात्य' शब्द के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि पहले राजा का मन्त्री उसके अपने कुल का ही कोई व्यक्ति होता था।
७. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान्पात्वंहसः॥

ऋक् ७,१५,३।

८. वा० सं० ५,२३; आश्व० गृ० सू० ४,२,६; कात्या० श्रौ० सू० २१,३,७।
९. ऋक् २,२६,३; ३,१,२०।
१०. ऋक् ८,१०१,६; ६,६३,१४; १०,८२,३; *Vedic Index*, 1, 399.

परिवार के अर्थ में प्रयोग हुआ प्रतीत होता है।

कुटुम्ब के अर्थ में प्रयोग होने वाला एक अन्य शब्द 'वंश' भी है। ऋग्वेद में भी वंश शब्द का प्रयोग हुआ है,[1] लेकिन वहाँ 'वंश' का अर्थ बाँस है। शतपथब्राह्मण[2] में 'वंश' शब्द का गुरु-शिष्य-परम्परा के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[3] वैदिक ग्रन्थों में रक्त-सम्बन्धियों के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता, लेकिन लौकिक संस्कृत में 'कुल' के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।[4] ऐसा ही एक अन्य शब्द 'अन्वय'[5] अथवा 'अन्ववाय'[6] है। 'अन्वय' अथवा 'अन्ववाय' शब्द का धात्वर्थ 'अनुगमन करना या करने वाला' है, इसी से इन शब्दों का व्यवहार 'कुल' के अर्थ में भी होता है। ऋग्वेद में इन शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता। इन शब्दों का भी लौकिक संस्कृत में आकर ही कुटुम्ब के अर्थों में प्रयोग हुआ है।

छान्दोग्योपनिषद्[7] और उससे आगे परिवार के अर्थ में 'कुटुम्ब' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। किसी पुरुष के आश्रित रहने वाले व्यक्तियों का समूह उसका कुटुम्ब कहा जाता था और वह पुरुष 'कुटुम्बिन्'[8] और उसकी स्त्री 'कुटुम्बिनी'[9] कहलाती थी। किसी कुटुम्ब के सदस्य भी परस्पर एक दूसरे के 'कुटुम्बिन्' कहलाते थे।[10]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि अंग्रेजी में 'family' अथवा हिन्दी में 'परिवार' शब्द से जिस सामाजिक संस्था का बोध होता है, उसके लिए

---

१. ऋक् १, १०, १।
२. १०, ६, ५, ९।
३. गुरु-शिष्य-परम्परा के लिए 'वंश' शब्द का प्रयोग 'बाँस' के पर्वों की परम्परा के सादृश्य से होने लगा होगा।
४. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। रघुवंश १, २।
५. रघुणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। रघु० १, ९।
६. महासुरस्यान्ववाये हिरण्यकशिपोः। सुन्दोपसुन्दोपाख्यान १, २, (बॉप द्वारा सम्पादित), (सेण्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन में उद्धृत)।
७. छान्दो० उप० ८, १५।
८. मनु० ३, ८०; याज्ञ० २, ४५;, मृच्छकटिक १, ४८ (आर० डी० कर्मारकर द्वारा सम्पादित, १९३७)।
९. अमरकोश २, ६, १; ६, २३; मुद्रा० १, ४ के बाद।
१०. यस्यैते हि कुटुम्बिनः। शान्तिशतक ४, ९।

ऋग्वेद में 'कुल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। लेकिन आजकल हिन्दी भाषा में परिवार शब्द ही अधिक प्रचलित है, इसलिए आगे सब जगह कुटुम्ब के अर्थ में अन्य शब्दों का प्रयोग न करके 'परिवार' शब्द का ही प्रयोग किया जायेगा।

३. परिवार के चार प्रकार

डा० रिवर्स[५] ने विभिन्न देशों तथा समाजों में 'family' अर्थात् 'परिवार' शब्द से परिलक्षित किये जाने वाले सामाजिक समूहों की प्रकृति का विश्लेषण करते हुये उन्हें चार प्रकारों में विभक्त किया है और सब प्रकार के परिवारों का उन्हीं चार वर्गों में समावेश हो जाता है। परिवारों के चार प्रकार ये हैं—(१) जीव-शास्त्रीय अथवा एकाकी परिवार (biological or single family) अर्थात् केवल पति-पत्नी और उनकी सन्तान का परिवार; (२) माता-पिता और केवल पिता के सम्बन्धियों का परिवार; (३) माता और केवल माता के सम्बन्धियों का परिवार और (४) माता-पिता तथा उन दोनों के सम्बन्धियों का परिवार।

(१) पहले प्रकार के परिवार में स्त्री और पुरुष का युगल अपनी सन्तान के साथ रहता है। इस प्रकार के परिवार में स्त्री अथवा पुरुष के माता-पिता और उनकी अपनी सन्तान की सन्तान सम्मिलित नहीं होती। इस प्रकार के परिवार को biological अर्थात् 'जीव-शास्त्रीय' इसलिये कहा जाता है कि इसमें केवल वे ही व्यक्ति शामिल किये जाते हैं जिनका प्रजनन से सीधा सम्बन्ध होता है और क्योंकि ऐसे परिवार में प्रजनन क्रिया से सम्बद्ध केवल एक युगल होता है इसलिए इसे एकाकी परिवार भी कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में विवाहित स्त्री और पुरुष का केवल एक युगल होता है और जब इस युगल की सन्तान विवाह योग्य हो जाती है तो वह अपने जन्म के परिवार को छोड़कर नया परिवार बना लेती है। यूरोपीय देशों में जिनकी अर्थ-व्यवस्था विशाल उद्योगों पर निर्भर है, family शब्द का प्रयोग प्रायः इसी प्रकार के परिवार के लिये होता है।

(२) दूसरे प्रकार के परिवार में ऐसे सभी पुरुष, उनकी पत्नियाँ, उनकी विवाहित अथवा अविवाहित पुरुष सन्तान, अविवाहित स्त्री सन्तान तथा विवाहित पुरुष सन्तान की सन्तानादि सम्मिलित किये जाते हैं जिनका किसी एक मूल पुरुष से सम्बन्ध होता है। ऐसे परिवार में प्रायः पितामह, पिता

---

५. *Social Organization*, P. 15.

अथवा बड़ा भाई प्रधान पुरुष होता है। वही घर की चल तथा अचल सम्पत्ति का स्वामी होता है और उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार सर्वप्रथम उसके पुत्रों को पहुँचता है। ऐसे परिवारों का प्रचलन उत्तरी भारत में पाया जाता है। ऐसे परिवारों को आजकल संयुक्त परिवार (अंग्रेजी में joint family अथवा जर्मन में gross Familie) कहा जाता है। पहले इस प्रकार के बड़े परिवार यूरोप के देशों में भी होते थे, लेकिन औद्योगिक क्रान्ति ने वहाँ ऐसे परिवारों को धीरे-धीरे नष्ट कर दिया है।

(३) तीसरे प्रकार के परिवार में ऐसे व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं, जो किसी एक स्त्री पूर्वज द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं। ऐसे परिवार की केन्द्र माता होती है और वंशानुक्रम तथा उत्तराधिकार का आधार नारी मानी जाती है। ऐसे परिवार में किसी स्त्री की सन्तान, उसकी स्त्री सन्तानों की सन्तान सम्मिलित होती है, लेकिन पुरुष सन्तान की सन्तान सम्मिलित नहीं होती। इस प्रकार का परिवार भी एक प्रकार का 'संयुक्त परिवार' होता है जिसमें वंशानुक्रम, दाय तथा उत्तराधिकार का निश्चय माता से होता है, पिता से नहीं।[१] भारतवर्ष में ऐसे परिवार दक्षिण में मलाबार की नायर और थिया जातियों में तथा पूर्व में आसाम की खासी, सिनतेंग तथा गारो आदि जातियों में पाये जाते हैं।

(४) चौथे प्रकार के परिवार में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित किए जाते हैं जिनका माता और पिता दोनों मूल पूर्वजों से वंश-परम्परागत (genealogical) सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। ऐसे परिवार में केवल वे व्यक्ति सम्मिलित नहीं किये जाते, जो विवाह सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार का परिवार सोलोमन द्वीप समूह के पश्चिमी भाग एडिस्टन द्वीप (Eddystone Island) में पाया जाता है। वहाँ की भाषा में ऐसे परिवार को 'तविति' (tawiti) कहा जाता है।[२] वहाँ किस स्त्री से विवाह किया जाय, इस बात का निश्चय 'तविति' के माध्यम से किया जाता है। कोई पुरुष केवल अपनी 'तविति' के बाहर की स्त्री से विवाह कर सकता है। वहाँ वंशावली प्रायः चार पीढ़ियों तक सुरक्षित रखी जाती है[३], इसलिए किसी व्यक्ति की 'तविति' में वे सब व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं जिनका

१. मलाबार में ऐसे संयुक्त परिवार को 'तरवाड' कहते हैं।

२. Rivers, W. H. R. : *Social Organization*, P. 13.

३. वही।

उसके माता और पिता दोनों की तीसरी पीढ़ी तक के व्यक्तियों से वंशपरम्परा का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के परिवार की प्रथा जिसमें माता और पिता दोनों से सम्बद्ध व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है, अत्यन्त विरल है।[१]

इन चारों प्रकार के सामाजिक समूहों की प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होने के कारण उन्हें सामान्य 'परिवार' नाम देना भ्रामक है। इसलिये विभिन्न समाज-शास्त्रियों एवं मानव-विज्ञान-शास्त्रियों ने परिवारों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है।

४. परिवार का मूल आधार

परिवार संस्था का मूल आधार यौन-भावना तथा मातृ-पितृ-भावना हैं। इन्हीं दो भावनाओं के सहारे सारी परिवार-संस्था की रचना हुई है।[२] इन दोनों भावनाओं के उचित अथवा अनुचित संगठन तथा संचालन से व्यक्ति में गुण अथवा अवगुण की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए किसी समाज के सुसंगठन के लिये यह आवश्यक तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि इन दोनों भावनाओं का इस प्रकार संचालन किया जाये कि उनसे समाज का हित-साधन हो सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समाज नैतिक तथा धार्मिक नियमों एवम् रीति-रिवाजों द्वारा इन पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करता है।

परिवार से सम्बद्ध इन दो मूल भावनाओं से ही अन्य सामाजिक गुणों—परोपकार, दया, समवेदना, आत्मत्याग आदि—का विकास हुआ है। इसी प्रकार इन्हें ईर्ष्या, द्वेष, एकाधिकार की भावना आदि अवगुणों का कारण भी माना जा सकता है। मैक्डौगल (McDougall) का कथन है कि 'यद्यपि प्रजनन की भावना एक प्रकार से समाज-विरोधी भावना हैं, फिर भी समाज के लिये इसका कितना महत्त्व है यह प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि यदि किसी समाज में से यह भावना पूर्णरूप से नष्ट हो जाये तो बहुत शीघ्र ही वह समाज पृथिवी-तल से लुप्त हो जायेगा।"[३]

---

१. पहले इस प्रकार के परिवार की प्रथा उत्तरी यूरोप में भी पाई जाती थी। (वही, पृष्ठ १४)।

२. देखिये, Ellwcod : *Sociology in its Psychological Aspects*, P. 213 ff.

३. "The reproductive instinct is in a sense anti-social. Nevertheless its importance for society needs no demonstration; for

मनुष्य जाति में प्रजनन और मातृ-पितृत्व की भावनायें परस्पर सम्बद्ध हैं। मनुष्य को कार्य करने की जितनी प्रेरणा इन दोनों भावनाओं से मिलती है उतनी कदाचित् सब मिलाकर भी अन्य भावनाओं से नहीं मिलती।[१] मातृ-पितृत्व की भावना मनुष्य को अपनी सन्तान के सुचारु पालन-पोषण एवं शिक्षण के निमित्त अपने सुख-दुःख की परवाह न करके और संकुचित स्वार्थों को त्याग कर अथक परिश्रम करने के लिये प्रेरित करती है। किर्कपैट्रिक (Kirkpatrick) का विचार है कि सामाजिक भावनायें केवल मातृ-पितृत्व भावना का विस्तार मात्र हैं।[२]

५. परिवार के विकास के वैज्ञानिक कारण

मानव-विज्ञान-शास्त्रियों ने मनुष्य की पारिवारिक अवस्था के विकास की अन्य प्राणियों के साथ तुलना की है। गिरोह बनाकर रहने वाले प्राणियों में ऋतुकाल में एक नर और एक मादा स्वाभाविक मनोराग (instinct) से प्रेरित होकर गिरोह से अलग होकर एक साथ रहते हैं। दोनों मिलकर किसी सुरक्षित स्थान की खोज करते हैं। जब तक मादा प्रसव के बाद अशक्त रहती है तब तक नर उसकी देखभाल करता है और उसके लिये भोजन जुटाता है तथा बच्चों की रक्षा करता है। जब तक स्वयं बच्चे अपना भोजन प्राप्त करने में सशक्त नहीं हो जाते, तब तक नर-मादा का वह जोड़ा एक साथ रहता है और बच्चों की देखभाल करता है। बच्चों के समर्थ हो जाने पर वह नर-मादा का जोड़ा उन्हें छोड़ देता है, और स्वयं भी एकान्तवास छोड़कर अपने गिरोह में सम्मिलित हो जाता है। अगले ऋतुकाल में वही नर-मादा का जोड़ा मिले, यह आवश्यक नहीं होता। कोई भी नर और मादा एक दूसरे को अपना साथी बना लेते हैं। यौन-सम्बन्ध की इस अवस्था को जिसमें सम्बन्ध केवल कुछ समय के लिये होता है, तथा जिसमें साथी चुनने के विषय में कोई नियम नहीं होता है, अनियमित-यौनावस्था या कामाचार (promiscuity) कहते हैं। मॉर्गन (Morgan) तथा उसके अनुयायी मानव-विज्ञान-शास्त्रियों का कथन है कि मनुष्य जाति अपने सांस्कृतिक विकास की ऐसी अवस्था में से गुजर चुकी

---

it is clear that if it could be abolished in any people, that people would very soon disappear from the face of the earth."

(*An Introduction to Social Psychology*, p. 229).

१. वही, पृ० २३१।

२. Kirkpatrick : *Fundamentals of Child Study*. p. 113.

है कि जब उसमें पशु-पक्षियों के समान यौन-सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले कोई नियम न थे और उस समय परिवार जैसी कोई संस्था नहीं थी। लेकिन जैसे जैसे मनुष्य जाति ने पृथिवी तल पर परिस्थितियों के अनुसार आर्थिक उन्नति की और सम्पत्ति संचित करनी प्रारम्भ की, वैसे ही परिवार के रूप में सामाजिक वर्ग की स्थापना हुई। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि संसार भर में फैली हुई मनुष्य जाति ने सब स्थानों पर एक समान उन्नति नहीं की है। कहीं उन्नति तीव्र गति से हुई है और कहीं अति मन्द गति से। यही कारण है कि जहाँ एक ओर यूरोपीय जातियों में अब 'परिवार' से एक-पत्नी-प्रथा पर आधारित एक बहुत छोटे समुदाय का अभिप्राय होता है, वहाँ दूसरी ओर अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका के कुछ आदिम निवासियों में 'परिवार' से एक बहुत बड़े समुदाय का अभिप्राय होता है।

मनुष्य की सन्तान अन्य प्राणियों की सन्तान की अपेक्षा अधिक समय तक निर्बल और माता पिता पर आश्रित रहती है। मनुष्य स्त्री अन्य प्राणियों की स्त्री की अपेक्षा प्रसव के बाद अधिक समय तक अशक्त रहती है और अधिक देखभाल की अपेक्षा रखती है। पशु-पक्षियों की सन्तान अल्प समय में ही घूमने फिरने लगती है, माता का दूध पीना छोड़ देती है और अपना भोजन स्वयं खोज लेती है। उसे अपना भोजन प्राप्त करने की शिक्षा लेने में अधिक समय नहीं लगता है, इसलिये मनुष्य जाति के समान पशु जाति में परिवार की भावना उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत मनुष्य की सन्तान पर्याप्त समय तक माता के दूध पर आश्रित रहती है, उसमें घूमने फिरने की क्षमता बहुत देर में आती है और अपनी जीवन-वृत्ति चलाने के लिये दीर्घ समय तक शिक्षा लेनी पड़ती है। पशु-पक्षियों का अपनी सन्तान के प्रति किया जाने वाला व्यवहार केवल मनोरागों से प्रेरित होता है, लेकिन मनुष्य का अपनी सन्तान के प्रति व्यवहार केवल मनोराग (instinct) से प्रेरित न होकर स्नेह आदि मनोभावों से प्रेरित होता है। इसलिये जब कि मनोराग की अस्थायिता के कारण पशु-पक्षियों में पारिवारिक सम्बन्धों की भावना उत्पन्न नहीं होती, मनुष्य जाति में पितृत्व तथा मातृत्व की भावना की स्थिरता के कारण पारिवारिक सम्बन्धों का स्वाभाविक रीति से विकास हो जाता है। पशु-पक्षियों में सन्तान के प्रति लगाव केवल मादा में होता है और मादा के मर जाने पर सन्तान केवल अपने भाग्य पर छोड़ दी जाती है। लेकिन मनुष्य जाति में सन्तान का लगाव माता और पिता दोनों से होता है। माता और पिता की मृत्यु हो जाने पर सन्तान के पालन-पोषण का भार मातृपक्षीय और पितृपक्षीय

अन्य सम्बन्धियों को वहन करना होता है, इसलिये पशु जाति के विपरीत मनुष्य जाति में परिवार की केवल भावना ही नहीं उत्पन्न होती अपितु कर्त्तव्य और अधिकार के विभाजन के समानुपात में परिवार की सीमायें भी विस्तृत हो जाती हैं।

६. परिवार का महत्त्व

बच्चा परिवार में रहकर उन सब गुणों एवम् परम्पराओं को अनजाने में ही सीख लेता है जो किसी समाज के समुचित संचालन के लिये अपेक्षित होते हैं। परिवार में ही किसी व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण आदतें एवं प्रवृत्तियाँ बनती हैं। बच्चे के प्रजनन तथा पालन के अतिरिक्त किसी समाज की जीवन-प्रवृत्तियों के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण जो कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, परिवार ही करता है। सामाजिक इकाई के रूप में परिवार अपने समाज की युग-युगान्तरों से चली आने वाली परम्पराओं, भावनाओं एवं व्यवहारों को आत्मसात् कर लेता है और उन्हें अपने सदस्यों में संक्रमित कर देता है। परिवार में रहकर ही बच्चा बोलना सीखता है और उसके सीखने की प्रक्रिया में अपने परिवार से सम्बद्ध समाज की आधारभूत बातों, विश्वासों, संस्कारों तथा मान्यताओं को जान लेता है। इसलिये यह माना जा सकता है कि यदि परिवार स्थायी और सुसंगठित हो तो वह बच्चे की स्वाभाविक शक्ति तथा क्षमता के विकास के लिये उत्कृष्ट और स्वाभाविक वातावरण प्रस्तुत करता है। परिवार में रहकर बच्चा अपने माता-पिता, भाई-बहिनों तथा अन्य छोटे-बड़ों के साथ समुचित व्यवहार करना सीखता है। परिवार उसका जन्म-स्थान होने के साथ साथ प्रथम विद्या-स्थान भी होता है जहाँ वह अपने समाज के नैतिक आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करता है और उन गुणों को संचित करता है जो उसके जीवन में ओत-प्रोत हैं। परिवार ही एक ऐसा सामाजिक वर्ग है जिसमें मानव-व्यवहार के प्रजनन सम्बन्धी तथा समाज-मनोविज्ञान सम्बन्धी दोनों स्वरूपों का मिश्रण होता है। समाज-मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने बच्चों के विकास में परिवार के महत्त्व को स्वीकार किया है। परिवार में ही नैतिक आदर्शों का विकास होता है। प्रत्येक परिवार उस समाज की जिससे उस परिवार का सम्बन्ध होता है, संस्कृति के अनुरूप ही नैतिक आदर्शों की स्थापना करता है, लेकिन उनमें हर परिवार की अपनी-अपनी विशेषता की छाप अवश्य होती है जो कि एक परिवार के सदस्यों के आचार-विचार और

व्यवहार की दूसरे परिवार के सदस्यों के आचार और व्यवहार से तुलना करने से झलक जाती है। बच्चे के चरित्र-निर्माण में परिवार की स्थिति का सबसे बड़ा हाथ होता है। क्योंकि जीवन के प्रथम ३, ४ वर्षों में जब बच्चे की बुद्धि अतिकोमल और भावग्राहिणी होती है तब बच्चे पर परिवार का ही एकाधिकार होता है और युवा होने तक भी बच्चा सामाजिक व्यवहार और नैतिक आचार की शिक्षा अधिकतर परिवार में ही प्राप्त करता है। यदि कोई परिवार किसी अव्यवस्था के कारण अपने इस कार्य में असफल रह जाता है तो परिवार के बच्चे की भावनायें विकृत हो जाती हैं और जब वह बड़ा होता है तब वह या तो अपने आपको समाज से पृथक् पाता है अथवा समाज के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर देता है।

परिवार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य यह भी माना जाता है कि वह किसी समाज में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक व्यक्ति का उस समाज में विशिष्ट स्थान (status) निर्धारित करता है।[१] परिवार द्वारा समाज में किसी व्यक्ति के विशिष्ट स्थान के निर्धारण का अभिप्राय यह है कि यदि कोई समाज विशेष सुविधा प्राप्त वर्गों में विभक्त होता है तो किसी व्यक्ति के उस समाज के किसी परिवार में जन्म लेने मात्र से यह निश्चय हो जाता है कि वह समाज के किस वर्ग से सम्बद्ध होगा। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, वैश्य आदि जातियों में विभक्त भारतीय समाज में ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने मात्र से किसी व्यक्ति का ब्राह्मण होना निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार सामन्त और साधारण प्रजा इन दो वर्गों में विभक्त समाज में सामन्त परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति का 'सामन्त' पद निश्चित हो जाता है।

परिवार उसमें जन्म लेने वाले बच्चे का समाज में केवल स्थान (status) ही निर्धारित नहीं करता, अपितु यह भी निर्धारित करता है कि उसमें जन्म लेने वाले बच्चे के निकट घरेलू सम्बन्धी कौन होंगे।[२] सुमात्रा के पश्चिमीय तट की ओर स्थित मेण्टवाई (Mentawei) द्वीप समूह के सामाजिक संगठन में परिवार का यह कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वहाँ बच्चा अपने नाना के घर में जन्म लेता है और मामा उसका पालन करता है। जब तक उसका

१ Cf. Rivers, W. H. R. : *Social Organization*, p. 6; *Encyclopaedia of Social Sciences*, S. V. 'Family'.

२. 'But also determines all those intimates, though through their familiarity unobtrusive relations which are connected with the concept of home.' (Rivers, W. H. R. : *Social Organization*, p. 7).

विवाह नहीं हो जाता तब तक जन्मदाता पिता उसके पालन-पोषण का कोई उत्तरदायित्व वहन नहीं करता। जब बच्चा युवा हो जाता है तो जन्मदाता पिता उसके अपने ही बच्चे को 'गोद' लेता है और समाज में अन्तिम रूप से उसका स्थान निश्चित करता है। इसलिये मेण्टावाई के समाज में क्रियाशील सामाजिक वर्ग के रूप में परिवार में प्रायः नाना-नानी, उनके पुत्र-पुत्रियाँ और पुत्रियों के बच्चे होते हैं। वहाँ पति-पत्नियों के ऐसे भी बहुत से युगल होते हैं जिन्हें सामाजिक दृष्टि से 'परिवार' पद प्राप्त नहीं होता।[१]

७. परिवार की उत्पत्ति में विकासवादी सिद्धान्त

सभी समाज-विज्ञान-वेत्ता इस बात से सहमत हैं कि विकासवाद का सिद्धान्त जीव-विज्ञान की भाँति समाज-विज्ञान पर भी समान रूप से लागू होता है, अर्थात् कोई सामाजिक संस्था किसी पूर्ववर्ती संस्था में स्थायी परिवर्तन का परिणाम है। अतः परिवार संस्था भी विकासवाद के सिद्धान्त का अपवाद नहीं है।

परन्तु विकास की प्रक्रिया के विषय में विद्वानों में मत-भेद पाया जाता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि संसार भर में फैली हुई जातियों ने अपनी सामाजिक उन्नति की सब अवस्थायें समान रूप से पार की हैं और विकास की दिशा एक ही रही है। विकासवाद के इस सिद्धान्त को समरूपता (parallelism) अथवा एक-रूप-विकास (unilinear evolution) कहा गया है। दूसरे विद्वानों का विचार है कि विकास अनेक दिशाओं में हुआ है और भिन्न भिन्न क्षेत्रों में सामाजिक उन्नति का मार्ग पृथक् पृथक् रहा है। इस सिद्धान्त को अनेक-रूप-विकास (multi-linear evolution) कहा गया है।[२]

एक-रूप-विकास (unilinear evolution) के सिद्धान्त को मानने वाले विद्वानों में लुई एच० मॉर्गन (Lewis H. Morgan) तथा ई० बी० टाइलर (E. B. Tylor) के नाम उल्लेखनीय हैं। सामाजिक संस्थाओं के विकास के विषय में टाइलर (Tylor) ने समरूपता (parallelism) के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "जैसे यह पृथ्वी जिस पर मानव वास करता है विभिन्न परतों से निर्मित है, वैसे ही मानव की संस्थायें भी विभिन्न परतों से बनी हैं। वे समस्त भूमण्डल पर एक के पश्चात् दूसरी शृंखला रूप में लगभग एक समान आती हैं। वे भाषा और जाति के भेद से प्रभावित नहीं होतीं,

१. देखिये, *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. VI, p. 66.

२. देखिये, Lowie : *Social Organization*, p. 33.

क्योंकि उनका निर्माण जंगली[1], बर्बर और सभ्य जीवन की क्रमशः परिवर्तित अवस्थाओं में एक समान कार्य करने वाले मानव-स्वभाव से होता है।"[2]

लुई एच० मॉर्गन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *Ancient Society* में मानव जाति में परिवार और विवाह संस्था के विकास के क्रम का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार मनुष्य जाति में पारिवारिक संस्था के विकास का क्रम यह है :—

(१) मनुष्य जाति की आदिम अवस्था में यौन-सम्बन्धों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। किसी मानव-समुदाय का कोई भी पुरुष या स्त्री एक

---

१. मानव-विज्ञान-शास्त्रियों ने भौतिक और मानसिक विकास की दृष्टि से मनुष्य जाति के सांस्कृतिक जीवन की तीन अवस्थाओं—(१) जंगली अवस्था (savagery) (२) बर्बर अवस्था (barbarism) और (३) सभ्य अवस्था (civilization)—की कल्पना की है। मॉर्गन ने मनुष्य जाति की इन तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध भोजन-सामग्री की प्राप्ति और उसके उपकरणों से जोड़ा है। पहली दो अवस्थाओं को फिर तीन स्तरों में विभक्त किया जाता है। जंगली अवस्था के निम्न स्तर में वर्तमान मानव-समुदाय केवल प्रकृति-प्रदत्त भोजन सामग्री पर निर्भर रहता है। जंगली अवस्था के द्वितीय स्तर में वर्तमान मानव-समुदाय भोजन में मछली आदि जल-जन्तुओं का प्रयोग करने लगता है और वह अग्नि का प्रयोग भी सीख लेता है। जंगली अवस्था के तीसरे स्तर में वर्तमान मानव-समुदाय धनुष और बाण का प्रयोग करने लगता है और शिकार से प्राप्त भोजन-सामग्री उसका प्रधान आहार हो जाता है। किसी मानव-समुदाय का जंगली अवस्था से बर्बर अवस्था में संक्रमण मृत्तिका-पात्रों के आविष्कार से होता है। बर्बर अवस्था के द्वितीय स्तर में वर्तमान मानव-समुदाय भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार पशु-पालन और कृषि-कर्म करने लगता है और इस प्रकार भोजन-सामग्री का प्राचुर्य हो जाता है। बर्बर अवस्था के तृतीय स्तर में वर्तमान मानव-समुदाय धातु का प्रयोग जानने लगता है और जब कोई मानव-समुदाय वर्णात्मक लिपि का आविष्कार करके उसका साहित्यिक प्रयोजन के लिये उपयोग करने लगता है तो वह बर्बर अवस्था को पार करके सभ्य अवस्या में प्रवेश कर लेता है। सभ्य अवस्था को प्राप्त मानव समुदाय में आर्थिक उन्नति अतितीव्र गति से होती है। (देखिये, Engels, F : *Origin of Family, Private Property and the State*, pp. 20–25)

२. Lowie : *Social Organization*, p. 33 पर उद्धृत।

दूसरे से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था और इस सम्बन्ध के फलस्वरूप होने वाला बच्चा उस समुदाय का होता था; समुदाय मात्र से उसका एक-सा निकट सम्बन्ध होता था। इस अवस्था में परिवार तथा विवाह संस्था का जन्म नहीं हुआ था। मॉर्गन ने मनुष्य जाति की इस अवस्था को कामचार (promiscuity) कहा है।

(२) दूसरी अवस्था में किसी समुदाय में पहली और दूसरी पीढ़ी के स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध हो गया था और सगे तथा सपक्षीय भाई तथा बहिनों का परस्पर सामूहिक रूप में विवाह होता था। मॉर्गन ने ऐसे परिवार को सगोत्र-परिवार (consanguine family) नाम दिया है।

(३) अगली अवस्था में सगी या सपक्षीय बहिनों के समुदाय का सामूहिक रूप में कुछ पुरुषों के समुदाय के साथ विवाह होता था, जिनमें उनके अपने सगे भाई नहीं होते थे। इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध में आबद्ध समुदाय की प्रत्येक स्त्री उस समुदाय के प्रत्येक पुरुष की समान रूप से पत्नी होती थी, और उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष उस समुदाय की प्रत्येक स्त्री का समान रूप से पति होता था। लेकिन जिस प्रकार ऐसे विवाह-सम्बन्ध में आबद्ध समुदाय में पत्नियाँ परस्पर बहिनें होती थीं, उस प्रकार उस समुदाय के पति अनिवार्य रूप से परस्पर भाई नहीं होते थे, इसलिए पति परस्पर भाई न कहला कर 'पुनालुआ' (punalua) कहलाते थे। इसी प्रकार सगे या सपक्षीय भाइयों के समुदाय की कुछ स्त्रियाँ सामूहिक रूप से पत्नियाँ होतीं थीं जिनमें उनकी अपनी बहिनें नहीं होती थीं। ये पत्नियाँ भी आपस में 'पुनालुआ' कहलाती थीं। अतः मॉर्गन ने ऐसे परिवार को 'सखा-परिवार' (punaluan family) कहा है।

(४) मनुष्य-जाति में विवाह-संस्था के विकास की अग्रिम अवस्था वह है जबकि विवाह-योग्य समुदाय के दायरे से निकट सम्बन्धियों के निकल जाने से सामूहिक विवाह असम्भव हो गया और सामूहिक विवाह का स्थान व्यक्तिगत विवाह ने ले लिया। लेकिन विवाह की इस अवस्था में भी विवाह-सम्बन्ध में स्थिरता नहीं आई थी। विवाह-सम्बन्ध कोई-से भी पक्ष की इच्छा से टूट सकता था और दोनों पक्ष (स्त्री और पुरुष) समान रूप से अन्यत्र विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र थे। सम्बन्ध-विच्छेद होने पर बच्चे माता के ही होते थे। मॉर्गन ने इसे 'मिथुन-परिवार' (pairing family) कहा है।

(५) जब मनुष्य जाति ने पशु-पालन की कला में उन्नति करके स्थायी

सम्पत्ति बढ़ा ली और वह सम्पत्ति इतनी बढ़ गई कि समुदाय का अलग अलग परिवारों में बँट जाना स्वाभाविक हो गया तथा पशु-सम्पत्ति पर परिवार के प्रधान पुरुष का अधिकार माना जाने लगा, तब सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार के साथ ही स्थायी विवाह-सम्बन्ध का भी आविर्भाव हुआ। इस अवस्था में 'मिथुन परिवार' का स्थान एक-पति विवाह (monogamy) की स्थायी संस्था ने ले लिया। 'मिथुन-परिवार' में विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से था। लेकिन सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार के होते ही स्त्री की सामाजिक स्थिति हीन हो गई और इस अवस्था में विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद का अधिकार केवल पुरुष को ही रह गया।[१]

विकासवाद के समरूपता (parallelism) के सिद्धान्त के अनुसार भूमण्डल के विभिन्न मानव-समुदायों को अपने सांस्कृतिक विकास की अवस्था के अनुसार परिवार-संस्था के विकास-क्रम की इन सब अवस्थाओं को पार करना होता है। विवाह तथा परिवार संस्था की उपरिवर्णित प्रथम अवस्था (कामचार) और द्वितीय अवस्था (सगोत्र-परिवार) जंगली जीवन के निम्नतम स्तर में वर्तमान मानव-समुदायों में ही होती है और अब ये अवस्थायें किसी भी मानव-समुदाय में वर्तमान नहीं हैं। तृतीय अवस्था (सखा-परिवार) सगोत्र-परिवार और मिथुन-परिवार के मध्य की अवस्था है। चतुर्थ अवस्था (मिथुन-परिवार) जंगली और बर्बर जीवन की विभाजक सीमा पर आविर्भूत होती है। ऐसे परिवार बहुधा जंगली जीवन के तृतीय स्तर में पाये जाते हैं, लेकिन कभी कभी बर्बर जीवन की प्रथम अवस्था से पहिले इनका आविर्भाव नहीं होता।[२] पाँचवी अवस्था (एक-पति विवाह) बर्बर जीवन के द्वितीय तथा तृतीय स्तर के संक्रान्ति काल में आती है।[३]

इस प्रकार मॉर्गन के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जाति के विकास की जंगली अवस्था में सामूहिक विवाह की प्रथा थी। सामूहिक विवाह में प्रत्येक पुरुष की अनेक पत्नियाँ तथा प्रत्येक पत्नी के अनेक पति होते थे और ऐसे विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान के एक से अधिक माता-पिता होते थे।

१. Engels, F.: *Origin of the Family, Private Property and the State*, p. 62.

२. वही, पृष्ठ ५२।

३. वही, पृष्ठ ६१।

ऐसी दशा में जबकि किसी बच्चे के अनेक पिता हों यह निश्चय करना असम्भव है कि उसका जन्मदाता पिता कौन है; लेकिन जन्मदात्री माता का पूर्ण निश्चय रहता है। इसलिये बच्चे का स्वाभाविक रूप से माता से सम्बन्ध रहता था, पिता से नहीं। सामूहिक विवाह-प्रथा में बच्चे का वंशानुक्रम मातृपक्ष से ही निश्चित किया जा सकता है, पितृपक्ष से नहीं। इसलिये प्रत्येक देश में मनुष्य जाति के जंगली जीवन में तथा बर्बर जीवन की प्रथम अवस्था में मातृपक्षीय परिवारों की सत्ता रही है।

लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, बर्बर जीवन की द्वितीय अवस्था में पशु-पालन तथा कृषि द्वारा पारिवारिक सम्पत्ति में वृद्धि हो गई थी और परिवार में पुरुष की स्थिति स्त्री की अपेक्षा दृढ़ हो गई थी, साथ ही, पुरुष के हृदय में अपनी सन्तान के प्रति निकटता की भावना प्रबल हो चुकी थी, इसलिये उसने अपने परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति का अपनी सन्तान को अधिकारी बनाने का उपाय निकाल लिया और वह उपाय यह निर्णय था कि आगे से किसी समुदाय के पुरुष सदस्य की सन्तान उसी समुदाय में रहे और स्त्री सदस्य की सन्तान उसके पिता के समुदाय में भेज दी जाये। इस एक निर्णय ने समाज के संगठन का काया-पलट कर दिया। जहाँ पहले भाई की सन्तान उसके अपने परिवार से बाहर रहती थी, वहाँ अब बहिन की सन्तान परिवार से बाहर कर दी गई। इससे माता के माध्यम द्वारा वंशानुक्रम तथा उत्तराधिकार का निश्चित किया जाना समाप्त हो गया और वंशानुक्रम तथा उत्तराधिकार पिता के माध्यम से निश्चित किया जाने लगा। संक्षेप में, मातृपक्षीय परिवार का स्थान पितृपक्षीय परिवार ने ले लिया।

इस प्रकार मानव-समाज में विकासवाद के सिद्धान्तों को पूर्णरूप से लागू करने वाले मानव-समाज-शास्त्री प्रत्येक देश और प्रत्येक मानव-समाज में मातृपक्षीय परिवार की प्राथमिकता में विश्वास रखते हैं और मातृपक्षीय परिवार की प्राथमिकता का कारण मानव-समाज की आदिम अवस्था में यौन-सम्बन्ध का अनियम तथा सामूहिक-विवाह प्रथा बतलाते हैं। इसके विपरीत एफ० ग्रेबनर (F. Graebner) तथा डब्लू. श्मिट (W. Schmidt) आदि का विश्वास है कि मानव-समाज के विकास की प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है कि विकासवाद के सिद्धान्तों को अविकल रूप से मानव-समाज की प्रगति पर लागू किया जा सके। उनका मत है कि मानव-समाज ने पितृपक्षीय परिवार की ओर से मातृपक्षीय परिवार की ओर

प्रगति की है। मानव जाति अपनी आदिम अवस्था में पितृपक्षीय परिवारों के आधार पर संगठित थी। क्योंकि अनेक जातियों में, जो अपने सांस्कृतिक विकास की आदिम अवस्था में है, पितृपक्षीय परिवारों की सत्ता पाई जाती है। तथाकथित पिछड़ी जातियों में जो मातृपक्षीय परिवारों की सत्ता पाई जाती है, वह बाहर से आने वाले मातृपक्षीय संगठन वाले कबीलों के प्रभाव के कारण है।

परिवार के विकास के विषय में विकासवादियों के सिद्धान्त में इतनी शक्ति, स्पष्टता और स्वाभाविकता है कि उसे स्वीकार करने से इंकार नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी मानव-विज्ञान-शास्त्री उनके मत में सत्यता पाते हैं; परन्तु फिर भी विकासवादी दृष्टिकोण को सर्वथा सत्य नहीं कहा जा सकता है। विकासवादी यह मानकर चले हैं कि मनुष्य जाति ने सब स्थानों में पृथक् पृथक रहकर स्वाभाविक रूप में सांस्कृतिक विकास की एक के पश्चात् दूसरी अवस्था पार की है और सब स्थानों पर उनके विकास की दिशा एक समान रही है, भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही उनकी सांस्कृतिक उन्नति में विषमता आई है। लेकिन मनुष्य जाति ने सर्वत्र पृथक् रहकर संस्कृति की सारी अवस्थाओं को स्वतन्त्र विकास-क्रम में पार किया हो, यह असम्भव है। ऐतिहासिक काल में भिन्न भिन्न जातियों के परस्पर सम्पर्क हुए हैं और पारस्परिक सम्पर्कों ने विजेता और विजित दोनों जातियों की प्रगति में नये मोड़ उपस्थित किये हैं। यदि कभी विजेता जाति ने विजित जाति को अपनी प्रथायें एवम् परम्परायें देकर उसमें नूतन जीवन का संचार किया है तो कभी विजित जाति ने भी अपने विजेता की सांस्कृतिक प्रगति में योग दिया है। ऐतिहासिक काल में इस प्रकार का आदान-प्रदान दोनों पक्षों से होता आया है। साथ ही, यह भी देखा गया है कि सर्वदा विजेता की ही संस्कृति सब क्षेत्रों में समुन्नत स्तर की नहीं होती है। विजेताओं को विजितों से ज्ञान-अर्जन करते देखा गया है।

जब ऐतिहासिक काल में विभिन्न स्तर की संस्कृतियों के सम्पर्क से मिश्रित संस्कृति को जन्म लेते देखा जाता है तो कोई कारण नहीं है कि प्रागैतिहासिक काल में भी संस्कृतियों का परस्पर सम्मिश्रण न हुआ हो। इसलिये विकासवादियों का यह मत कि प्रत्येक मनुष्य जाति में सांस्कृतिक विकास की दिशा मातृपक्षीय परिवार से पितृपक्षीय परिवार की ओर रही है, सर्वांश में मान्य नहीं है। इससे विपरीत यह भी हो सकता है कि किन्हीं जातियों में परिवार का विकास पितृपक्षीय से मातृपक्षीय की ओर भी रहा हो।

इस सम्भावना की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उत्तरीय अमरीका में इरोकोइस तथा पुब्लो (Pueblo) इण्डियनों में, जो कि महाद्वीप में संस्कृति की दृष्टि से सर्वोत्तम कबीले हैं, मातृपक्षीय परिवार होते हैं; इसके विपरीत डेने (Déné) तथा उत्तरीय अथपस्का (Athapascans) के कबीलों में, जो कि निम्न संस्कृति के लोग हैं, वंशानुक्रम पितृपक्षीय है। यह भी कहा जाता है कि इस बात के निश्चित प्रमाण हैं जबकि पितृपक्षीय परिवार वाली जाति ने दूसरी जाति की मातृपक्षीय संस्थायें अपनाई हैं।[१]

८. मातृपक्षीय तथा पितृपक्षीय परिवारों की भेदक प्रक्रियायें

किसी जाति का सामाजिक संगठन मातृपक्षीय है या पितृपक्षीय है, यह निर्णय करना एक जटिल समस्या होती है, क्योंकि इसमें अनेक सामाजिक प्रक्रियायें सन्निविष्ट होती हैं। वे सामाजिक प्रक्रियायें जिनके आधार पर किसी जाति के पारिवारिक संगठन का निर्णय किया जा सकता है, मुख्य रूप से निम्न ६ हैं[२]:—(१) वंशानुक्रम (descent)। (२) आत्मीयता (kinship)। (३) दाय (inheritance)। (४) उत्तराधिकार (succession)। (५) अधिकार (authority) और (६) विवाह (marriage)।

(१) **वंशानुक्रम**—विशुद्ध मातृपक्षीय परिवार वाले समाज में वंशानुक्रम माता के द्वारा निश्चित किया जाता है। यदि वह समाज, जैसा कि प्रायः होता है, विवाहवर्जित समुदायों (गोत्रों) में विभक्त होता है तो ऐसे समाज में उत्पन्न व्यक्ति का सम्बन्ध अपनी माता के समुदाय से होता है, अपने पिता के समुदाय से नहीं। वह अपना पारिवारिक नाम भी माता के समुदाय से ही प्राप्त करता है, पिता के समुदाय से नहीं। इसके विपरीत पितृपक्षीय समुदाय वाले समाज में वंशानुक्रम पिता के द्वारा निश्चित होता है। पितृसत्ताक समाज में उत्पन्न व्यक्ति अपने पिता के गोत्र का माना जाता है, माता के गोत्र का नहीं। उदाहरणार्थ, यदि पिता का गोत्र भारद्वाज है तो पुत्र अथवा पुत्री का गोत्र भी भारद्वाज ही होगा; मातृसत्ता के अनुसार पुत्र या पुत्री का गोत्र या टोटम (Totem) माता के समान होगा।

(२) **आत्मीयता**—मातृसत्ताक समाज में पारिवारिक सम्बन्धों का निश्चय माता के माध्यम से किया जायेगा। माता के सम्बन्धी—उसके भाई,

---

१. मिलाइये, E. R. E., Vol. VIII, p. 858.

2. E. R. E., Vol. VIII, p. 851; Rivers : *Social Organization*, pp. 85–90.

बहिनें, बहिनों की सन्तान (लेकिन उसके भाइयों की सन्तान नहीं, क्योंकि माता के भाइयों की सन्तान माता के समुदाय की न होकर उनकी पत्नियों के समुदाय की होगी) तथा माता के अन्य निकट सम्बन्धी—उसके सम्बन्धी होंगे। माता के दूर के सम्बन्धी भी उसके आत्मीय माने जायेंगे, लेकिन पिता के आत्मीयों से कोई सम्बन्ध नहीं माना जायेगा। इन सम्बन्धियों के किसी व्यक्ति के प्रति अधिकार अथवा कर्तव्य जितने ही अधिक अथवा कम होंगे वे उसके उतने ही निकट अथवा दूर समझे जायेंगे। मातृसत्ताक समाजों में इन सम्बन्धियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य बहुत ही सुनिश्चित और स्पष्ट होते हैं। पितृसत्ताक समाजों में किसी व्यक्ति के सम्बन्धियों का निश्चय पिता के माध्यम से होता है। वह व्यक्ति अपने पिता के समुदाय का होता है, इसलिए पिता के भाई, बहिनें तथा भाइयों की सन्तान उसके आत्मीय होते हैं। कबीलों में संगठित पितृसत्ताक समाजों में भी इन सम्बन्धियों के निश्चित कर्त्तव्य तथा अधिकार होते हैं। लेकिन जिन समाजों का संगठन कबीलों में नहीं होता, केवल परिवार ही जिनके संगठन के आधार हैं, उन समाजों में इन सम्बन्धियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य निश्चित और स्पष्ट नहीं होते हैं।

(३) **दाय**—वह सामाजिक प्रक्रिया जो किसी समाज के संगठन के प्रकार को अत्यधिक प्रभावित करती है और जिस प्रक्रिया की सत्ता किसी समाज के मातृपक्षीय अथवा पितृपक्षीय होने का निर्णय करने में अत्यधिक प्रकाश डालती है, दाय (inheritance) है। विशुद्ध मातृसत्ता में सम्पत्ति की अधिकारिणी स्त्री होती है। इसलिये दाय माता से पुत्री को जाता है, जैसा की आसाम की खासी जाति में होता है।[१] लेकिन ऐसे मातृसत्ताक समाज, जिनमें दाय पुत्री को जाता है, बिरले ही हैं। अधिकतर मातृपक्षीय परिवारों में संगठित समाजों में भी दाय कबीले की स्त्री (female) की पुरुष सन्तान को जाता है। मातृसत्ताक समाज में पुत्र दाय में पिता से कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं करता। वह जो भी सम्पत्ति प्राप्त करता है, माता के द्वारा प्राप्त करता है, लेकिन माता से नहीं। मातृसत्ताक समाज में प्रायः किसी पुरुष की मृत्यु के पश्चात् दाय का अधिकारी उसका भाई होता है और अन्तिम भाई की मृत्यु हो जाने पर उसकी सम्पत्ति का अधिकारी उसकी बहिन का पुत्र होता है, पुरुष का अपना पुत्र नहीं। इसके विपरीत पितृसत्ताक समाज में पुत्र पिता की सम्पत्ति का सर्वप्रथम अधिकारी होता है और पुत्र के अभाव में ही सम्पत्ति का अधिकारी कोई अन्य होता है।

१. Rivers, W. H. R. : *Social Organization*, P. 92.

(४) **उत्तराधिकार**—यहाँ पद या उपाधि के हस्तान्तरण के लिये 'उत्तराधिकार' शब्द का प्रयोग किया गया है। विशुद्ध मातृसत्ताक समाज में उत्तराधिकार का निर्णय माता के द्वारा होता है; परन्तु ऐसे मातृसत्ताक समाज, जिनमें मुखिया, पुरोहित अथवा अन्य पदाधिकारी नारियाँ हों, बहुत ही विरल हैं। मातृसत्ताक समाजों में भी इन पदों पर पुरुष का ही अधिकार होता है। प्रायः ऐसे समाजों में कबीले के मुखिया या पुरोहित की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई या भाई के अभाव में उसकी बहिन का पुत्र कबीले का मुखिया या पुरोहित आदि होता है।[१] इस प्रकार मातृसत्ताक समाज में भी यद्यपि किसी पद का अधिकारी पुरुष ही होता है, लेकिन वह उस पद का अधिकारी इसलिए नहीं होता कि पहले उसका पिता उस पद का अधिकारी था, प्रत्युत इसलिये होता है कि उसकी **माता का भाई** उस पद का अधिकारी था। मातृसत्ताक समाजों में प्रायः ऐसा पाया जाता है कि मुखिया की माता तो किसी मुखिया परिवार की होती है और पिता किसी साधारण परिवार का होता है। इसके विपरीत पितृसत्ताक समाज में पिता का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। पुत्र सीधा पिता से कोई पद या उपाधि उत्तराधिकार में प्राप्त करता है। यदि पिता उच्चकुलीन है तो पुत्र भी उच्चकुलीन ही होगा, चाहे माता साधारण परिवार की ही क्यों न हो।

(५) **अधिकार या प्रभुत्व**—पितृसत्ताक समाजों में परिवार पर पिता या पितृपक्षीय किसी अन्य बड़े पुरुष सदस्य का अधिकार होता है जो कि परिवार का प्रधान पुरुष होता है। परिवार की सम्पत्ति के क्रय-विक्रय आदि का अधिकार उसे ही होता है। परिवार के सब सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं और उससे भय खाते हैं। परिवार के सब बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। पितृसत्ताक समाजों में पुरुष का ही प्रभुत्व होता है। लेकिन मातृसत्ताक समाजों में 'प्रभुत्व' या 'अधिकार' का प्रश्न उतना सरल नहीं है। यद्यपि 'मातृसत्ता' शब्द के श्रवण से ऐसा प्रतीत होता है कि मातृसत्ता में माता या परिवार की किसी अन्य वृद्धा नारी सदस्य का ही परिवार पर अधिकार रहता होगा, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। संसार में सच्चे अर्थों में मातृसत्ताक समाज, जिनमें स्त्रियाँ कबीले की मुखिया या शासक अथवा घर के अन्य सदस्यों पर शासन करने वाली अथवा पारिवारिक सम्पत्ति के क्रय-विक्रय आदि की अधिकारिणी हों, अति विरल

१. E. R. E., Vol. VIII, P. 851.

हैं।[1] जिन समाजों में वंशानुक्रम तथा दाय मातृपक्षीय होता है, उनमें भी परिवार का प्रधान प्रायः पुरुष ही होता है। किन्हीं मातृसत्तांक समाजों में यह अधिकार पिता में निहित होता है और किन्हीं में माता के भाई अर्थात् मामा में।[2] जिन मातृसत्ताक समाजों में घर का प्रधान मामा होता है, वहाँ घर के सदस्य वह पुरुष, उसके भाई, उसकी बहिनें तथा बहिनों की सन्तानें होती हैं; उसकी अपनी सन्तान तथा उसके भाइयों की सन्तान उसके अपने घर में नहीं रहतीं, प्रत्युत वे उनकी पत्नियों के घर रहती हैं। बहिनों के पति परिवार के सदस्य नहीं होते हैं। यदि वे स्थायी अथवा अस्थायी रूप से अपनी पत्नियों के घर में रहते भी हैं तो उन्हें घर के किसी मामले में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं होता। अपनी सन्तान की दृष्टि में भी उनका स्थान उनके मामा की अपेक्षा हीन ही होता है। इसके विपरीत, वही पुरुष जो कि अपनी पत्नी के घर में उपेक्षित रहता है, अपनी बहिन के घर में जो कि मातृसत्ता में वस्तुतः उसका अपना घर होता है, बड़े सम्मान और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उसकी बहिनों की सन्तान अर्थात् उसके भानजे-भानजियाँ जो अपने पिता के वचन को तो अनसुना कर सकते हैं, उससे भय खाते हैं। इस प्रकार के सामाजिक संगठन को, जिसमें मामा की प्रधानता होती है, मातुलसत्ता (Avunculate—लैटिन—avunculus = माता का भाई)—नाम दिया गया है।[3]

अपवाद स्वरूप कुछ ऐसे मातृसत्ताक समाज भी पाए जाते हैं जिनमें अधिकार नारियों में भी निहित है। ऐसे समाज विशेषतया उत्तरी अमरीका में रहे हैं। इरोक्वोइस जाति में स्त्रियाँ घर की प्रधान होती थीं। कबीले के कार्यों में वे पर्याप्त अधिकार प्रयुक्त करती थीं। कबीले के मुखिया के चुनाव में वे भाग लेती थीं और कबीले की कौंसिलों (councils) में उनकी बहुसंख्या होती थी, यद्यपि कबीले के मुखिया पुरुष ही होते थे।[4] किन्हीं समाजों में स्त्री और उसके भाइयों के अधिकार-क्षेत्र सुनिश्चित रूप से विभक्त रहते हैं; कुछ विषयों में निर्णय का अधिकार स्त्री को होता है और कुछ विषयों में उसके भाइयों को।[5]

---

१. *Ibid.*

२. *Ibid.*

३. Rivers, W. H. R. : *Social Organization*, P. 89.

४. Lowie : *Primitive Society*, P. 181.

५. Rivers, W. H. R. : *Social Organization*, P. 89.

(६) **विवाह**—पूर्वोक्त उन छः सामाजिक प्रक्रियाओं में जिनके द्वारा मातृसत्ता और पितृसत्ता में भेद किया जाता है, विवाह भी है। विवाह के दो भेद किये गये हैं। विवाह का एक प्रकार वह है जिसमें स्त्री अपने पति के घर जाती है, ऐसे विवाह को पितृस्थानीय (patrilocal) कहा जाता है और पितृस्थानीय विवाह का सम्बन्ध पितृसत्ता से जोड़ा जाता है। विवाह का दूसरा प्रकार वह है जिसमें स्त्री अपने पति के घर नहीं जाती, वरन् अपनी माता के घर रहती है और पति या तो केवल जब-तब अपनी पत्नी के घर जाता है या स्थायी रूप से ही अपनी पत्नी के आत्मीयों के साथ रहता है। ऐसे विवाह को मातृस्थानीय (matrilocal) कहा जाता है और इसका सम्बन्ध मातृसत्ता से जोड़ा जाता है। मातृसत्ता में पत्नी अपने पति के घर केवल तभी जाती है जब पति किसी निश्चित समय तक पत्नी के कुटुम्बियों की सेवा करके या धन देकर उसे अपने घर ले जाने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

लेकिन मातृस्थानीय विवाह का मातृसत्ता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है।[१] पितृसत्ताक समाजों में भी पत्नी कुछ समय तक अपनी माता के साथ रहती है और बीच-बीच में पति-पत्नी दोनों पत्नी के पीहर में जाते रहते हैं। किन्हीं-किन्हीं समाजों में तो जिनमें वंशानुक्रम, दाय तथा उत्तराधिकार निश्चित रूप से पितृपक्षीय हैं, पत्नी प्रथम सन्तान की उत्पत्ति न होने तक अपने मैके में ही रहती है।

९. विशुद्ध मातृपक्षीय तथा पितृपक्षीय परिवारों का अभाव

ऊपर जिन सामाजिक प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है, वे सब प्रक्रियायें किसी एक समाज में समानरूप से नहीं होती हैं। कुछ समाजों में वंशानुक्रम, दाय और उत्तराधिकार पितृपक्षीय होता है, लेकिन उनमें पिता की अपेक्षा माता के भाई के अधिकार अधिक होते हैं। कुछ समाजों में वंशानुक्रम मातृपक्षीय होता है, लेकिन उत्तराधिकार पितृपक्षीय होता है। कुछ समाजों में वंशानुक्रम, दाय तथा उत्तराधिकार मातृपक्षीय होता है, लेकिन अधिकार पितृपक्षीय होता है।[२] इसलिये विशुद्ध मातृपक्षीय या विशुद्ध पितृपक्षीय परिवार बहुत ही विरल होते हैं। जिन जातियों में स्पष्ट रूप से मातृपक्षीय परिवार हैं, उनमें कुछ ऐसी प्रथायें पाई जाती हैं जो स्पष्ट रूप से पितृपक्षीय परिवार से सम्बद्ध हैं। कैलिफोर्निया के कबीलों में, जो कि भाषा

१. Rivers, W. H. R. : Ibid, p. 90.
२. E. R. E., Vol. VIII, p. 851.

की दृष्टि से छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त हैं, विवाह मातृस्थानीय होता है, लेकिन दाय और उत्तराधिकार पितृपक्षीय हैं। त्सिमशियन (Tsimshian) कबीले में मातृपक्षीय और पितृपक्षीय संस्थाओं के सम्मिश्रण के चिह्न दृष्टि-गोचर होते हैं ; क्योंकि पुरुष यद्यपि अपनी माता के समुदाय (clan) का होता है, फिर भी वह अपने निजी नाम के अंश के रूप में पिता के टोटम-चिह्न का नाम भी रखता है। क्वकिउत्ल (Kwakiutl) लोगों में पुरुष यद्यपि अपने पिता के समुदाय का होता है, लेकिन वह विवाह के समय अपनी पत्नी के पिता के टोटम-चिह्न को धारण करता है, और बाद में उसे अपने पुत्र को हस्तान्तरित कर देता है। पुत्र उसे अपने विवाह के पहले तक धारण करता है, और विवाह करते समय वह भी अपनी पत्नी के पिता के टोटम-चिह्न (Totemic crest) को लेता है।[१]

इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की जातियों में भी, जो अपने ऐतिहासिक काल में स्पष्ट रूप से पितृसत्ताक रही हैं, जिनमें वंशानुक्रम, आत्मीयता, दाय उत्तराधिकार तथा विवाह आदि सामाजिक प्रक्रियायें पितृपक्षीय रही हैं तथा जिनके पारिवारिक शब्दों के सामान्य कोश में मातृसत्ता की गन्ध भी नहीं है, मातृपक्षीय परिवार-प्रणाली से सम्बद्ध प्रथाओं के अवशेष बतलाये जाते हैं। जैसे, बास्क जाति में, जो कि इण्डोयूरोपीय होने के कारण पितृपक्षीय है, परिवार पर पिता का अधिकार नगण्य होता है; स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी होती हैं।[२] स्ट्रैबो (Strabo) का कथन है कि स्पेन में परिवार की प्रधान स्त्रियाँ होती थीं।[३] कैल्ट लोगों में राजाओं और पुरोहितों (magicians) के उत्तराधिकारी उनके भानजे होते थे।[४] आयरलैण्ड में भानजे का सम्बन्ध बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अंग्रेजी ग्राम्य-गीतों में भी भानजे का बार-बार उल्लेख हुआ है। इसलिए एफ० बी० गुमेर[५] (F. B. Gummere) का विचार है कि मामा-भानजे का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा, जो कि मातृसत्ता की विशेषताओं में से एक है। इस समय उत्तरीय भारत में भी, जहाँ परिवार का

---

१. देखिये, वही, पृष्ठ ८५२।

२. देखिये, वही, पृष्ठ ८५६।

३. p. 165 (cited in E. R. E., Vol. VIII, p. 856)

४. Rhys, J. : *Celtic Folklore*, Oxford, 1921, p. 637.

५. *An English Miscellany*, presented to Dr. Furnivall, p. 133.

संगठन पितृपक्षीय है, मामा-भानजे का सम्बन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि यह निश्चित है कि ऋग्वेद-काल में यह सम्बन्ध आर्य लोगों में महत्त्वपूर्ण नहीं था। ऋग्वेद में तथा उत्तरवैदिक काल में मातृक नामों को भी मातृसत्ता का अवशेष कहा जाता है।[1]

१०. सभ्य जातियों में पितृपक्षीय परिवारों की प्रधानता

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यद्यपि यह सत्य है कि विशुद्ध मातृपक्षीय अथवा विशुद्ध पितृपक्षीय परिवार वाले समाज भू-मण्डल पर अत्यधिक विरल हैं, लेकिन फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि भू-मण्डल पर फैली हुई मानव-जाति के विभिन्न समाजों को, जिनमें आत्मीयों का सम्बन्ध केवल एक पक्ष (मातृपक्ष अथवा पितृपक्ष) से किया जाता है, पारिवारिक संगठन के विचार से मुख्य रूप से दो वर्गों—(१) मातृपक्षीय और (२) पितृपक्षीय—में विभक्त किया जा सकता है। परिवार के संगठन के दोनों ही प्रकार पर्याप्त व्यापक हैं। भारतवर्ष के उत्तरीय भाग में पितृपक्षीय परिवार पाये जाते हैं तो भारतवर्ष के दक्षिणी और पूर्वी भागों की कुछ जातियों में मातृपक्षीय परिवारों का प्रचलन है। आसाम की खासी जाति में पूर्ण रूप से मातृपक्षीय परिवार होता है।[2] अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा भारतवर्ष की आदिम जातियों में प्रायः मातृपक्षीय परिवार पाये जाते हैं। यूरोप तथा एशिया महाद्वीप की उन जातियों में, जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से प्रगति करके सभ्यता के युग में प्रवेश कर लिया है, सामाजिक संगठन पितृपक्षीय परिवार के आधार पर पाया जाता है।

यद्यपि, जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है, संस्कृति के निम्न स्तर में वर्तमान अनेक आदिम जातियों में भी पितृपक्षीय परिवार तथा अपेक्षाकृत संस्कृति के उच्च स्तर में वर्तमान जातियों में भी मातृपक्षीय परिवार पाये जाते हैं; और सांस्कृतिक विकास के साथ परिवार के संगठन के प्रकार का अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है, फिर भी भू-मण्डल की विभिन्न जातियों की सांस्कृतिक अवस्था और उनके पारिवारिक संगठनों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि प्रायः संस्कृति के निम्न स्तर में वर्तमान जातियों का पारिवारिक संगठन सामान्यतया मातृपक्षीय है और संस्कृति के उच्च स्तर में वर्तमान जातियों का पारिवारिक संगठन प्रधानतया पितृपक्षीय

१. देखिये, आगे अध्याय ७।
२. देखिये, ऊपर पृष्ठ ११।

है। अधिकतर विकास की दिशा मातृसत्ता से पितृसत्ता की ओर रही है।[1] ऐसे बहुत से उदाहरण पाए जाते हैं कि जिन जातियों में पहले मातृपक्षीय परिवारों का प्रचलन था, उनमें सांस्कृतिक उन्नति अथवा अन्य पितृसत्ता वाली जातियों के सम्पर्क के प्रभाव से पितृपक्षीय परिवारों का प्रचलन हो गया है।[2] सेमेटिक जातियों में भी, जिनमें अब पितृपक्षीय परिवार हैं, उनकी आदिम अवस्था में मातृसत्ता के स्पष्ट चिह्न पाये जाते हैं।[3] अरब देशों में इस्लाम के प्रभाव से मातृसत्ता का स्थान पितृ-सत्ता ने ले लिया है। इसी तरह अन्य जातियों में भी यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि पहले उनमें मातृसत्ता का प्रचलन था, लेकिन जैसे ही उन्होंने जीविकोपार्जन के साधनों में उन्नति की तथा उनकी धार्मिक और मानसिक उन्नति हुई, वैसे ही उनकी सामाजिक संस्थाओं ने मातृसत्ता का परित्याग करके पितृसत्ता का आवरण अपना लिया।

---

१. देखिये, E. R. E., Vol. VIII, p. 858.
२. वही, पृष्ठ ८५९।
३. वही, पृष्ठ ४६९।

अध्याय २

इण्डो-यूरोपीय परिवार

१. इण्डो-यूरोपीय काल की जानकारी के साधन

किसी प्राचीन जाति या सभ्यता के प्रागैतिहासिक काल की जानकारी के साधन पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेष अथवा धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों में पाई जाने वाली प्राचीन परम्परायें होती हैं। इण्डो-यूरोपीय काल की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के विषय में इन साधनों का एक प्रकार से सर्वथा अभाव है। इण्डो-यूरोपीय काल की पुरातत्त्व की सामग्री का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है। इसलिए उस काल की जानकारी का एकमात्र साधन इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार के तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन पर ही आश्रित है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से इण्डो-यूरोपीय जाति[1] की सभ्यता एवं सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं और धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भाषा-विज्ञान पर आधारित एक नूतन विज्ञान, तुलनात्मक देवतोपाख्यान-विज्ञान (Comparative Mythology), भी इण्डो-यूरोपीय काल की जानकारी के विषय में महत्त्वपूर्ण स्रोत है। ओटो श्राडर (Otto Schrader) का मत था कि इण्डो-यूरोपीय काल की जानकारी के एकमात्र साधन केवल ये ही दो विज्ञान हैं और आगे भी रहेंगे।[2] इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की कतिपय भाषाओं के प्राचीन साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी भाषा-विज्ञान पर ही आधारित है। इसलिए यह निश्चय से कहा जा

---

१. प्रो० मैक्समूलर (*Biographies of Words*, pp. 89, 90) का मत है कि एक नृवंशीय समुदाय (ethnic group) के रूप में इण्डो-यूरोपीय नाम की कोई जाति नहीं थी, इण्डो-यूरोपीय केवल भाषा-परिवार का नाम है। फाइस्ट (*Kultur*, p. 502) ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। यहाँ 'इण्डो-यूरोपीय जाति' से केवल एक ऐसे लोगों के समुदाय से अभिप्राय है जो किसी एक निश्चित भू-भाग में रहते थे और जिनकी भाषा एक समान थी।

२. *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples*, Eng. Trans., 1890, P. 406.

सकता है कि इण्डो-यूरोपीय काल की जानकारी इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर ही निर्भर है। एच० हिर्ट (H. Hirt) ने अपने ग्रन्थ *Die Indogermanen* के अन्त में जो कहा था, वह आज भी सत्य है : 'इण्डो-यूरोपीय सम्बन्धी कल्पना भाषा के ठहरने पर ठहरती है और भाषा के गिरने पर गिर जाती है।'[१]

लेकिन भाषा-विज्ञान की सहायता से प्राप्त होने वाली जानकारी की कुछ सीमायें हैं। प्रथम, भाषा-विज्ञान हमें केवल उस समय तक के ज्ञान में सहायक होता है जबकि इण्डो-यूरोपीय लोग अपने मूल स्थान को छोड़ने वाले थे और उन्होंने एक भाषा विकसित कर ली थी। यह स्मरणीय है कि भाषा का विकास मानव जीवन के इतिहास में पर्याप्त विलम्ब से होता है। इसलिये भाषा-विज्ञान उस दीर्घ अवधि के विषय में बिलकुल भी प्रकाश नहीं डालता, जबकि इण्डो-यूरोपीय जाति ने संस्कृति की आदिम अवस्था से लेकर विभिन्न स्तरों को पार करते हुए नूतन-प्रस्तर-युग (neo-lithic age) में प्रवेश किया। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का साक्ष्य हमें केवल इण्डो-यूरोपीय जाति के इतिहास की उस अवस्था तक ले जाता है जिसे मानव-विज्ञान-शास्त्रियों (anthropologists) के अनुसार नूतन-प्रस्तर-युग कहा जा सकता है, जबकि इण्डो-यूरोपीय लोगों ने साधारण कृषि करना सीख लिया था, वे घर बनाकर रहते थे, पशु-पालन करते थे, बुनना और बर्तन बनाना जानते थे, और अपने मुर्दों को संभाल कर गाड़ते थे। इससे पहले की अवस्था की जानकारी के लिये हमें मानव-विज्ञान-शास्त्रियों (anthropologists) के मन्तव्यों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा, जो मन्तव्य इतने आधारभूत समझे जाते हैं कि साधारणतया प्रत्येक मानव-जाति के विषय में सत्य मान लिये गये हैं।

द्वितीय, आदिम संस्थाओं के इतिहास के विषय में तुलनात्मक-भाषा-विज्ञान का साक्ष्य निर्भ्रान्त और निश्चयात्मक पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता, क्योंकि शब्दों का अर्थ निश्चित और अपने आप में पूर्ण नहीं होता। समान शब्द देश और काल के भेद से विभिन्न अर्थों के बोधक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक ही 'कॉर्न' (corn) शब्द से अमरीका में 'मक्का', इंगलैंड में 'गेहूँ', स्काटलैंड में 'जई', स्वीडन में 'जौ' तथा जर्मनी में 'राई' (rye) अर्थ का बोध होता

१. "Der Begriff der Indogermanen steht und fällt mit der Sprache." (Quoted by Deshmukh, P. S.: *Religion in Vedic Literature*, p. 78)

है।[1] इसलिये भाषा के साक्ष्य का सावधान होकर उपयोग करने की आवश्यकता है। इस ओर अनेक विद्वानों ने पहले भी ध्यान आकृष्ट किया है। एक या दो शब्दों की समानता मात्र से किसी बात को सिद्ध हुई नहीं समझ लेना चाहिये।

२. भाषा-विज्ञान पर आश्रित इण्डो-यूरोपीय काल की संस्कृति

मानव-विज्ञान-शास्त्र (anthropology) के विद्वानों का बहुत बड़ा भाग किसी जाति की पारिवारिक संस्था के विकास का सम्बन्ध उस जाति की सांस्कृतिक अवस्था से जोड़ता है। इसलिये इण्डो-यूरोपीय जाति की आदिम काल की परिवार संस्था के सम्यक् अध्ययन के लिये उसकी सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि का संक्षिप्त विवेचन भी अपेक्षित है। विवेचन की विशदता के लिये संस्कृति को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है: (अ) भौतिक (आ) धार्मिक और (इ) सामाजिक। तीनों प्रकार की संस्कृति का विवेचन केवल उसी अंश तक किया जायेगा जहाँ तक परिवार संस्था से उसका विशेष सम्बन्ध है। उसके सर्वाङ्गीण विस्तृत विवेचन का हमारे विषय से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

(अ) भौतिक—इण्डो-यूरोपीय जाति उस प्राचीनतम समय में, जिसका हमें भाषा-विज्ञान के आधार पर कुछ ज्ञान है, प्राचीन-प्रस्तर-युग (palæolithic age) को पार कर चुकी प्रतीत होती है। प्राचीन-प्रस्तर-युग में मनुष्य जाति ने घरों में रहना, वस्त्र पहनना तथा पशु पालना नहीं सीखा था, वह केवल आखेट करके और मछली पकड़कर ही अपना जीवन-निर्वाह करती थी। लेकिन इण्डो-यूरोपीय जाति की विभिन्न भाषाओं में पाए जाने वाले समान (cognate) शब्द यह संकेत करते हैं कि इण्डो-यूरोपीय जाति ने अपने मूल स्थान के परित्याग से पूर्व भौतिक संस्कृति में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। उनका जीवन विशुद्ध यायावरीय (nomadic) नहीं था, अपितु उन्होंने घर और ग्राम बनाकर रहना प्रारम्भ कर दिया था।[2]

संकट के समय वे लोग 'पुर्'[3]—चारों ओर से घिरे हुए स्थान में रहते

---

१. Carl Darling Buck : *A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages*, pp. 513, 514.

२. देखिये, Buck : *Ibid*, p. 458.

३. संस्कृत—पुर्; ग्रीक—पोलिस् (πολις); लिथु०—पिलिस् (pilis); लेटिश—पिल्स् (pils)। (cf. Buck : *Ibid*, p. 1404).

थे। इण्डो-यूरोपीय भाषा परिवार की विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध शब्द यह संकेत करते हैं कि वे लोग कदाचित् दुर्ग भी बनाते थे। उनके घर लकड़ी के बने होते थे और तृणों के छप्पर से छाये होते थे। अभी वे पत्थरों के भवन बनाना नहीं जानते थे।[1]

इण्डो-यूरोपीय लोगों का मुख्य व्यवसाय पशु-पालन था, यद्यपि उन्हें कृषि का भी साधारण ज्ञान था। इण्डो-यूरोपीय लोगों के जीवन में पशु-धन का महत्त्व बहुत पीछे तक रहा है, जब कि वे विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो चुके थे।[2] इसलिये श्रोडर का यह विचार युक्तियुक्त ही है कि इन लोगों (इण्डो-यूरोपियनों) को 'पशु-पालक' (Vieh-züchter) कहना सर्वथा उपयुक्त है।[3]

इण्डो-यूरोपीय लोगों की पश्चिमी शाखा[4] ने कदाचित् कृषि में पहले उन्नति की थी, क्योंकि यूरोप की भाषाओं में कृषि-सम्बन्धी अनेक शब्दों में समानता है। दूसरी ओर पूर्वी शाखा के भारतीय और ईरानी लोगों की भाषा में कृषि

---

१. Deshmukh (Dr.), P. S.: *Religion in Vedic Literature*, Oxford, 1933, p. 81.

२. पशु को महत्त्वपूर्ण धन समझा जाता था, यह इस बात से प्रकट है कि इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की अनेक भाषाओं में 'पशु' के समान (cognate) शब्द 'सम्पत्ति' के वाचक भी हैं: गोथिक—faihu 'property, money'; प्रा० अंग्रेजी—feoh 'cattle, property, money'; लेटिन—pecu 'cattle'; pecūnia 'property, riches, wealth', especially 'money'. (cf. Buck, *Op. Cit.*, p. 770)

३. *Arische Religion*, p. 234.

४. यह समझा जाता है कि जब इण्डो-यूरोपीय लोग अपना मूल निवास-स्थान छोड़कर अलग-अलग हुए तो उनकी दो शाखायें बनीं—एक उत्तर-पश्चिमी शाखा, जिसमें बाद में ग्रीक, लैटिन, केल्टिक, स्लावनिक और ट्यूटानिक भाषा बोलने वाले लोग थे और दूसरी दक्षिण-पूर्वी शाखा, जिसमें बाद में ईरानी और भारतीय आर्य-भाषा बोलने वाले लोग थे। इनमें एक शाखा के लोग दूसरी शाखा से पृथक् होने के बाद भी कुछ समय तक साथ रहे। (Cf. Max Müller: *Biographies of Words*, p. 85)। इन दो शाखाओं को उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी नाम उनकी भौगोलिक स्थिति के कारण दिये गये हैं, लेकिन उन्हें संक्षेप में पश्चिमी और पूर्वी शाखायें भी कहा जा सकता है।

के उपकरणों तथा कृषि की उपज के वाचक शब्दों में समानता का अभाव है।[१] लेकिन यह निश्चित है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों ने अपनी एकता की अवस्था में ही कम से कम एक प्रकार का अनाज अवश्य जान लिया था जैसा कि निम्न समीकरण से बिल्कुल स्पष्ट है :

संस्कृत—यव; अवस्ता—यव (yava); फारसी—जव् (jav); ग्रीक—जइअइ (ζειαί); आयरिश—इओर्न (eorna); लिथु०—जवस् (javas)।[२]

इण्डो-यूरोपीय लोग अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे। धनुष और बाण का प्रयोग प्राचीन काल से प्रचलित था। इन लोगों ने चाकू, भाले, परशु और गदा आदि का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया था। प्रस्तर-युग के प्राप्त अवशेषों से पता चला है कि भाले के फलक हड्डी के भी होते थे। सम्भवतया चर्म अथवा लकड़ी के ढाल का भी प्रयोग किया जाता हो। शिरस्त्राण और कवच का प्रयोग नहीं होता था।[३]

वे लोग कातना, बुनना और चमड़ा कमाना भी जानते थे। वे गाड़ी, घर, झोंपड़ी और नाव भी बना लेते थे। लेकिन ये कलायें बहुत ही प्रारम्भिक दशा में रही होंगी। गाड़ी के विभिन्न अंगों के लिये समान शब्द पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत—अक्ष; ग्रीक—अजोन् (ἄξων); लैटिन—एक्सिस् (axis); प्रा० उ० जर्म०—अह्स (ahsa); एंग्लो-सेक्सन्—एअक्स् (éax); प्रा० नोर्स—ओक्सु (ŏxu); प्रा० स्ला०—ओसि (osi)। इसी प्रकार नाव के लिये भी समान शब्द मिलते हैं : संस्कृत—नौ; ग्रीक—नाओस् (ναῦς); लेटिन—नविस् (navis); आयरिश—नोइ (nói); प्रा० नोर्स—नोर् (nór)।[४] इण्डो-यूरोपीय काल की नाव वृक्ष के तने को खोदकर बनाई जाती होगी, क्योंकि आदिम काल की नाव बहुत ही साधारण हो सकती थी। गाड़ी और नाव ही यातायात के मुख्य साधन रहे होंगे।[५]

वे एक से १० तक गिनना तथा १०० की संख्या जानते थे।[६] उनकी

---

१. Schrader : *Reallexicon der Indogermanischen Altertumskunde*, S. V., Ackerban.

२. Deshmukh (Dr.), P. S. : *Religion in Vedic Literature*, p. 83.

३. *Ibid*, p. 85.

४. *Ibid*, p. 86.

५. Schrader : *Op. Cit.*, p. 711.

६. Griswold : *Religion of the Rigveda*, London, 1923, p. 8.

काल की गणना भी बहुत ही साधारण थी। सूर्य की विभिन्न स्थितियों के अनुसार दिन के भाग किये जाते होंगे। वर्ष को दो भागों, ग्रीष्म और शीत में विभक्त किया गया था। काल-गणना में चन्द्रमा को भी आधार बनाया गया था, जैसा कि चन्द्रमा के प्राचीन नामों से, जो कि इण्डो-यूरोपीय $\sqrt{*me}$ 'मापना' धातु से निष्पन्न हैं[१], प्रकट होता है: संस्कृत—मास्,[२] मास; अवस्ता—माओन्ह् (mâonh); ग्रीक—मीनी (μήνη); गोथिक—मेन (mêna); लिथु०—मेनु (méoŭ); जर्मन—मोण्ड् (Mond), मोनाट् (Monat); अंग्रेजी—मून (moon)।[३]

(आ) धार्मिक—ऊपर के विवेचन से प्रकट है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों ने भौतिक उन्नति कोई विशेष नहीं की थी। भौतिक संस्कृति की यह अवस्था किन्हीं-किन्हीं जातियों में सांस्कृतिक विकास की वन्य अवस्था में भी पाई जाती है। लेकिन इण्डो-यूरोपीय लोगों ने मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति अपेक्षाकृत बहुत अधिक कर ली थी। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में मनुष्य के वाचक ऐसे समान (cognate) शब्द पाये जाते हैं जिनसे पता चलता है कि इन लोगों ने अति प्राचीन काल में ही यह जान लिया था कि मनुष्य में सोचने की शक्ति है और इसलिए मनुष्य का अन्य प्राणियों से भेद करने के लिए उसे 'मननशील' कहा गया है; संस्कृत—मनु, मनुष्, मनुष, मानुष; गोथिक—manna; चर्चस्लाव–mąžĭ; बोहेमी तथा रूसी—muž; पोलिश्—mąž ये सब शब्द इण्डो-यूरोपीय $\sqrt{*men}$ धातु से बनाये गये हैं, जिसका अर्थ 'विचारना' है।[४]

इण्डो-यूरोपीय लोगों के धार्मिक विश्वास, जैसा कि भाषा-विज्ञान के साक्ष्य से प्रतीत होता है, आदिम अवस्था को बहुत पीछे छोड़ चुके थे। श्राडर के अनुसार भारत-यूरोपीय लोगों का धर्म अपनी प्रत्येक ऐतिहासिक अवस्था—

---

१. Buck : *A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages*, p. 54.

२. ऋग्वेद में मास् चन्द्रमा के लिए आया है, लेकिन उत्तरवर्ती ग्रंथों में इसका अर्थ प्रायः 'महीना' है, 'चन्द्रमा' अर्थ अत्यन्त विरल है। (cf. Buck : *Ibid*, p. 54)

३ Deshmukh : *op. cit.*, p. 86.

४. Buck : *op. cit*, p. 80.

'एनिमिज्म' (animism)[1] तथा 'फेटिशिज्म' (fetishism)[2] आदि—में से होकर निकला है, यहाँ तक कि ऐतिहासिक काल में तथा अब भी धर्म की इन आदिम अवस्थाओं के चिह्न ढूँढ निकाले जा सकते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों में उनकी आदिम अवस्था में ही धर्म (religion) के उन्नत स्तर का पदार्पण हो गया था।[3] उनके आराधनीय देव प्रकृति के वे द्योतमान तत्त्व थे जिन्हें वे प्रतिदिन अपने जीवन को प्रभावित करते देखते थे। इण्डो-यूरोपीय लोगों का सबसे महान् देव आकाश था[4] जो कि सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य प्रकाशमान तत्त्वों को अपने अङ्क में धारण किये हुए है। इण्डो-यूरोपीय लोगों की विविध शाखाओं के विषय में निष्पक्ष अधिकारियों द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि आकाश तथा उससे सम्बद्ध प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा आदिम अवस्था में ही उनके धर्म का केन्द्र बिन्दु बन गई थी। ये लोग आकाश को कदाचित् अन्य देवों तथा मनुष्यों के पिता के रूप में मानते थे और आकाश तथा अन्य तत्त्वों को 'देव' अर्थात् 'चमकने वाला', 'प्रकाशमान' कहते थे।[5]

इण्डो-यूरोपीय लोग इन प्राकृतिक तत्त्वों को अपने जीवन के लिये हितकारी समझते थे, इसलिये स्तुति तथा उपहार द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे। यह भी बिल्कुल स्वाभाविक है कि 'विद्युत्' तथा 'प्रवात' की पूजा

---

१. अनेक आदिम जातियों मे यह विश्वास प्रचलित है कि प्रत्येक जड़ और चेतन वस्तु में आत्मा अथवा जीव होता है जो शरीर से अलग होकर मनुष्य के समान कर्म कर सकता है और प्राणियों को हानि या लाभ पहुँचा सकता है। E. B. Tylor ने इस प्रकार के विश्वास को 'animism' नाम दिया है।

२. किसी प्राकृतिक अथवा मनुष्य-निर्मित वस्तु में चेतना, इच्छाशक्ति, दिव्य-शक्ति और विशेषकर जादू की शक्ति (magic power) होने का विश्वास 'fetishism' कहलाता है।

३. Schrader : *E. R. E.*, vol. II, p. 33.

४. संस्कृत—द्यौस् (पितर्), ग्रीक zeύs, लेटिन—Juppiter, प्रा० नोर्स—Týr, प्रा० उच्च जर्मन—ziu, अर्थात् आकाश अथवा 'आकाश-पिता'। (Schrader : *E. R E*, vol. II, p. 33)

५. संस्कृत—देव, आयरिश—Día, लिथु०—Diẽwas, लैटिन—Deus, प्राचीन नोर्स—Tíwar अर्थात् 'दिव्य' अथवा 'प्रकाशमान', संस्कृत की 'दिव्' जैसी द्युत्यर्थक धातु से निष्पन्न। (Schrader : *E. R. E.*, vol. II, p. 33)

भय के कारण प्रारम्भ हुई हो। ऋग्वेद में जहाँ इन्द्र, अग्नि आदि देवों की स्तुति उनके परोपकार तथा उदारता आदि गुणों के कारण की गई है, वहाँ रुद्र, पर्जन्य आदि देवों की स्तुति उनके उग्र तथा भयोत्पादक ओज आदि गुणों के कारण भी की गई प्रतीत होती है।[1]

'द्यौ' के अतिरिक्त 'वरुण', 'स्तनयित्नु', 'सूर्य', 'मास्' (चन्द्रमा), 'उषा', 'दिन', 'रात्रि', 'अश्विनौ', 'अग्नि', 'वात', 'आप्' को भी इण्डो-यूरोपीय काल में 'देव' मान लिया गया था और इनकी पूजा होती थी। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में इन प्राकृतिक तत्त्वों के नामों में समानता पाई जाती है और ग्रीक, रोमन, ट्यूटानिक, वैदिक तथा ईरानी धर्म तथा दैवत-कथाओं एवं हिरोडोटस और सीज़र के उल्लेखों से इण्डो-यूरोपीय जाति की विभिन्न शाखाओं में इनकी पूजा सिद्ध होती है।[2]

(इ) **सामाजिक संगठन**—इण्डो यूरोपीय लोगों का जीवन अति सरल था और उनके जीवन के साधन भी अति साधारण थे। जीवन और साधनों की जटिलता के साथ ही सामाजिक संगठन में जटिलता आती है। इसलिये इण्डो-यूरोपीय लोगों का सामाजिक संगठन भी बहुत ही सरल रहा होगा, क्योंकि उनके जीवन में अनेकरूपता नहीं आ पाई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके जीवन की सब गतिविधियों का केन्द्र परिवार था। उन लोगों में किसी विधि-वत् स्थापित राजनैतिक संगठन होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। परिवार का प्रधान पुरुष (गृहपति) ही वे सब कार्य करता था जो आगे चलकर राजा के कर्त्तव्य हो गये। कुछ परिवार मिलकर गाँव (विश्) में रहते थे और संभवतया ऐसे कुछ गाँवों से मिलकर 'जन' बनता था। 'विश्' और 'जन' दोनों शब्द इण्डो-यूरोपीय काल के हैं। लेकिन उस काल में उनका क्या अभिप्राय था, यह निश्चित नहीं किया जा सकता।

सम्भवतया 'विश्' का मूल अर्थ 'निवासस्थान' था और इसी से गाँव के अर्थ में हो गया। उन दिनों के गाँव बहुत ही छोटे होते होंगे जिनमें समान रक्त के दो चार संयुक्त परिवार रहते होंगे। ऋग्वेद काल में 'विश्' का संगठन सुदृढ होता था। युद्ध के समय प्रत्येक 'विश्' की अपनी अलग टुकड़ी

---

१. तुलना कीजिये —यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे। ऋक् ८, २१, १४।

२. देखिये, Deshmukh (Dr.) P. S. : *Religion in Vedic Literature*, pp. 88–117; *E. R. E.*, vol. II, pp. 33–37.

होती थी।[1] बक ने गाँव के पर्यायवाची शब्दों की सूची में 'विश्' के लिए निम्न समीकरण उपस्थित किया है :[2]

लेटिन—vīcus (>आयरिश fich, प्रा० अंग्रेज़ी—wie, प्रा० उच्च जर्मन—wīch), गोथिक—weihs; चर्चस्लाव vĭsĭ, बोहेमियन—ves; पोलिश—wieś; ग्रीक—οἶκος 'घर'; संस्कृत—विश्, 'आवास-स्थान, घर'; अवस्ता—vīs 'आवास-स्थान, घर, कुटुम्ब' और 'गाँव' (Bartholomae : Altiranisches Wörterbuch, 1456)।

'जन' शब्द √*जन् 'उत्पन्न होना' अर्थ की धातु से बना है। वे सब लोग जिनका किसी वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज से 'जन्म' का सम्बन्ध होता था, एक 'जन' के सदस्य समझे जाते थे। 'जन' के सदस्य जन्म, भाषा, और प्रथा से परस्पर बद्ध होते थे। आदिम समाजों में 'जन' एक महत्त्वपूर्ण समुदाय होता था। 'जन' के सब सदस्यों में 'आत्मीयता' का सम्बन्ध होता था, लेकिन उसकी मात्रा में अन्तर होता था। कुछ सदस्य परस्पर निकट आत्मीय होते थे और कुछ दूरस्थ आत्मीय। इसलिए 'जन' का संगठन 'विश्' के समान दृढ नहीं होता था। केवल किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी 'जन' से युद्ध के समय या ऐसे ही किसी अन्य विपत्ति के समय 'जन' के सदस्य परस्पर मिलकर कार्य करते थे।

ऋग्वेद-काल में आर्यों का समाज कुल (परिवार) या जन्मन्, विश् और जन में विभक्त था।[3] प्राचीन काल में ग्रीक और रोमन लोगों में भी समाज तीन वर्गों में विभक्त था। ग्रीक लोगों में सबसे छोटा वर्ग φῦλή, उससे बड़ा φρατρία और सबसे बड़ा वर्ग γένος कहलाता था। रोमन समाज भी ऐसे ही तीन वर्गों 'जेन्स', 'क्यूरिया' और 'ट्राइब' में विभक्त था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इण्डो-यूरोपीय जाति अपने एकता के काल में ऐसे ही वर्गों में विभक्त रही होगी। 'जन' के लिये निम्न समीकरण दिया जाता है :

ग्रीक—γένος, लैटिन—gēns, गोथिक,—kuni, प्रा० नोर्स—kyn, kind, प्रा० इंग्लिश—cyn (n) म० इंग्लिश—kin, प्रा० उच्च जर्मन—

१. अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १७।
२. Buck : *op. cit.*, p. 1310.
३. स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभि :। ऋक् २, २६, ३।

cunni, म० उच्च जर्मन—künne, संस्कृत—जाति, जन।[1]

वैदिक 'जन' रोमन 'ट्राइब' के, वैदिक 'विश्' रोमन 'क्यूरिया' के और वैदिक 'जन्मन्' रोमन 'जेन्स' के बराबर था।[2]

इन तीनों वर्गों में सबसे अधिक कर्मशील वर्ग परिवार (जन्मन्) ही था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इण्डो-यूरोपीय काल में सब गति-विधियों का केन्द्र परिवार था। परिवार का मुख्य पुरुष गृहपति या दम्पति (ग्रीक—δεσποτης स्त्री० δέσποινα, इण्डो-यूरोपीय *δεμσ—ποτ से निःसृत; अवस्ता – dəng-pati) पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न होता था। घर की सब सम्पत्ति का वही स्वामी होता था। कदाचित् भू-सम्पत्ति पर इण्डो-यूरोपीय काल में वैयक्तिक अधिकार नहीं हुआ था। कृषि की भूमि 'विश्' की सम्पत्ति मानी जाती थी। बाडेनपावल का विचार है कि भारतवर्ष में आधुनिक काल तक कुछ प्रदेशों में भूमि पर ग्राम-पंचायत का स्वामित्व होता था।[3]

३. इण्डो-यूरोपीय परिवार का संगठन

इण्डो-यूरोपीय जाति भी अन्य आदिम जातियों के समान मानव-विज्ञान-शास्त्रियों द्वारा वर्णित परिवार संस्था की उन सभी अवस्थाओं में से होकर परिवार के उस रूप को प्राप्त हुई होगी, जिसके दर्शन हमें इण्डो-यूरोपीय जाति के प्राचीन वाङ्मय में होते हैं। मानव-विज्ञान-शास्त्रियों के अनुसार प्रायः सभी आदिम जातियों में पितृसत्ता से पूर्व मातृसत्ता रही है और सांस्कृतिक उन्नति के साथ समाज का संगठन मातृसत्ता से पितृसत्ता की ओर परिवर्तित हुआ है। ग्रीक, ट्यूटन आदि सभी प्राचीन इण्डो-यूरोपीय जातियों के सामाजिक संगठन में भी कुछ विद्वानों[4] ने मातृसत्ता के अवशेष ढूँढ निकाले हैं और प्राचीन समय में मातृसत्ता की स्थिति बतलाई है। लेकिन यहाँ हमारा लक्ष्य इण्डो-यूरोपीय जाति के उस आदिम सामाजिक संगठन का विवेचन नहीं है जिनमें से होकर इण्डो-यूरोपीय जाति गुजरी होगी। यहाँ हमारा लक्ष्य केवल उस अवस्था के पारिवारिक संगठन का विवेचन है जिस अवस्था तक हमें इण्डो-यूरोपीय जाति के प्राचीन वाङ्मय का साक्ष्य ले जाता है, क्योंकि इण्डो-यूरोपीय जाति के तत्कालीन सामाजिक संगठन के ज्ञान का एकमात्र साधन

---

१. Buck : *op. cit*, p. 1316.

२. अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १७।

३. *Indian Village Community.*

४. Noted in *E. R. E.*, Vol. VIII, p. 856 *b*.

प्राचीन इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर आश्रित भाषा-विज्ञान है, जिसकी सीमाओं के विषय में पहले कहा जा चुका है। हो सकता है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों में भी आदिम अवस्था में मातृसत्ता रही हो, लेकिन भाषा के साक्ष्य से उनमें मातृसत्ता या सामूहिक-विवाह प्रथा को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[1]

जैसा कि इण्डो-यूरोपीय भाषाओं की पारिवारिक सम्बन्धों की वाचक शब्दावली के साक्ष्य से विदित होगा, इण्डो-यूरोपीय परिवार पितृसत्ताक परिवार था। वह पिता या दादा, किसी वृद्ध पुरुष के अधीन होता था। पिता या अन्य वृद्ध पुरुष के अभाव में ज्येष्ठ भाई परिवार का संचालक होता था, जिसके अधीन उसकी माता, छोटे भाई और उनकी पत्नियाँ तथा अविवाहित बहिनें रहती थीं। इण्डो-यूरोपीय परिवार के सदस्य केवल पिता के पक्ष के पुरुष सम्बन्धी (agnates)—पिता के भाई, उसके तथा भाइयों के पुत्र, उसके अपने तथा भाइयों के पुत्रों के पुत्र, इनकी पत्नियाँ तथा अविवाहित पुत्रियाँ और पौत्रियाँ होते थे। विवाहित पुत्रियाँ तथा उनकी सन्तान परिवार के सदस्य नहीं होते थे। इण्डो-यूरोपीय परिवार पर्याप्त विशाल होता था, जिसमें कई पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते थे। इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की प्रमुख भाषाओं में माता-पिता, स्वसा-भ्राता, तथा पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त चाचा-भतीजे तथा दादा-पोते के लिये भी समान शब्द पाए जाते हैं। भाषा-विज्ञान के साक्ष्य के अतिरिक्त इण्डो-यूरोपीय काल की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी हमारी इस कल्पना को पुष्ट करती है। जैसा कि पहले कहा गया है, इण्डो-यूरोपीय काल के आर्य यायावर थे। उनका मुख्य व्यवसाय पशु-पालन था, कृषि केवल प्रारम्भिक अवस्था में थी।[2] उन्हें आदिम निवासियों के साथ संघर्ष करना पड़ता था तथा घने जंगलों में हिंस्र जन्तुओं तथा लुटेरों से अपने पशुओं तथा स्त्री-वर्ग की

---

१ Max Müller : *Biographies of Words*, p. XVII.

२. आईजक टेलर का विचार है कि आदिम इण्डो-यूरोपीय लोग कृषि नहीं करते थे, क्योंकि प्राचीन प्राप्त वस्तुओं में अनाज नहीं मिलता है; दूसरे, मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में फसल की ऋतु के वाचक शब्द का अभाव है। वे केवल एक अनाज को जानते थे जो कि जंगली उपज थी, मनुष्य के परिश्रम से विवेकपूर्वक उत्पादित नहीं।

—(देखिये, *Origin of Aryans*, p. 165)

रक्षा करनी पड़ती थी। छोटे परिवार के लिये अकेले इन विरुद्ध परिस्थितियों का सामना करना असम्भव था। दूसरे, भू-सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व उस काल तक स्वीकार नहीं हुआ था। यह सत्य है कि उस काल में अध्यवसायी पुरुष के लिये कृषि करने के लिये विस्तृत भू-खण्ड पड़ा था; लेकिन यह भी स्मरणीय है कि तत्कालीन तुच्छ उपकरणों से भूमि को कृषि-योग्य बनाना एक या दो पुरुषों के लिये असम्भव ही था।

लाइस्ट ने, इस आधार पर कि प्राचीन समय में भारतीय, ग्रीक और ट्यूटन लोगों में ऐसी प्रथा थी कि जब पुत्र का विवाह हो जाता था, तो उसे पिता से अलग होकर पृथक् गार्हपत्य अग्नि का आधान करना पड़ता था और नया घर बसाना पड़ता था, यह कल्पना की है कि इण्डो-यूरोपीय काल में भी इण्डो-यूरोपीय लोगों का परिवार माता-पिता तथा सन्तान का ही परिवार होता था। श्राडर[१] ने लाइस्ट के इस मन्तव्य का विरोध किया है। श्राडर का विचार है कि इण्डो-यूरोपीय जाति की यायावरीय (nomadic) अथवा अर्ध-यायावरीय तथा प्रारम्भिक कृषि की अवस्था में एकाकी परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवार का इस प्रकार का स्थानीय पृथक्-भाव केवल तभी सम्भव है, जब संस्कृति की स्थायी कृषि की अवस्था आ जाये तथा भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार कर लिया जाये। इसलिये इण्डो-यूरोपीय परिवार का मूल स्वरूप अन्य प्रकार के संगठन में ही खोजना चाहिये, जो कि अनेक इण्डो-यूरोपीय जातियों में पाया जाता है और जिसकी लाइस्ट ने बिल्कुल अवहेलना कर दी है। ऐसा संगठन हिन्दुओं का 'संयुक्त-परिवार', आयरिश लोगों का 'सेप्ट' तथा स्लाव लोगों का 'हाउस-कम्यूनिटी' या 'जद्रुगा' है।

क्राउस[२] (Krauss) के अनुसार 'जद्रुगा' में दो-दो, तीन-तीन पीढ़ियों के साठ या सत्तर सदस्य होते हैं जो परस्पर रक्त-सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं। उनका प्रधान घर का व्यवस्थापक होता है, जिसे 'दोमाशिन्' (dɔmacin) कहा जाता है। उसका 'जद्रुगा' में बड़ा मान होता है, लेकिन वह घर तथा सम्पत्ति का स्वामी नहीं होता, जैसा कि रोमन 'पैटर फैमिलिया' (Pater familia) होता था। सम्पत्ति पर 'जद्रुगा' के प्रत्येक वयस्क सदस्य का समानाधिकार होता है। 'जद्रुगा' एक स्थान पर रहता है, लेकिन वास्तविक

---

१ *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples*, ch. XII.

२. F. Krauss : *Sitte und Brauch der Südslaven*, p. 64 ff.

घर पर, जा कि अग्नि का स्थान होता है, गृह-व्यवस्थापक और उसका परिवार रहता है और उसके चारों ओर घोड़े के खुर के आकार में दूसरे सदस्यों के शयन-स्थान होते हैं। 'दोमाशिका'—गृह व्यवस्थापक की पत्नी—सत्र के भोजन का प्रबन्ध करती है, जिसे सब सदस्य मिलकर खाते हैं। पहले पुरुष खाते हैं और बाद में स्त्रियाँ। 'दोमाशिन्' सब के अन्त में भोजन करता है।[१]

ग्रीक तथा रोमन जातियों में भी प्राचीन काल में संयुक्त-परिवार की प्रथा के चिह्न पाये जाते हैं। रोम में पितृपक्षीय पुरुष सम्बन्धी (agnates) एक ही साथ रहते थे। क्रासस (Crassus) के लिये कहा जाता है कि उसका पालन उसके दो भाइयों के साथ एक छोटे-से घर में हुआ था। उनके माता-पिता के जीवन काल में उसके भाइयों की पत्नियाँ भी थीं और वे सब मिलकर एक मेज पर बैठते थे।[२] यूनान में होमर के ग्रन्थों में संयुक्त परिवार के उदाहरण मिलते हैं। नेस्टर (Nestor) का परिवार ऐसा ही था। जीवन्स[३] ने एटिक कानून से संयुक्त-परिवार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। स्पार्टा में पैतृक सम्पत्ति (κλῆρος) के अविभाज्य होने के कारण सब भाई एक साथ रहते थे। बड़ा भाई सम्पत्ति का वास्तविक उत्तराधिकारी (ἑστιπάμων) होता था और दूसरे विवाहित या अविवाहित भाई पैतृक सम्पत्ति के उपयोग के अधिकारी होते थे। इस प्रकार इण्डो-यूरोपीय जाति की विभिन्न शाखाओं में प्राचीन समय में जैसी पारिवारिक संस्था मिलती है, वैसी ही पारिवारिक संस्था मूल इण्डो-यूरोपीय जाति में भी रही होगी। श्राडर ने कहा है—'मेरे विचार में यदि मूल इण्डो-यूरोपीय परिवार की कल्पना विभक्त परिवार की अपेक्षा स्लावों की 'हाउस कम्यूनिटी' से मिलती-जुलती करें तो हम सत्य के अधिक निकट होंगे।'[४] लेकिन मूल इण्डो-यूरोपीय परिवार का स्लाव के 'जद्रुगा' से यह अन्तर अवश्य रहा होगा कि इण्डो-यूरोपीय परिवार का गृहपति रोम के 'पैटर फैमिलिया' के समान पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न होता होगा।

---

१. पारस्करगृह्यसूत्र (२,६) में भी गृहपति को सब के बाद में भोजन करने का विधान किया गया है।

२. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples*, ch. XII.

३. Jevons : "Kin and Custom", *Journal of Philology*, 16, p. 102 ff.

४. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples*, ch. II.

गृहपति की मृत्यु के उपरान्त ज्येष्ठ पुत्र पर अपने पिता के सम्पूर्ण अधिकार संक्रान्त हो जाते थे। परिवार की सब स्त्रियाँ, माता और बहिनें, उसके संरक्षण में आ जाती थीं। भाई की महत्ता ऋग्वेद से भी प्रकट होती है।[१] भारतीय आर्यों में कदाचित् भाई के अभाव में बहिनों की पर्याप्त दुर्दशा रहती थी; धर्मशास्त्रकारों ने तो भ्रातृहीन कन्या को विवाह के अयोग्य घोषित कर दिया था।[२] रोमन परिवार में पिता की मृत्यु के उपरान्त परिवार के पुत्र ही माता तथा बहिनों के संरक्षक होते थे। यूनान में भी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी पुत्र अपनी बहिनों तथा माता के 'कुरिओई' (κυριοι) होते थे।[३]

यद्यपि प्राचीन ट्यूटानिक परिवार में माता के भाई (मामा) का बड़ा महत्त्व था, लेकिन फिर भी 'avunculus' (मामा) की अपेक्षा patruus (चाचा) को सम्पत्ति के वसीयतनामे में पहले स्थान दिया जाता था। इससे इस मत को और भी अधिक बल प्राप्त होता है कि इण्डो-यूरोपीय काल में इण्डो-यूरोपीय जातियों के परिवार पितृपक्षीय पुरुष सम्बन्धियों (agnates) के होते थे।

अब प्रश्न यह है कि आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में 'परिवार' के लिए किस शब्द का प्रयोग होता था। इस समय इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की विभिन्न भाषाओं में 'परिवार' के लिये प्रयुक्त होने वाले शब्दों में अत्यधिक विभिन्नता पाई जाती है।[४] यूरोपीय भाषाओं में परिवार के लिए प्रयुक्त शब्द प्रायः familia से सम्बद्ध पाये जाते हैं, जो कि famulus (सेवक) शब्द से निष्पन्न हैं। श्राडर ने इटालियन famedias, आस्कन famalo, लैटिन famelia को संस्कृत—धामन् से सम्बद्ध किया है।[५] ट्यूटानिक में hīw, hīwa शब्द का मुख्यतया घर के सदस्यों के लिये प्रयोग हुआ है : गोथिक—heiwa-

---

१. ऋग्वेद १, १२४, ७।

२. मनु० ३, ११ ; याज्ञ० १, ५३।

३. Schrader : *op. cit.*

४. लैटिन—familia ; आयरिश—teglach; वेल्स—teulu; ब्रेटन—tiegez, tiad; गोथिक—gards ; प्रा० नोर्स—hju, hjūn; लिथु०—seima ; बोहेमि०—rodina ; रूसी—semja ; संस्कृत—कुल ; अवस्ता—nāfa ; प्रा० उच्च जर्मन—hīwiski (cf. Buck : *Ibid*, p. 133)।

५. Schrader : *op. cit.* तुलना कीजिये—संस्कृत—धामन् (घर) आस्कन—faamat (आवास-स्थान)।

fruja (गृहपति), A. S.—hīrīd, hiwroeden (परिवार), प्रा० उच्च जर्मन—heiat (विवाह)। वेद में घर के वाचक 'धामन्'[१] और 'गृह'[२] दोनों शब्द परिवार के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। परिवार के लिये अवस्ता में 'mnāna' और प्राचीन फारसी में 'māniya' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इण्डो-यूरोपीय काल में 'परिवार' के भाव को प्रकट करने वाले मूल शब्द की स्थापना करना असम्भव-सा है। लेकिन ऊपर दिए गये विभिन्न इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में प्रचलित परिवार-वाचक शब्दों के अध्ययन से पता चलता है कि घर के वाचक शब्द अथवा उनसे कोई प्रत्यय जुड़कर बने हुए शब्द ही 'परिवार' के भी वाचक हैं; इसलिए यह कहा जा सकता है कि इण्डो-यूरोपीय जाति में 'परिवार' का भाव घर के सम्बन्ध से ही उत्पन्न हुआ था। एक स्थान पर एक घर में साथ रहने वाले व्यक्तियों को सामूहिक रूप से 'घर' के वाचक शब्द से संकेतित किया जाने लगा होगा।

इसलिए 'परिवार' के लिए प्रयुक्त होने वाले मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द को खोज निकालने के लिए यह आवश्यक है कि 'घर' के वाचक मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द की खोज की जाय। घर का वाचक ऐसा शब्द जो प्रायः सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'परिवार' या 'कुटुम्ब' के अर्थ में किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, संस्कृत—दम, ग्रीक—δομος, और लेटिन domus, तथा संस्कृत—दम्पति और ग्रीक—δεσποτης इत्यादि में दृष्टिगोचर होने वाला *'देम' (*dem) या *'दोमो' (*domo) है।[३] अतः बहुत सम्भव है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों में संयुक्त-परिवार को 'देम' या 'दोमो' (dem or domo) और उसके प्रधान पुरुष को 'देम्स्पोतिस्' (dem-s-potis) कहा जाता हो।

४. इण्डो-यूरोपीय काल में पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक शब्द

(अ) एकाकी परिवार के सदस्य—पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन (आ) पूर्वज और अनुवंशज—दादा-पोता, चाचा-भतीजा, (इ) पितृपक्षीय स्त्रियाँ (ई) मातृबन्धु (उ) विवाह-जात सम्बन्धी—पति, पत्नी, पुत्रवधू, श्वशुर आदि।

इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं में पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक शब्दों के ऐसे अनेक समूह हैं जिनसे पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक

---

१. Monier-Williams : *Sans. Dict.*, S. V. Dhāman.

२. *Ibid*, S. V. गृह।

३. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples*, ch. XII.

मूल इण्डो-यूरोपीय शब्दों का संकेत मिलता है। माता, पिता, सूनु, दुहिता, भ्राता और स्वसा ऐसे सम्बन्ध हैं जिनके लिये प्रायः सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में समान शब्द पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक सम्बन्ध हैं, जिनके वाचक समान शब्द प्रायः सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं। ऐसे सम्बन्धों में मुख्यतया पोता, भतीजा और चाचा तथा विवाह-सम्बन्धियों में से पुत्रवधू, श्वशुर, सास, देवर, ननद तथा देवरानी (जेठानी) हैं। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में इन सम्बन्धों के वाचक शब्दों की समानता से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यह सम्बन्ध इण्डो-यूरोपीय जाति की एकता के काल में स्वीकार कर लिये गये थे। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में जिन सम्बन्धों के लिये समान शब्द मिलते हैं, वे सभी, केवल पुत्रवधू को छोड़कर, पिता के सकुल्य हैं। इसलिये इण्डो-यूरोपीय काल में मातृसत्ता का कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता है। 'मामा' के लिये इण्डो-यूरोपीय भाषा में समान शब्द नहीं हैं, जिससे यह विश्वास किया जा सकता है कि उस काल में माता के भाई या मातृकुल के अन्य सदस्यों की कोई महत्ता नहीं थी, और उनका कुल के विवाहित स्त्री सदस्य से या उसकी सन्तान से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। स्त्री का विवाह हो जाने पर अपने पितृकुल से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था और वह पूर्ण रूप से पति-कुल की हो जाती थी। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक शब्दों के पर्यवेक्षण से एक अन्य उल्लेखनीय बात का पता चलता है। वह यह है कि इण्डो-यूरोपीय जाति की एकता के काल में ही विवाह की संस्था सम्यक्तया व्यवस्थित हो गई थी, क्योंकि सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में पुत्रवधू के लिए संस्कृत 'स्नुषा' से सम्बद्ध शब्द प्राप्त होते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'विवाह', 'विवाह करना' तथा पति-पत्नी के लिए प्रयुक्त शब्दों में बहुत विभिन्नता है, तथापि उस काल में विवाह-संस्था की सत्ता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। कदाचित् इण्डो-यूरोपीय काल में 'पति' और 'पत्नी' के लिए पुरुष और स्त्री अथवा स्वामी और स्वामिनी के वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता हो, क्योंकि सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'पति' और 'पत्नी' के लिये प्रयुक्त शब्द इन्हीं अर्थों के बोधक हैं।

मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा से प्राप्त हुए पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक शब्द प्रायः 'तर्' या 'अर्' या 'ओर्' प्रत्यय जुड़कर बने हैं।[1] क्योंकि यह प्रत्यय

१. मिलाइये, संस्कृत—पितर्, मातर्, भ्रातर्, दुहितर्, जामातर्, यातर्, देवर्, स्वसर्।

अधिकतर कर्तृवाचक शब्दों में प्रयुक्त हुआ है, इसलिये पहले प्रायः यह माना जाता था कि ये सब शब्द धातुओं से प्रत्यय जुड़कर बने हुये कर्तृवाचक शब्द हैं: जैसे, 'पिता'—'पालन करने वाला', 'माता'—'नापने वाली या काटने वाली', 'भ्राता'—'पोषण करने वाला', 'दुहिता'—'दोहने वाली' इत्यादि ।[१] लेकिन पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक शब्दों की इस प्रकार की व्याख्या प्रायः मनःकल्पनाप्रसूत तथा सारहीन है और अब इसे प्रायः छोड़ दिया गया है ।[२] स्ट्राइटबर्ग (Streitberg) के अनुसार 'पितर्', 'मातर्' आदि सम्बन्धवाचक शब्द लैटिन—dexter vs. sinster और noster vs. vester आदि द्वन्द्व-वाचक शब्दों में दृष्टिगोचर होने वाले—tero—(—ero) प्रत्यय जोड़कर द्वन्द्व अर्थ में निष्पन्न हुए हैं ।[३]

तथ्य तो यह है कि इण्डो-यूरोपीय भाषा से प्राप्त सम्बन्ध-वाचक शब्दों की मूल धातु और उनका मूल अर्थ जानना अत्यन्त कठिन है । उनके विषय में केवल अनुमान ही किया जा सकता है । लैटिन के pater, māter शब्द कदाचित् बच्चों की बोली के Pā, Mā पर आधारित हैं, जिनका वास्तव में कोई अर्थ नहीं । उनमें अन्य विरुद्धार्थक युग्मों के वाचक शब्दों की समानता के आधार पर 'तर्' प्रत्यय जोड़ दिया गया है । प्रत्यय जुड़कर बने हुए शब्दों के साथ-साथ ही मूल Pā, Mā का भी प्रयोग चलता रहा । जबकि pater, māter शब्दों का निश्चित अर्थ में ही प्रयोग हुआ, Pā, Mā शब्दों के प्रयोग में नियमितता नहीं आ पाई, क्योंकि 'पा', 'मा' या 'पापा', 'मामा' स्नेह के कारण रक्खे हुये नाम थे जो विभिन्न भाषाओं में विभिन्न विशिष्ट अर्थों में बदल गये । बच्चों की बोली पर आश्रित सम्बन्धवाचक शब्दों का विश्व की सभी भाषाओं में प्रचलन है और उनका सम्बन्धवाचक शब्दों में महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

(अ) एकाकी परिवार के सदस्य—यद्यपि इण्डो-यूरोपीय लोगों का परिवार, जैसा कि ऊपर कहा गया है, पर्याप्त विशाल होता था और परिवार के प्रत्येक सदस्य के एक दूसरे के प्रति निश्चित कर्त्तव्य होते थे, फिर भी अन्य समाजों के परिवारों के समान इण्डो-यूरोपीय जाति के 'संयुक्त-परिवार' में भी माता-पिता तथा सन्तान परिवार के केन्द्रस्थानीय होते थे और उनके परस्पर

---

१. Max Müller : *Biographies of Words*, p. XVI ff.
२. Buck : *Dictionary*, p. 93.
३. Streitberg : I.F. 35,196, quoted by Buck, p. 93.

सुनिश्चित कर्त्तव्य तथा अधिकार होते थे। इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की विभिन्न शाखाओं में अब भी इन सम्बन्धों के वाचक शब्दों का मूल रूप और अर्थ सुरक्षित है। पहले इन्हीं सम्बन्धों के वाचक शब्दों का विवेचन अभीष्ट होगा।

पिता : संस्कृत—पितर्; अवस्ता—pitar; आर्मीनियन—hair; ग्रीक—πατήρ; लैटिन—pater; आयरिश—athīr; गोथिक—fadar।[१]

माता : संस्कृत—मातर्; अवस्ता—mātar; आर्मीनियन—mair; ग्रीक—μήτηρ; लैटिन—māter; आयरिश—māthir; प्रा० उच्च जर्मन—muotar; प्रा० स्लाव—mati; लिथु०—mote 'स्त्री' (motyna 'माता'), अल्बानियन—motre, 'बहिन'।[२]

माता पिता के लिए प्रयुक्त यह वह शब्द-समूह है जो कि 'तर्' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है। इसके अतिरिक्त सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'माता' 'पिता' के वाचक ऐसे शब्दों का भी विशाल भण्डार है जो केवल बच्चों की ध्वनि के अनुकरण पर बने हैं। जैसे—

पिता : संस्कृत—तात, तत; ग्रीक—τέττα; लैटिन—tata (शिला-लेखों में बहुधा प्रयुक्त); रुमानियन—tată; ब्रिटन—tad; नू० अंग्रेजी—dad; लिथु०—tėtis, tėwas; लेटिश—tēvs, teta; अल्बानियन—tate; ग्रीक—ἄττα; लैटिन—atta; गोथिक—atta; प्रा० स्लाव—otĭcĭ; अल्बानियन—at; हिट्टाइट—attas।[३]

माता : संस्कृत—नना, ग्रीक—νάννα, νέννα ('aunt' : paternal फूफी; maternal मौसी); अल्बानियन—nene; ग्रीक—μάμμη (दादी अर्थ में भी); लैटिन—mamma (दादी और धात्री भी); इटालियन—mamma; फ्रैंच—mama; नू० अंग्रेजी—mamma; प्रा० उच्च जर्मन—muoma, 'aunt', बाद में, niece or cousin (नू० उच्च जर्मन muhme); ग्रीक—ἀμμά; प्रा० नोर्स—amma (दादी), प्रा० उच्च जर्मन—amma (माता, धात्री); लैटिन—amita = 'aunt'; अल्बानियन—amë 'माता'।[४]

---

१. Buck : *A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages*, p. 103.

२. *Ibid.*

३. *Ibid*, p. 94.

४. *Ibid.*

ऊपर के भाषा-वैज्ञानिक समीकरणों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि इण्डो-यूरोपीय मूल भाषा में पिता तथा माता के लिये प्रत्ययान्त 'पितर्, मातर्' से सम्बद्ध तथा बच्चों की बोली के अनुकरणात्मक 'तत, नना या मम्म' से सम्बद्ध दोनों ही प्रकार के शब्द प्रचलित थे। संस्कृत में तथा पश्चिमीय यूरोप की भाषाओं में दोनों प्रकार के शब्दों का प्रचलन रहा, जबकि पूर्वीय यूरोप की भाषाओं में बच्चों की बोली के अनुकरणात्मक शब्दों का प्रचलन इतना लोकप्रिय हो गया कि या तो उन शब्दों ने माता और पिता के वाचक प्रत्ययान्त शब्दों का पूर्ण रूप से स्थान ग्रहण कर उनका लोप कर दिया अथवा उनके अर्थ परिवर्तित कर दिये।

माता-पिता दोनों के लिये एक शब्द मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में नहीं मिलता। यह भाव अलग-अलग भाषाओं में निम्न प्रकार के शब्दों से प्रकट किया जाता है :[1] ग्रीक—τοκεῖς, (τίκτω उत्पन्न करना धातु से); लैटिन—parentēs (par—'उत्पन्न करना' धातु से); लिथु०—gimdytojai 'उत्पादक' (gimdyti 'उत्पन्न करना' धातु से); गोथिक—bērusjōs; प्रा० उच्च जर्मन—eltiron 'बूढ़े'; गोथिक—fadrein ('परिवार', 'माता-पिता', fadar 'पिता' शब्द से निष्पन्न); चर्चस्लाव—roditeli (तथा अन्य स्लाव शब्द roditi 'उत्पन्न करना, धारण करना' धातु से निष्पन्न); संस्कृत—'पितरौ', 'मातरौ' 'माता-पितरौ' (द्वन्द्व समास); अवस्ता—pitarə (पितर)।

इस प्रकार 'माता-पिता' दोनों के अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द 'उत्पन्न करना' अर्थ की धातुओं से या 'वृद्ध' अर्थ के वाचक शब्दों से, अथवा 'पितर्' से निष्पन्न हैं। इनका बोध कराने के लिये 'पितर्' द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग भी होता है। संस्कृत में 'मातर्' शब्द का द्विवचन भी माता-पिता के लिये प्रयुक्त हुआ है।

पुत्र—संस्कृत—सूनु; अवस्ता—**hunu**; ग्रीक—υἱός; गोथिक—sunus; लिथु०—sūnus; चर्च स्लाव—synŭ; संस्कृत—पुत्र; अवस्ता—puθra; आस्कन—puklum.

पुत्री—संस्कृत—दुहितर्; अवस्ता—dugədar, duγδar; आर्मीनियन—dustr (uster 'पुत्र'); ग्रीक—θυγάτηρ; गोथिक—dauhtar; लिथु०—duktė; प्रा०स्लाव—dŭšti.

---

१. *Ibid*, p. 104.

भाई—संस्कृत—भ्रातर्; अवस्ता—brātar; आर्मीनियन—elbair; गोथिक—brōpar; लिथु०—broterėtis; प्रा० स्लाव—bratrŭ.

बहिन—संस्कृत—स्वसर्; अवस्ता—x^{v}anhar; आर्मीनियन—koir (ग्रीक ἔορ); लैटिन—soror; आयरिश—siur; गोथिक—swistar; लिथु०—sesuo; प्रा० स्लाव—sestra.

पुत्र, पुत्री, भाई और बहिन इन सम्बन्धों के लिये मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द क्रमशः *sūnu या *suyu, *dhugh(ə)ter, *bhrāter और *swesor हैं। इण्डो-यूरोपीय *sūnu सम्भवतया संस्कृत की √सू 'उत्पन्न करना' अर्थ की धातु से सम्बद्ध है जिसका मूल-अर्थ 'उत्पत्ति', 'सन्तान' रहा होगा और बाद में विशिष्ट अर्थ 'पुत्र' हो गया।[1] *dugh(ə)ter शब्द का धातु से सम्बन्ध अज्ञात है। इसकी धातु आकृति में संस्कृत—√दुह् दोहना और ग्रीक धातु—τεύχω 'बनाना' से मिलती है, लेकिन इनमें से कोई-सी धातु से अर्थ की दृष्टि से इस शब्द की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती है।[2] *bhrāter शब्द √*bher 'पोषण करना' अर्थ की धातु से बना है। वह कदाचित् बहिनों की रक्षा एवं पोषण करने के कारण 'भ्राता' कहलाता था।[3] लेकिन इस प्रकार की व्याख्या के लिये इण्डो-यूरोपीय काल से कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। *swesor सम्भवतया निजवाचक 'swe' का 'sor' के साथ समास होकर बना है। 'sor' ग्रीक भाषा के बहुत कम प्रयुक्त होने वाले ὄαρ 'पत्नी', अवस्ता—hairiši 'स्त्री', लैटिन—uxor 'पत्नी' और संस्कृत के 'तिस्रः' (तीन) जैसे शब्दों से सम्बद्ध है।[4]

एक ओर लैटिन भाषा में 'पुत्र' और 'पुत्री' के लिये प्रयुक्त मूल इण्डो-यूरोपीय *sūnu और *dhugh (ə) ter का लोप हो गया है और उनके स्थान पर 'filius' 'filia' का प्रयोग पाया जाता है। दूसरी ओर ग्रीक भाषा में 'भाई' और 'बहिन' के वाचक मूल इण्डो-यूरोपीय *bhrāter और *swesor शब्दों का स्थान ἀδελφός 'भाई' और ἀδελφή 'बहिन' ने ले लिया है। ग्रीक—ἀδελφos, इण्डोयूरोपीय—*α–δελφos (eos) का संस्कृत—सगर्भ्य 'समान गर्भ से उत्पन्न', 'सगा' के साथ समीकरण किया जाता है।

१. *Ibid*, p. 105.
२. *Ibid*, p. 106.
३. *Ibid*, p. 107.
४. *Ibid*, p. 108; Walde-Pokorni, 2·533 *f*.

संस्कृत सहार्थक 'स' (ग्रीक—ἀ) का संस्कृत—गर्भ (=ग्रीक δελφύς, गर्भ) के साथ समास हुआ है।[१] निस्सन्देह पहले यह शब्द एक पिता से उत्पन्न भाइयों में से एक माता से उत्पन्न भाइयों का भेद करने के लिये भाई के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाता था, लेकिन बाद में जब ग्रीक जाति के 'फ्रेटरी' नामक सामाजिक वर्ग के प्रत्येक सदस्य को 'φράτηρ' कहा जाने लगा तो समान-रक्त के भाइयों का फ्रेटरी' के सदस्यों से भेद करने के लिये ἀδελφός विशेषण जोड़ा गया।[२] और बाद में चलकर ग्रीक भाषा में भाई के लिये केवल ἀδελφός शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया।

(आ) **पूर्वज तथा अनुवंशज**—पूर्व वर्णित सम्बन्धों के वाचक शब्दों में अर्थ और रूप की दृष्टि से इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में व्यापक समानता दृष्टि-गोचर होती है। पितर्, मातर्, भ्रातर्, स्वसर् और दुहितर् सारे शब्द, केवल 'सूनु' को छोड़कर, सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'तर्' या 'अर्' प्रत्यय से बने हैं। सब इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में उनके अर्थ में भी, केवल यत्र तत्र कुछ अपवादों को छोड़कर, अत्यधिक स्थिरता है। लेकिन इस खण्ड में जिन पारि-वारिक सम्बन्धों का आगे वर्णन अभीष्ट है, उनके वाचक शब्दों में न तो आकृति की समानता है और न ही उनके अर्थों में स्थिरता परिलक्षित होती है। उनके अर्थ निरन्तर परिवर्तित होते रहे प्रतीत होते हैं।

इन पारिवारिक सम्बन्धों में से 'पिता के भाई' के वाचक शब्दों में रूप और अर्थ दोनों ही दृष्टि से सबसे अधिक एकरूपता पाई जाती है। 'पिता का भाई' संस्कृत में पितृव्य; अवस्ता में tūiryō; ग्रीक में πάτρως; लैटिन में patruus; प्रा० उच्च जर्मन में fatūreo; एंग्लो-सेक्सन में faedera कहलाता है। यूरोपीय भाषाओं में 'दादा' के वाचक शब्द 'पिता के भाई' के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं जैसा कि निम्न सिरीज़ (series) से प्रकट होता है :—

प्रा० स्लाव=dědŭ, 'दादा'; ग्रीक—τήθη; 'दादी'; लिथु०—dědis, 'पिता का भाई'; ग्रीक—θεῖος 'चाचा, मामा'।

इण्डो-यूरोपीय-भाषा-परिवार की भाषाओं में दादा या नाना को प्रायः 'पिता (माता) का पिता' जैसे वर्णनात्मक पद-समूह से बोधित किया जाता है। कुछ भाषाओं में 'पिता' या 'माता' से 'महान्' 'वृद्ध' या 'श्रेष्ठ' अर्थ के विशेषण जोड़कर भी दादा या नाना का बोध होता है। कुछ भाषाओं में इन

१. Walde-Pokorni, 1·692, quoted by Buck, p. 107.
२. Buck : p. 107.

सम्बन्धों के लिये स्नेहसूचक विशेष नाम भी पाये जाते हैं, जो बच्चों की बोली के शब्दों अथवा स्नेह के नामों पर आधारित हैं। जैसे :—ग्रीक—πάππος, लेटिन avus, प्रा० उच्च जर्मन—ano, चर्च स्लाव—dědŭ। संस्कृत में दादा के लिये प्रयुक्त 'पितामह' शब्द 'पिता' से 'मह' जोड़कर बनाया गया है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि इण्डो-यूरोपीय काल में 'पिता के पिता' से कोई सम्बन्ध नहीं होता था, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि दादा के लिये कोई मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द स्थापित नहीं किया जा सकता है। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में इस सम्बन्ध के वाचक शब्दों की असमानता और अर्थ की अस्थिरता का कारण कदाचित् यह है कि 'दादा' के 'पोते' के प्रति कोई सुनिश्चित सामाजिक कर्त्तव्य नहीं थे।

जिस प्रकार लैटिन 'avus' और प्राचीन स्लाव 'dědŭ' का अर्थ बदलकर क्रमशः 'माता का भाई' और 'पिता का भाई' हो गया है, उसी प्रकार का परिवर्तन इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'पोते' के वाचक शब्दों में भी परिलक्षित होता है। *nepot स्त्री० *nepti मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द से निकले हुए नाम इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं में व्यापक रूप से पाये जाते हैं और उनका प्रयोग 'पोते' के अतिरिक्त 'धेवते' और 'भतीजे' के साथ-साथ सामान्यतया 'अनुवंशज' के लिये भी होता है। *nepot सम्भवतया निषेधार्थक 'ne' का संस्कृत—पति 'स्वामी', लेटिन—potis 'समर्थ' में दृष्टिगोचर होने वाले प्रकृति-अंश से सम्बद्ध 'pot' से समास होकर बना हुआ शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'शक्तिहीन' है।[१] लेन्मान के मतानुसार *nepot का मूल-अर्थ अनाथ (orphan) है।[२] लेकिन इस शब्द का मूल अर्थ 'अनुवंशज' प्रतीत होता है। *nepot से सम्बद्ध विभिन्न इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में पाये जाने वाले शब्दों की माला नीचे दी जाती है,[३] जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि मूल शब्द के रूप और अर्थ विभिन्न भाषाओं में किस प्रकार बदल गये हैं।

संस्कृत : नपात् नप्तर्, ('अनुवंशज', 'पुत्र', विशेष-अर्थ 'पौत्र'; वैदिक भाषा में सामान्य रूप से अनुवंशज के लिये, लेकिन उत्तर काल में केवल 'पौत्र' के लिये प्रयुक्त); स्त्री० नप्ती—पुत्री या प्रपौत्री के अर्थ में।

---

१. Buck : p. 111.

२. E. Lenmann : *Festgruss an O. V. Böhtlingk*, p. 77.

३. मिलाइये, Fick : pp. 126–127; Buck : pp. 111—12.

ईरानी : अवस्ता—napāt 'पोता', नूतन पर्सियन—navād 'पोता', napti 'ज्ञाति'।

ग्रीक : νεποδες, 'brood', ἀ—νεψιος 'भाई या बहिन का बच्चा'।

लैटिन : nepōs—'पोता', 'grandson', बाद में 'भाई या बहिन का पुत्र' भी।

ट्यूटानिक : एंग्लो-सेक्सन—nefo, 'पोता', 'भतीजा, भानजा', प्रा० नोर्स—nefe, 'ज्ञाति'; प्रा० उच्च जर्मन—nefo, मध्य उच्च जर्मन—neve 'बहिन का पुत्र', 'भाई का पुत्र', केवल यदा कदा 'चाचा' भी, आगे चलकर 'ज्ञाति' मात्र; प्रा० नोर्स—nipat 'बहिन की पुत्री', प्रा० उच्च जर्मन—niftal, गोथिक—nipjis, 'ममेरा (फुफेरा) भाई'; प्रा० नोर्स—nidr, 'अनुवंशज', प्रा० स्लाव—netijĭ, 'भाई या बहिन का पुत्र', nestra 'भाई या बहिन की पुत्री', प्रा० आयरिश—nia 'बहिन का पुत्र'।

ऊपर दी गई शब्द-माला पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि *nepot से सम्बद्ध शब्दों के 'भाई या बहिन का पुत्र' और 'ममेरा या फुफेरा भाई' (cousin) अर्थ केवल यूरोप की भाषाओं में ही हैं जिनमें 'दादा' के वाचक शब्द 'मामा' अथवा 'पिता के भाई' के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

इण्डो-ईरानी भाषाओं में 'भाई के पुत्र' के लिये प्रयुक्त नाम का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है जिसका अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत में 'भाई का पुत्र' भ्रातृव्य कहलाता है जो अवस्ता के brātuirya से सम्बद्ध है।

(इ) पितृपक्षीय स्त्रियाँ—जिस प्रकार इण्डो-यूरोपीय भाषा में 'पिता के पिता' के लिये पिता के वाचक शब्दों से 'पिता' या 'बड़ा' आदि अर्थ के वाचक विशेषण जोड़कर बना शब्द प्रयुक्त किया जाता था, इसी प्रकार 'पिता की माता' के लिये बच्चों की बोली के शब्द या 'माता' से 'बड़ी' आदि अर्थों के वाचक विशेषण जोड़कर बने शब्द प्रयुक्त किये जाते थे। 'पिता की बहिन' (फूफी) और 'पिता की बहिन के पति' (फूफा) के लिये भी मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द का अभाव है। कुछ आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में पिता और माता की बहिन में कोई भेद नहीं किया जाता है, लेकिन कतिपय प्राचीन भाषाओं में इन दोनों सम्बन्धों के लिये भिन्न भिन्न शब्द थे। जैसे, लैटिन में amita (पिता की बहिन): mātertera (माता की बहिन); ट्यूटानिक भाषाओं में—प्रा० उच्च जर्मन basa, एंग्लोसैक्सन fapu, प्रा० फ्रे० fethe :

प्रा० उच्च जर्मन—**muoma**, एंग्लो-सैक्सन—mōdrie, डच—mödder; प्रा० स्लाव—**strina** (stryj चाचा): **teta, tetka**। ग्रीक में θεία, τηθίς, νχννη जैसे शब्दों में कोई भेद नहीं किया जाता। संस्कृत में 'फूफी' के लिये 'पितृष्वसा' और 'माता की बहिन, मौसी' के लिये 'मातृष्वसा' भिन्न भिन्न शब्द हैं, लेकिन दोनों ही शब्दों का प्रयोग अतिविरल है। अवस्ता में 'पिता की बहिन' के लिये 'tūirya' शब्द है जो कि tūiryá के सादृश्य पर बना है।

(ई) **मातृबन्धु**—इण्डो-यूरोपीय परिवार में केवल पत्नी का पति के कुल से सम्बन्ध होता था, पति का पत्नी के कुल से नहीं। इसलिये किसी कुल के पुत्रों के आत्मीय केवल पितृकुल के जन ही होते थे, मातृकुल के सदस्य नहीं। यही कारण है कि मातृबन्धुओं—माता के पिता, माता, भाई, बहिन आदि के लिये इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द स्थापित नहीं किये जा सकते हैं।

मातृकुल के सदस्यों से सम्बन्धों के अभाव का कारण इण्डो-यूरोपीय संस्कृति की आदिम अवस्था और विवाह प्रथा के प्रकार में निहित है। इण्डो-यूरोपीय लोगों की जीविका का मुख्य साधन पशु-पालन था और पशुओं के लिये घास की खोज में उन्हें यायावरीय (nomadic) जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसलिये यदि दो पड़ौसी परिवार विवाह-सूत्र में बंध भी जाते थे तो उन्हें आर्थिक कारणों से पृथक् हो जाना पड़ता था। पितृकुल और मातृकुल के आवास-स्थानों के निश्चित न रहने और उनमें देशगत अन्तर आ जाने के कारण परिवार के बच्चों का अपनी माता के कुल के सदस्यों से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता था। आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में मातृकुल से सम्बन्ध के अभाव का दूसरा कारण तत्कालीन विवाह-प्रथा थी। प्रायः पत्नी अपहरण के द्वारा प्राप्त की जाती थी। स्त्रियों का अपने पितृकुल से नितान्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था। जहाँ पत्नी शुल्क देकर भी प्राप्त की जाती थी, वहाँ भी उसके अपने पिता के कुल से सब सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते थे और वह पूर्ण-रूपेण पति-कुल की हो जाती थी। इसलिये इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि पुत्रों का अपनी माता के कुल से कोई सम्बन्ध न हो। लेकिन इण्डो-यूरोपीय जातियों के ऐतिहासिक काल में प्रवेश करते करते परिस्थितियाँ बहुत बदल गईं। जैसे ही उन्होंने कृषि को मुख्य व्यवसाय बनाया और निश्चित आवास बनाकर रहना प्रारम्भ किया कि उनमें मातृकुल से भी सम्बन्ध की स्थापना प्रारम्भ हो गई। अब तक केवल पत्नी का पति के कुल

से सम्बन्ध होता था, लेकिन अब पति का भी पत्नी के कुल से सम्बन्ध समझा जाने लगा, जिसके प्रथम लक्षण 'जामाता' सम्बन्ध को स्वीकार करने में प्रकट हुए। यह स्मरणीय है कि 'जामाता' के सम्बन्ध का आविर्भाव उस समय हुआ जबकि मूल इण्डो-यूरोपीय जाति अपने मूल-स्थान को छोड़कर अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त हो चुकी थी। क्योंकि 'जामाता' के वाचक शब्द केवल उन्हीं उपशाखाओं की भाषाओं में समान हैं जिनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् जो विच्छेद होने के बाद भी बहुत समय तक एक साथ रही हैं: इण्डो-ईरानी—संस्कृत – जामातर्=अवस्ता—zāmātar; लिथु० स्लावनिक—लिथु०—Źentas=प्रा० स्लाव Zęti.

जब (बच्चों की दृष्टि से) मातृकुल से सम्बन्ध की स्थापना हो गई तो पितृबन्धुओं के नाम के सादृश्य पर मातृबन्धुओं के भी नाम आविष्कृत कर लिये गये। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में प्रायः मातृबन्धु और पितृबन्धुओं के लिये समान शब्दों का प्रयोग होता है, लेकिन पहले उनके लिये भिन्न भिन्न शब्द प्रयुक्त होते थे।[1] आयरिश, डेनिश, स्विश, लेटिश आदि भाषाओं में अब भी पृथक् पृथक् नाम हैं। आधुनिक इण्डो-आर्यन भाषाओं में भी मातृबन्धु तथा पितृबन्धुओं के लिए भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है।

माता का पिता (नाना): ग्रीक (होमर)—μητρὸςπατήρ, μητροπάτωρ, प्रा० नोर्स—mōdur-fadir, स्वीडिश—morfar, संस्कृत—मातामह।[2]

माता की माता (नानी): ग्रीक (होमर) μητρόςμήτηρ, प्रा० नोर्स—mōdur-mōdir; स्वीडिश—mor-mor; संस्कृत—मातामही।[3]

माता का भाई (मामा): ग्रीक μήτρως, लैटिन—avunculus, आयरिश—brathir māthar, नूतन आय०—dearbhrāthair māthar, प्रा० नोर्स—mōdur—brōdir, डेनिश—morbor; स्वीडिश—morbror प्रा० इंग्लिश—ēam, प्रा० उच्च जर्मन—ōheim, लिथु०—avynas, लैटिश—mātesbrālis, चर्च स्लाव—uji, डच—wuj, संस्कृत—मातुल।[4]

माता की बहिन (मौसी): लैटिन—mātertera, आयरिश—siur

१. Buck, p. 113.
२. *Ibid*, p. 109.
३. *Ibid*.
४. *Ibid*, p. 113.

māthar, नू० आयरिश—deirbhsiur māthir, प्रा० नोर्स—mōdir systir, डेनिश—moster, स्वीडिश—moster, प्रा० इंग्लिश—mōdrige, प्रा० उच्च जर्मन—mustera, लैटिश—mātes māsa, संस्कृत—मातृष्वसर्।[1]

ऊपर के तथ्यों पर दृष्टि-पात करने से ज्ञात होगा कि माता के सम्बन्धियों के लिये कोई इण्डो-यूरोपीय शब्द स्थापित नहीं किया जा सकता। लेकिन कुछ भाषाओं को छोड़कर इन सम्बन्धों के लिये भी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में एक समानता अवश्य है, और वह यह है कि उनके वाचक शब्द 'माता' के वाचक शब्द में मूल इण्डो-यूरोपीय सम्बन्धों के वाचक शब्द जोड़कर बनाये गये हैं। मातृबन्धुओं के वाचक शब्द संकेतात्मक (denotative) न होकर वर्णनात्मक (descriptive) ही हैं।

(उ) **विवाह-जात सम्बन्ध** (affines)—श्राडर[2] का विश्वास है कि इण्डो-यूरोपीय परिवार में केवल वधू का पति के कुल से सम्बन्ध होता था, जामाता का पत्नी के कुल से नहीं; श्वशुर और श्वश्रू सम्बन्धों की उद्भावना पुत्रवधू की दृष्टि से हुई थी, जामाता की दृष्टि से नहीं। आगे वैवाहिक सम्बन्धों के वाचक इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के शब्दों पर विचार करने पर प्रकट होगा कि श्राडर का उक्त विश्वास सत्य ही है। विवाह से उत्पन्न होने वाले सम्बन्धों का मूल स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध है। विवाह-विधि से सहचर पुरुष स्त्री का पति और सहचरी स्त्री पुरुष की पत्नी हो जाती है। क्योंकि विवाह-सम्बन्धों में सबसे मुख्य सम्बन्ध विवाह-सूत्र से आबद्ध स्त्री और पुरुष का है, इसलिये सर्वप्रथम पति और पत्नी का ही विवेचन किया जायेगा।

आधुनिक इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'पति' और 'पत्नी' के वाचक शब्द अनेक दृष्टियों से लिये हुए हैं। अधिकतर सामान्य पुरुष और स्त्री के वाचक शब्दों का 'विवाह' अर्थ का शब्द जोड़कर पति और पत्नी के लिये प्रयोग किया जाता है। किन्हीं भाषाओं में 'युगल' 'सहचर' आदि अर्थ के वाचक शब्दों से पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के प्रत्यय जोड़कर 'पति' और 'पत्नी' का सम्बन्ध प्रकट किया जाता है। घर के स्वामी और स्वामिनी होने की दृष्टि से भी स्त्री और पुरुष को परस्पर 'पति' और 'पत्नी' आदि जैसे शब्दों से निर्दिष्ट किया

---

१. *Ibid.*

२. *Prehistoric Antiquities of Aryan Peoples*, ch. XII.

जाता है। यद्यपि विवाहित स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध के वाचक शब्द इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में विभिन्न स्रोतों से लिये गये हैं, लेकिन फिर भी भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्य के आधार पर, जैसा कि निम्न समीकरणों से ज्ञात होगा, विवाहित स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्धों का नाम मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में संस्कृत—'पति' और 'पत्नी' से सम्बद्ध *poti जैसा कुछ रहा होगा। पति और पत्नी की गृह के स्वामी और स्वामिनी के रूप में कल्पना की गई प्रतीत होती है। इण्डो-यूरोपीय पति घर तथा स्त्री का स्वामी था और पत्नी कदाचित् पति की गृहिणी होने के सम्बन्ध से घर के सेवकों की दृष्टि में पत्नी (स्वामिनी) थी, अपने अधिकार से नहीं। इण्डो-यूरोपीय विवाहित स्त्री की विशेष महत्ता 'सन्तान उत्पन्न करने वाली' होने में थी जैसा कि स्त्री के लिये 'पत्नी' की अपेक्षा अधिक व्यापक नाम से प्रकट होता है, जो कि संस्कृत—'ग्ना' (< √जन्, उत्पन्न करना) से सम्बद्ध है।

पति : ग्रीक (कविता) πόσις 'पति', लिथु०—pats 'स्वयं, पति', लैटिन—potis 'समर्थ', गोथिक—faps, brup-faps 'वधू या युवति का स्वामी', तुखारी—pats 'पति', संस्कृत—पति; अवस्ता—paiti 'स्वामी, पति।'[१]

पत्नी : ग्रीक—πότνια 'स्वामिनी', लिथु०—pati 'स्वयं, पत्नी', संस्कृत—पत्नी।[२]

संस्कृत—ग्ना, अवस्ता—ghena, ग्रीक—γυνή, βανα (मिलाइये, μναομαι, 'मैं विवाह करता हूँ'), आयरिश—ben, mná, आर्मीनियन—kanai—k̓ 'स्त्री', प्रा० स्लाव—Žena, प्रुशियन—genno, गोथिक—qinō।[३]

यद्यपि 'पति' और 'पत्नी' के वाचक मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द की व्यापकता बहुत अधिक नहीं है, फिर भी उसकी मौलिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यदि कोई शब्द इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी शाखाओं की एक एक भाषा में भी उपलब्ध हो तो उसके मूल इण्डो-यूरोपीय होने में सन्देह नहीं हो सकता, जब तक यह प्रमाणित न कर दिया जाये कि एक शाखा की भाषा से दूसरी शाखा की

१. Buck, p. 96.
२. *Ibid.*
३. Schrader : *Prehistoric Antiquities of Aryan Peoples.*

भाषा में वह शब्द उधार लिया हुआ है।[१]

इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'पत्नी' की अपेक्षा 'ग्ना' शब्दमाला की अधिक व्यापकता से प्रतीत होता है कि इण्डो-यरोपीय विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध विशेष रूप से 'स्वामी' और 'उत्पादयित्री' का था।

दो परिवारों को जोड़ने वाले 'पुत्रवधू' और 'जामाता' के युग्म में से 'पुत्रवधू' के लिये प्रायः सभी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में समान शब्द पाये जाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित शब्दमाला से प्रकट होगा। इसलिये केवल 'पुत्रवधू' का सम्बन्ध ही आदिम इण्डो-यूरोपीय काल से चला आने वाला हो सकता है। 'जामातर्' सम्बन्ध के वाचक शब्द केवल उन्हीं भाषाओं में समान हैं, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है[२], जिन भाषाओं का इण्डो-यूरोपीय-भाषा-भाषियों के विघटन के पश्चात् भी घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा है।

पुत्रवधू : संस्कृत—स्नुषा, नूतन पारसी—sunār[३], आर्मीनियन—nu, ग्रीक—νυός, लैटिन—nurus (बाद में, nura,*nora>इटा०—nuora, प्रा० फ्रैन्च—nuere, स्पेनिश—nuera, रुमानि०—noră), प्रा० नोर्स—snor, प्रा० उच्च जर्मन—snura, मध्य उच्च जर्मन—snur, नू० उच्च जर्मन—schnur, चर्च स्लाव—snūcha, सर्बो-क्रोशियन—snaha, बोहेमियन—snacha, रूसी—snocha।[४]

पुत्रवधू के लिये प्रयुक्त मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द *snuso है। इसका मूल अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता है। यह कदाचित्–स्नावन् 'अन्तड़ी' में दृष्टिगोचर होने वाली बन्धनार्थक *sneu धातु से बना है।[५] पुत्रवधू दो कुलों को जोड़ती है, इसलिये उसे 'स्नुषा' कहा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

---

१. Max Müller : *Biographies of Words*, "I consider it therefore as a well-established principle that any word which occurs in Sanskrit or Zend, and at the same time in any one of the North Western languages, may be used as a fossil belonging to a stratum previous to the Aryan seperation."

२. ऊपर पृ० ५५

३. Spiegel : *Ariche Periode*, 88.

४. Buck. p. 125.

५. Walde-Pokorny—2·701 (quoted by Buck, p. 125).

इसकी व्युत्पत्ति दूसरी प्रकार से भी की जाती है : *snusā=*sunu-sā 'पुत्र के समान'। श्राडर के विचार से इस व्युत्पत्ति में भी सत्य की पर्याप्त सम्भावना है।[1]

ऊपर की शब्द-माला से ज्ञात होगा कि केवल कुछ भाषाओं को छोड़कर 'स्नुषा' शब्द सब इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में स्थापित किया जा सकता है। केवल कैल्टिक और लिथुआनियन (marti : संस्कृत 'मर्त्य') में यह शब्द स्थापित नहीं किया जा सकता। अन्य भाषाओं में 'वधू' के लिये प्रयुक्त शब्दों से ही 'पुत्रवधू' का बोध किया गया है। संस्कृत में 'स्नुषा' पद के साथ साथ केवल 'वधू' का भी 'पुत्रवधू' अर्थ में प्रयोग हुआ है।[2]

जामातर् : संस्कृत—जामातर्, अवस्ता—Zāmātar (जामि, 'सम्बन्धी' से सम्बद्ध); लिथु०—Žentas, प्रा० स्लाव—Zetĭ, लैटिश—Znuots ; लैटिन—gener, इटालियन—genero, फ्रैंच—gendre, रुमा०—ginere।

ऊपर के तीनों वर्गों के शब्द मूल धातु *ĝen 'उत्पन्न करना' से निकले प्रतीत होते हैं, जो कि लैटिन—'gignere' संस्कृत—'जनति' और अवस्ता—Zīzananti में दृष्टिगोचर होती है।[3]

ग्रीक—γαμβρός प्रायः 'जामाता' के अर्थ में प्रयुक्त (लेकिन 'बहनोई' 'श्वशुर' या 'वैवाहिक सम्बन्धी' के अर्थ में भी) ग्रीक—γαμος 'विवाह' से सम्बद्ध है।[4]

ट्यूटानिक भाषाओं में एंग्लो-सेक्सन—adum, प्रा० उच्च जर्मन—eidum, नू० उ० ज०—eidam, प्रा० इंग्लिश—āpum प्रा० उच्च जर्मन—eid और एंग्लो-सैक्सन—âp से सम्बद्ध हैं। गोथिक—liugan आयरिश—luge 'प्रतिज्ञा' से सम्बद्ध है।

इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'पुत्री के पति' (जमाई) के अर्थ को प्रकट करने वाले शब्दों की विविधता को देखते हुए इण्डो-यूरोपीय काल में इस सम्बन्ध की मान्यता संदिग्ध प्रतीत होती है।

---

१. Schrader, : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples.*

२. उत्तररामचरित, १, ६।

३. Schrader : op. cit.

४. Walde-Pokorny ने संस्कृत—जामातर् और अवस्ता—Zāmātar को भी ग्रीक—γαμος से सम्बद्ध माना है। (देखिये, Buck, p. 125.)

श्वशुर : संस्कृत—श्वशुर, अवस्ता—x^{v}asura (qasura) आर्मीनि०—skesr-air (सास का पति) ग्रीक—ἑκυρος, लैटिन—socer, गोथिक—svaihra, प्रा० स्लाव—svekrŭ, लिथु०—šešuras, अल्बानि०—viéher, कोर्निश—hveger ।

श्वश्रू (सास) : संस्कृत--श्वश्रू, आर्मीनि०—skesur, लैटिन—socrus, प्रा० स्लाव—svekry, ग्रीक—ἑκυρά, गोथिक—svaíhro, अल्बा०—viéhere, कोर्निश—hvigeren ।

'श्वशुर' और 'श्वश्रू' के लिये मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द *swekuro स्त्रीलिङ्ग *swekrū है जो कि स्पष्ट ही निजवाचक सर्वनाम *swe का *kuro (सम्भवतया ग्रीक—κυριος से सम्बद्ध) के साथ समास होकर बना हुआ शब्द है।[1] सब इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में इस सम्बन्ध के वाचक समान शब्द पाये जाते हैं। मूल रूप में इनका प्रयोग केवल पत्नी द्वारा पति के माता-पिता के लिये किया जाता था, जैसा कि वैदिक भाषा तथा होमर की ग्रीक भाषा में पाया जाता है। स्लाविक भाषाओं में अब भी इन शब्दों का प्रयोग केवल पति के पिता तथा माता को निर्देश करने में किया जाता है, पत्नी के माता-पिता के लिये इन भाषाओं में पृथक् शब्द हैं। ग्रीक में पत्नी के पिता को πενθερός और माता को πενθερά (संस्कृत—बन्धु, 'बन्ध्,' 'बाँधना' अर्थ की धातु से निष्पन्न शब्द से सम्बद्ध) कहा जाता है,[2] जबकि होमर में ἑκυρος तथा ἑκυρά केवल पति के पिता तथा माता के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। लिथुआनियन भाषा में šešuras (अब न्यूनता से प्रयुक्त) केवल पति के पिता के लिये प्रयुक्त होता है और पत्नी के पिता के लिये Eišwis शब्द का प्रयोग होता है। दक्षिणी स्लावोनिक भाषा में सम्बन्धियों की नामावली से प्रकट होता है कि svekrŭ, svekry शब्दों का प्रयोग केवल पति के माता-पिता के लिये किया जाता है; पत्नी के पिता तथा माता को tĭstĭ तथा tĭšta कहा जाता है। पत्नी अपने पति के सम्बन्धियों को svekrabina और पति अपनी पत्नी के सम्बन्धियों को tazbina कहता है।[3]

इस प्रकार इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की तीन शाखाओं में यह

१. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples.*
२. Buck, p. 125.
३. F. Krauss : *Sitte und Brauch der Südslaven*, p. 3.
(cited by Schrader in op. cit.)

समानता पाई जाती है कि मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द से निकले हुए शब्द केवल पति के माता-पिता के लिये प्रयुक्त होते हैं और पत्नी के माता-पिता के लिये नये शब्द बना लिये गये हैं। इससे निस्सन्देह यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मूल इण्डो-यूरोपीय *swekuro और *swekrū केवल पति के माता-पिता के लिये प्रयुक्त किये जाते थे। इसको केवल संयोग नहीं माना जा सकता कि विभिन्न दूरस्थ प्रदेशों की भाषाओं में मूल शब्द से सम्बद्ध शब्द समान रूप से एक ही विशेष अर्थ, 'पति के माता-पिता' के लिये प्रयुक्त होने लगे। यह बात भी मानने योग्य नहीं है कि मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में पति के पिता के लिये प्रयुक्त *swekuro के समान पत्नी के पिता के लिये भी कोई विशेष शब्द था जो कि बाद में लुप्त हो गया, क्योंकि मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा के पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक किसी भी शब्द के प्रयोग को पत्नी के सम्बन्धियों के लिये स्थापित नहीं किया जा सकता है। विवाह-सम्बन्धों के लिये प्रयुक्त जितने भी अन्य मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द हैं वे सब पति के सम्बन्धियों का पत्नी से सम्बन्ध प्रकट करने के लिये ही हैं।

पति का भाई : संस्कृत—देवर्, आर्मीनियन—taiger, ग्रीक—δαήρ, लैटिन—dēweris (lēvir), प्रा० स्लाव—děvreĭ, एंग्लो-सैक्सन—tācor, प्रा० उ० ज०—Zeihhur, रूसी—devér सर्बो-क्रोशियन—djever[१].

इस सम्बन्ध के लिये प्रयुक्त मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द *daiwer है जिसकी मूल धातु संदिग्ध है।[२]

पति की बहिन : ग्रीक—γάλως, लैटिन—glōs, चर्च स्लाव—zlŭva, रूसी—zolovka, सर्बो-क्रोशियन—zaova, प्रा० बोहेमि०—zelva।

ये शब्द मूल इण्डो-यूरोपीय *glōu से सम्बद्ध हैं। संस्कृत में 'पति की बहिन' के लिये प्रयुक्त शब्द 'ननान्दर्' माता के वाचक 'नना'[३] जैसे किसी स्नेह के नाम से सम्बद्ध है जिस पर अन्य सम्बन्ध वाचक शब्दों में दृष्टिगोचर होने वाले प्रत्यय का प्रभाव है।[४] प्रो० मैक्समूलर ने 'नन्द्' 'प्रसन्न करना' अर्थ की धातु से निष्पन्न 'नन्दन' शब्द के सादृश्य पर संस्कृत 'ननान्दर्' शब्द

१. Buck, p. 126.
२. Walde—Pokorny, 1·767.
३. ऋक् ९, ११२, ३.
४. Buck, p. 127.

की व्युत्पत्ति के लिये भी 'नन्द्' धातु का सुझाव दिया है और 'ननान्दर्' का निरुक्ति-प्राप्त अर्थ 'क्रीडा-सखी, सहचर, मित्र' किया है।[1]

पति के भाइयों की पत्नियाँ : संस्कृत—यातरस् (यातर्, 'देवर्' की पत्नी), ग्रीक—εἰνάτερες, लैटिन—ianitrīcēs, प्रा० लिथु०—jentė लैटिश—ietere, चर्च स्लाव—jętry, सर्बो-क्रोशियन—jetrva; प्रा० बोहेमि०—jatrev, jatruše प्रा० पोलिश—jątrew, रूसी—jatrov।

यह शब्द माला मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द *yenǝter से सम्बद्ध है जिसकी मूल धातु संदिग्ध है।[2] इन शब्दों का प्रयोग 'पति के भाई की पत्नी' के लिये होता है। संस्कृत में भाइयों की पत्नियाँ (देवरानी, जेठानी) परस्पर 'यातर:' कहलाती हैं। स्लाव भाषा में भी 'भाइयों की पत्नियाँ' परस्पर "jetreve" होती हैं।[3]

भाई की पत्नी (भाभी): संस्कृत—भ्रातृजाया, भ्रातृवधू, नू० ग्रीक—νύφη, प्रा० नोर्स—brodurkona, पोलिश—bratowa, रूसी—nevestka (पुत्रवधू, भ्रातृवधू)।

'भाई की पत्नी' के लिये विशेष शब्द केवल कुछ ही इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में हैं। संस्कृत—'भ्रातृजाया' का प्रयोग काव्यों की संस्कृत में ही हुआ है, वैदिक भाषा में नहीं। लेकिन आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'भाई की पत्नी' के वाचक शब्द अधिकतर इसी शब्द से निकले हुए प्रतीत होते हैं। प्राचीन नोर्स और पोलिश भाषाओं में 'भाई' के वाचक शब्दों से 'पत्नी' के वाचक शब्द जोड़कर समासयुक्त शब्द बनाया गया है। रूसी भाषा का 'nevestaka'[2] शब्द प्रा० स्लाव—nevěsta (वधू) का समानप्रभव (cognate) है जिसका शाब्दिक अर्थ (ne=नहीं, vesta, from m.věstŭ, परिचित) 'अपरिचित', 'पतिकुल में नवागत' है। ग्रीक शब्द νύφη का सम्बन्ध νυμφη (वधू) से है।

'भाई की पत्नी' के लिये कोई एक मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द स्थापित नहीं किया जा सकता, लेकिन इण्डो-यूरोपीय काल में ही 'भाई की पत्नी' का सम्बन्ध अवश्य स्वीकार कर लिया गया होगा।

---

१. *Biographies of Words*, pp. xxii and xxiii.
२. Buck, p. 126.
३. F. Krauss : *Sitte und Brauch der Sudslaven*, p. 9.

५. इण्डो-यूरोपीय काल में पितृपक्षीय सम्बन्धों की प्रधानता

ऊपर पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक वे सब शब्द प्रदर्शित कर दिये गये हैं जिनमें परस्पर समानता है और जिन्हें समानता के आधार पर आदिम इण्डो-यूरोपीय काल का माना जा सकता है। इन समान शब्दों के समूहों में से सब के सब पितृकुल या पतिकुल के सदस्यों के साथ सम्बन्ध प्रकट करते हैं, मातृकुल या पत्नी-कुल के सदस्यों के साथ नहीं। इसलिये निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि इण्डो-यूरोपीय परिवार सजात्यों (agnates) का परिवार होता था जिसमें वधू के रूप में आई हुई स्त्रियाँ ही इतरकुलोत्पन्न होती थीं, जो अपने मूल कुल से सब सम्बन्धों का विच्छेद करके स्नुषा, पत्नी, याता अथवा माता के रूप में श्वशुर (*स्वशुर < स्वशूर) कुल की अभिन्न अङ्ग बन जाती थीं।

इण्डो-यूरोपीय काल में सजात्यों के परिवार की प्रथा के विरोध में इण्डो-यरोपीय भाषाओं से केवल दो तीन समीकरण उपस्थित किये जा सकते हैं। ऐसा सबसे मुख्य समीकरण 'बहनों के पतियों' अर्थात् 'साढ' के वाचक शब्दों का है :

ग्रीक—ἀέλιοι, प्रा० नोर्स—svilar, लैटिश—svaini (बहुवचन)।

लेकिन प्रथम तो यह समीकरण असंदिग्ध नहीं है।[१] दूसरे इस समीकरण का क्षेत्र केवल यूरोपीय भाषायें हैं, इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में ही पत्नी के माध्यम द्वारा पत्नी की बहिनों के पतियों के साथ सम्बन्ध का भाव उत्पन्न हो गया था। यदि यह मान भी लिया जाय कि इण्डो यूरोपीय काल में सोदर्य (सगी) बहिनों के पतियों में परस्पर सम्बन्ध की भावना उत्पन्न हो गई थी तो यह बहुत सम्भव है कि ऐसे सम्बन्ध की उद्भावना एक कुल के सदस्यों का सोदर्य बहिनों के साथ विवाह होने के कारण हुई हो। सम्मिलित परिवार की अवस्था में यह बिलकुल सम्भव है कि एक घर में रहने वाले कई भाइयों का दूसरे कुल की कई बहिनों के साथ विवाह होता हो और वे एक कुल में विवाह करने के कारण परस्पर 'ἀέλιοι' (साढू—संस्कृत *स्यालीवोढृ)[२] कहे जाते हों।

---

१. Schrader : *Prehistoric Antiquities* ; मैक्समूलर ने ἀέλιοι की संस्कृत—'स्याल' (पत्नी का भाई) से तुलना की है।

२. Dr. Jules Block (*Formation Langue Marathe*, p. 418) ने 'साढू' शब्द को 'स्यालीवोढृ' से सम्बद्ध माना है।

दूसरा समीकरण जो अति प्राचीन काल में पितृपक्षीय सम्बन्धियों से अतिरिक्त सम्बन्धियों की मान्यता के पक्ष में दिया जा सकता है 'माता के भाई' के वाचक शब्दों का है। यूरोप की अधिकतर भाषाओं में 'माता के भाई' का नाम 'avo' प्रकृति-अंश से बनाया गया है: लैटिन—avunculus, फ्रेञ्च—oncle, इंग्लिश—uncle, नू० उ० ज०—onkel, प्रा० उच्च जर्मन—ō-heim, लिथुआ०—avynas, प्रा० प्रुशि०—awis, प्रा० स्लाव—ujĭ=*av—jo। यह समीकरण भी केवल यूरोपीय भाषाओं तक ही सीमित है। इसलिये इससे भी आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में पितृपक्षीय सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्धियों की मान्यता सिद्ध नहीं की जा सकती।

आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में पत्नी के कुल के साथ सम्बन्धों की उद्-भावना नहीं हुई थी, यह इस बात से प्रकट है कि इण्डो-यूरोपीय काल में पत्नी-कुल के जनों के साथ सम्बन्धों को प्रकट करने वाले निश्चित शब्द नहीं थे। पत्नी के बन्धुओं को निजवाचक *swe से निष्पन्न शब्दों से बोधित किया जाता था, जैसा कि चर्च-स्लाव—svatŭ, svojakŭ (सम्बन्धी), रूसी—svojak (साढू), बोहेमियन—svat, svak (विभिन्न विवाह-सम्बन्धियों के लिये प्रयुक्त), संस्कृत—श्वशुर (*स्वशुर), प्रा० उ० जर्म०—swāger (संस्कृत—स्वाशुर्य[1], 'श्वशुर का') आदि से प्रकट होता है। क्योंकि सजात्यों के लिये सम्बन्धवाचक शब्द निश्चित हो गये थे, इसलिये विवाह-जात सम्बन्धियों के लिये सामान्य रूप से आत्मीयता-बोधक शब्दों का प्रयोग किया गया होगा।[2]

भाषा-विज्ञान के साक्ष्य से इण्डो-यूरोपीय काल का परिवार सजात्यों (पितृपक्षीय सम्बन्धियों, agnates) का परिवार सिद्ध होता है लेकिन इस निष्कर्ष का दो मतों से विरोध पड़ता है। प्रथम, लाइस्ट का विचार है कि इण्डो-यूरोपीय काल में भी इण्डो-यूरोपीय परिवार में पिता और माता दोनों ही के कुल के सदस्यों में परस्पर आत्मीयता (kinship) होती थी। लाइस्ट के इस मत का आधार यह है कि ग्रीक और संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में सन्तान को माता-पिता तथा उनके समकक्ष जनों के सम्मान तथा आज्ञापालन का आदेश दिया गया है। ग्रीक साहित्य में विशेषतया माता के भाई

१. प्रो० मैक्समूलर का सुझाव है कि संस्कृत—'श्वशुर' शब्द मूल रूप में 'स्वशुर' रहा होगा। *Biographies of Words*, p. 157.

२. Buck, p. 126.

का पिता और माता के समान आदर करने का आदेश है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में सपिण्डों में मातृबन्धुओं की भी गणना की गई है। इससे लाइस्ट ने अति प्राचीन इण्डो-यूरोपीय काल में भी उभयपक्षीय परिवार (cognatic family) की कल्पना की है। लाइस्ट को अपनी इस कल्पना का निर्वाह करने के लिये यह भी स्वीकार करना पड़ा है कि प्राचीन रोमन दाय-भाग-विधान (law of inheritance) का वह स्वरूप जो कि अब पूर्णतया सजात्य प्रणाली पर आधारित है, अर्वाचीन काल में किये गये परिवर्तनों का परिणाम है। इसी से लाइस्ट की इण्डो-यूरोपीय परिवार की कल्पना की निस्सारता का अनुमान किया जा सकता है।

दूसरा मत जो प्रस्तुत निष्कर्ष के विरुद्ध पाया जाता है, बाख़ोफन (Bachofen) का है। बाख़ोफन का मत है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों में विभिन्न जातियों में विभक्त होने के बाद तक भी अनियमित यौन-सम्बन्ध (promiscuity) की प्रथा थी और इसलिये आत्मीयता (kinship) का निश्चय माता के माध्यम से किया जाता था। लेकिन श्राडर ने बाख़ोफन के इस मत का युक्तियुक्त खण्डन किया है।[१]

इण्डो-यूरोपीय काल में मातृसत्ता की सिद्धि में दिये जाने वाले तर्क निम्नलिखित हैं :—

(१) ग्रीक लोगों की विवाह-प्रथा के अनुसार भाई का सगी (सगर्भ्य, एक ही माता से उत्पन्न) बहिन के साथ विवाह निषिद्ध था, एक पिता से उत्पन्न के साथ नहीं। इससे प्रकट होता है कि ग्रीक लोगों में पिता की अपेक्षा माता का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ माना जाता था।

(२) संस्कृत भाषा के मुहावरे में 'माता' और 'पिता' शब्दों के द्वन्द्व समास में 'पिता' से पहले 'माता' को स्थान दिया गया है। 'पिता-मातरौ' न कहकर 'माता-पितरौ' कहा जाता है।

(३) ग्रीक भाषा में 'भाई' का वाचक शब्द ἀδελφός (संस्कृत—सगर्भ) है। इससे प्रकट होता है कि भाई को भाई माने जाने का कारण एक माता से उत्पन्न होना था, न कि एक पिता से उत्पन्न होना।

(४) यूरोपीय भाषाओं में 'माता के भाई' के लिये समान शब्द पाये जाते हैं। आयर्लैण्ड तथा ब्रिटेन के लोक-गीतों में मामा का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे यूरोप में प्राचीन काल में 'मामा' के महत्त्व का संकेत

---

१. *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples.*

मिलता है। बहिन की सन्तान पर भाई का अधिकार होना मातृसत्ता की सबसे बड़ी विशेषता है।[१]

(५) "बहिन के पुत्र" के लिये भी प्रायः सभी यूरोपीय भाषाओं में 'nepos' के समान शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिससे प्रकट है कि यूरोप में बहुत प्राचीन काल में ही बहिन की सन्तान के साथ सम्बन्ध की उद्भावना हो चुकी थी।

इनमें से पहली युक्ति सबसे ठोस है। क्योंकि अभी तक कोई विद्वान् इसका सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सका है कि ग्रीक लोगों में एक ही पिता, परन्तु भिन्न भिन्न माताओं से उत्पन्न हुए भाई-बहिनों के विवाह का क्या कारण था। लेकिन इस एक प्रथा से ग्रीक लोगों में मातृसत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है। यह सम्भव है कि ग्रीक लोगों में यह प्रथा तब आरम्भ हुई हो, जबकि रक्त की शुद्धि के विचार से अथवा सम्पत्ति को अन्य कुल में जाने से रोकने के विचार से निकट सम्बन्धियों में विवाह-सम्बन्ध प्रारम्भ हो गये हों और एक ही माता तथा पिता से उत्पन्न भाई बहिनों के परस्पर विवाह को घृणित समझकर एक पिता और भिन्न भिन्न माताओं से उत्पन्न भाई-बहिन का विवाह अनुमत कर दिया गया हो।

द्वितीय और तृतीय युक्ति का उत्तर प्रो० मैक्समूलर ने बहुत ही उचित दिया है।[२] शब्द के पूर्व या उत्तर प्रयोग को सामाजिक संस्था की सिद्धि में प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। माता के प्रति बच्चों का प्रेम भी माता शब्द के पूर्व प्रयोग में हेतु हो सकता है। जब ग्रीक लोगों में इण्डो-यूरोपीय भाषा से आये हुए φράτηρ शब्द का प्रयोग φρατρία के सदस्यों के लिये होने लगा तो एक ही माता-पिता से उत्पन्न बच्चों के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये नये शब्द की आवश्यकता हुई। ग्रीक लोगों में उस समय सौतेले भाई-बहिनों में विवाह की प्रथा थी। इसलिये सगे भाई का सौतेले भाई से भेद करने के लिये ἀ-δελφός (सगर्भ) से अधिक स्वाभाविक और सार्थक अन्य शब्द क्या हो सकता था? आगे चलकर इस शब्द का सामान्य रूप से भाई और बहिन के लिये प्रयोग होने लगा।

चौथी और पाँचवी युक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। मूल रूप से यूरोपीय भाषा में पाये जाने वाले 'avus' और 'nepos' का प्रयोग क्रमशः 'पिता के

---

१. देखिये ऊपर पृ० २६।

२. *Biographies of words*, pp. XIX and XXI.

'पिता' और पौत्र के लिये होता था। लेकिन आगे चलकर इनका प्रयोग क्रमशः 'माता के भाई' और 'बहिन के पुत्र' के लिये होने लगा। इन शब्दों के 'दादा' और 'पोते' से क्रमशः 'मामा' और 'भानजे' के अर्थ में परिवर्तित हो जाने का कारण कदाचित् यह था कि मूल रूप में 'avus' का अर्थ दादा नहीं, प्रत्युत सामान्य रूप से 'पूर्वज' और 'nepos' का अर्थ केवल पौत्र नहीं, प्रत्युत 'अनुवंशज' मात्र था। इसलिये जब इण्डो-यूरोपीय लोगों का यूरोप में अन्य आदिम निवासियों से सम्पर्क हुआ तो इण्डो-यूरोपीय लोगों ने भी विजित आदिम निवासियों में प्रचलित प्रथा को अपना लिया और नये विवाह-जात सम्बन्धियों के लिये अपनी भाषा के ऐसे सम्बन्ध वाचक शब्दों का प्रयोग किया जिनके अर्थ सुनिश्चित नहीं थे, इसलिये जिनका प्रयोग सामान्यतया किसी भी पीढ़ी के सम्बन्धी के लिये किया जा सकता था।

आयर्लैण्ड और ब्रिटेन आदि के लोक-गीतों में मामा के महत्त्व का कारण यही है कि इण्डो-यूरोपीय जाति के लोगों पर विजित आदिम निवासियों की सामाजिक संस्थाओं एवम् प्रथाओं का गम्भीर प्रभाव पड़ा। मामा का महत्त्व केवल यूरोप की जातियों के ही लोक-गीतों में उपलब्ध नहीं होता है, बल्कि हिन्दू धर्मशास्त्रों में भी 'मामा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पिता, पितामह, भाई या अन्य पितृकुल्य के अभाव में 'मामा' का 'बहिन की पुत्री' (भानजी) के कन्यादान का अधिकार भी स्वीकार किया गया है।[१] आधुनिक युग में उत्तरी भारत में जहाँ सामाजिक संगठन पितृसत्ताक है, विवाह-विधि में मामा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेकिन यह निश्चित है कि भारतीय आर्यों में मामा (संस्कृत—मातुल) के सम्बन्ध की उद्भावना आदिम निवासियों के सम्पर्क से ही हुई है।

मातृ-कुल तथा पत्नी-कुल के जनों के साथ सम्बन्धों की स्थापना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण सांस्कृतिक विकास भी है। आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में पत्नी अधिकतर अपहरण द्वारा प्राप्त की जाती थी, इसलिये पत्नी के बन्धुओं के साथ सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं होते थे। लेकिन जब सांस्कृतिक उन्नति हुई और इण्डो-यूरोपीय लोगों ने घर बनाकर एक स्थान पर निवास करना प्रारम्भ कर दिया, भले ही वह अस्थायी रहा हो, तो माता तथा पत्नी के बन्धुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गये, और पहले यह सम्बन्ध विवाह

१. P. V. Kane : *History of Dharmaśāstra*, Vol. 2, Part I, pp. 501—2.

से आबद्ध उन परिवारों में स्थापित हुए जो पड़ौसी (प्रतिवेशिन्) थे।[1]

६. इण्डो-यूरोपीय काल में सम्बन्धियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य

पहले इण्डो-यूरोपीय काल के सम्बन्धवाचक शब्दों का विवेचन किया जा चुका है। इन सम्बन्धवाचक शब्दों का विवेचन करते समय सम्बन्ध-वाचक शब्दों के अर्थ-निर्णय की कठिनाई का भी उल्लेख किया गया है। प्रो० मैक्समूलर ने अधिकतर पारिवारिक सम्बन्धों के वाचक शब्दों को मूल धातुओं से निष्पन्न माना है। यदि प्रो० मैक्समूलर की व्याख्या को सत्य मान लिया जाये, तो इण्डो-यूरोपीय काल में पिता का कर्त्तव्य परिवार की रक्षा तथा पालन करना था और परिणामस्वरूप उसे परिवार के सब सदस्यों पर पूर्ण अधिकार था। 'पितर्' शब्द √पा धातु से निष्पन्न है। 'पा' धातु 'गोपा' और 'पति' शब्द में भी दृष्टिगोचर होती है, इसलिये सम्भवतया 'पा' धातु का अर्थ 'रक्षा करना' 'पालन करना' या 'शासन करना' रहा होगा। इन्हीं क्रियाओं से पिता के कर्त्तव्य तथा अधिकारों का वर्णन किया जा सकता है। इण्डो-यूरोपीय काल में भ्राता—भृ (भ्रा)+तृ—'ले जाने वाला' या 'पोषण करने वाला' तथा स्वसा—√स्वस् (देख-भाल करना, हित करना)+अर्—परिवार की 'हितकारिणी' और दुहिता—√दुह् (दोहना)+तर्—'दूध दोहने वाली' थी।[2] मैक्समूलर ने इसी प्रकार अन्य शब्दों की भी व्याख्या की है। लेकिन उत्तरवर्ती विद्वानों ने इस प्रकार की व्याख्या को अमान्य घोषित किया है। और, जैसे कि पहले संकेत किया जा चुका है, सम्बन्धवाचक शब्दों की उत्पत्ति बच्चों की बोली की 'पा', 'मा', 'दा' 'ना' आदि ध्वनियों के अनुकरण से मानी है।

यदि सम्बन्धवाचक शब्दों की उत्पत्ति बच्चों की बोली से हुई है तो मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा के इन शब्दों का व्युत्पत्तिजन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता है और केवल शब्दों के आधार पर उस काल में सम्बन्धियों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ सकता। ऐसी अवस्था में इण्डो-यूरोपीय काल में उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों पर प्रकाश केवल इन शब्दों के तत्कालीन प्रयोगों से ही पड़ सकता था और उनका अत्यन्ताभाव है। प्राचीन ग्रीक तथा ईरानी और भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से इण्डो-

---

१. Cf. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples*, chap. XII.

२. *Biographies of Words*, p. 150.

यूरोपीय काल में पारिवारिक सम्बन्धियों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के विषय में स्थूल रूप से कुछ कल्पनायें की जा सकती हैं। लेकिन जैसे ही सूक्ष्मता से उनका विस्तार में विवेचन किया जायेगा वैसे ही अक्षम्य त्रुटियाँ होने की सम्भावना बढ़ती जायेगी। इसलिये इण्डो-यूरोपीय काल में सम्बन्धियों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का विवेचन न करना ही अभीष्ट है।

पृथक् पृथक् सम्बन्धियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का विस्तृत विवेचन पूर्वोक्त कारण से अभीष्ट न होने पर भी सामान्य रूप से उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। संस्कृति की आदिम अवस्था में वर्तमान जातियों में परिवार या कुछ परिवारों के समूह में ही सब अधिकार और कर्त्तव्य सन्निहित रहते हैं। सभ्य जातियों में विविध प्रकार के अधिकार और कर्त्तव्य (functions) विविध संस्थाओं और व्यक्तियों में विभक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, सभ्य जातियों में हत्या, अपहरण आदि महान् अपराधों के दण्ड का निर्णय शासक या अन्य अधिकारी के द्वारा किया जाता है, पीडित व्यक्ति स्वयं न्याय को अपने हाथ में लेकर अपराधी को दण्ड नहीं देता है। परन्तु असभ्य जातियों में पीडित की रक्षा के लिये ऐसी कोई संस्था नहीं होती है, इसलिये इस प्रकार के कार्य भी उसके परिवार को ही करने पड़ते हैं। यही कारण है कि असभ्य जातियों के कबीलों में हमेशा युद्ध होते रहते हैं।

इण्डो-यूरोपीय काल में किसी सम्बन्धी की हत्या, अपमान या अपहरण का प्रतिशोध लेना परिवार का सबसे बड़ा कर्त्तव्य था। इससे दो परिवारों में प्रायः भयंकर युद्ध छिड़ जाया करते थे, जो कभी कभी कई पीढ़ियों तक चलते रहते थे। आदिम जातियों में खून का प्रतिशोध प्रायः खून से ही होता था। प्रतिशोध का उत्तरदायित्व मृत व्यक्ति के सम्बन्धियों पर निकटता के अनुसार होता था। होमर के अनुसार पुत्र, पौत्र, पिता, भाई, भाइयों के पुत्र (ἀνεψιος) और ἔται (स्वकीय) प्रतिशोध लेने वालों में कहे गये हैं। बन्धुजन की हत्या या अपमान आदि के कारण होने वाले इस प्रकार के जाति-युद्ध (blood-feuds) अफगान, अल्बानियन तथा दक्षिणी स्लाव लोगों में अभी तक प्रचलित हैं। ग्रीक, ट्यूटन और केल्ट आदि जातियों की प्राचीन परम्पराओं में इस प्रकार के युद्धों के स्पष्ट प्रसंग हैं। ईरानियों, भारतीय आर्यों तथा रोमन लोगों में भी इस प्रथा के अस्पष्ट चिह्न केवल विरलता से मिलते हैं।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों ने आदिकाल में ही इन जाति-विनाशक युद्धों से बचने का उपाय खोज लिया था। और वह उपाय था वैर (वीर के प्रति किये गये अपराध) की धन या द्रव्य द्वारा क्षति-पूर्ति। होमर[1] (इलियड ६,६३१) और टेसिटस (जर्मेनिया अध्याय २१) ने ग्रीक और ट्यूटन लोगों में इस प्रथा का उल्लेख किया है। ऋग्वेद[2] में भी वैरदेय (वैर की शान्ति के लिये दिये जाने वाले धन) का संकेत हुआ है। भाषा-सम्बन्धी समीकरण[3] से भी सिद्ध होता है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों में धन द्वारा क्षति-पूर्ति करके वैर-शोधन के लिये होने वाले युद्ध शान्त कर दिये जाते थे। 'वीर' के निकट सम्बन्धियों का यह कर्त्तव्य होता था कि वे मृत अथवा अपमानित बन्धु की 'प्रतिष्ठा' के निमित्त अपराधी व्यक्ति के परिवार से वीर की क्षतिपूर्ति के लिये वीर-शुल्क (wergeld) की माँग करें। यदि अपमानित या मृत व्यक्ति के लिये 'वीर-शुल्क' नहीं माँगा जाता था तो यह उस व्यक्ति की अप्रतिष्ठा समझी जाती थी। और यदि अपराधी व्यक्ति के परिवार के लोग 'वीर-शुल्क' नहीं देते थे तो यह माँग करने वाले परिवार की प्रतिष्ठा पर आघात समझा जाता था और दोनों परिवारों में युद्ध छिड़ जाता था। लेकिन अपराध करते हुए व्यक्ति की हत्या के लिये 'वीर-शुल्क' की माँग नहीं की जाती थी।

वैर-प्रतिशोध के अतिरिक्त, सम्बन्धियों के अधिकार और कर्त्तव्य के विषय में जो बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है वह यह है कि परिवार के वयस्क पुरुषों का कर्त्तव्य था बच्चों और स्त्रियों की रक्षा, और अधिकार था उनसे आदर प्राप्त करना। इसी प्रकार बच्चों और स्त्रियों का अधिकार रक्षा तथा भृति प्राप्त करना, और कर्त्तव्य आज्ञापालन तथा आदर करना था।

---

१. 'Yet doth a man accept recompense of his brother's murderer or for his dead son'. (Rendered in English prose by W. Leaf, p. 180.)

२. ऋक् ५,६१,८। *Vedic Index*, II, 331 के अनुसार ऋक् २,३२,४ में वीर के बदले में १०० (गाय) दिये जाने का उल्लेख हुआ है।

३. संस्कृत—वैर, वैरदेय, वैरनिर्यातन; एंग्लो-सैक्सन—wëre म० उ० जर्मन—were (weragelt). देखिये, Schrader : *Blood-feud* (Aryan), E. R. E., II, p. 724.

७. इण्डो-यूरोपीय काल की विवाह प्रथा

इण्डो-यूरोपीय काल की विवाह प्रथा के विषय में निर्णय करने के लिये हमारे पास विशेष साधन नहीं हैं। लेकिन फिर भी इण्डो-यूरोपीय जाति की विभिन्न शाखाओं की विवाह-प्रथा के आलोचन से इण्डो-यूरोपीय काल की प्रथा के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

विवाह के भाव को प्रकट करने वाली मूल इण्डो-यूरोपीय धातु *vedh, ved है। ग्रीक—ἔδνον, एंग्लो-सेक्सन—**weotuma**, लिथु०—**wedū**, प्रा० स्ला०—veda, अवस्ता—upa-vādhya-ēta, 'वह विवाह करेगा', संस्कृत—vadh*ū* (नव-विवाहित स्त्री) आदि शब्द इसी धातु से सम्बद्ध हैं। इस धातु का मूल अर्थ आयरिश—**fadaim** 'मैं ले जाता हूँ' (fedan, 'सार्थ') और संस्कृत—'वहति' 'वह (स्त्री को घर) ले जाता है', 'वहतु', 'विवाह'; लैटिन—uxorem ducere, ग्रीक—γυναῖκα ἄγεσθαι में सुरक्षित है। प्रा० स्ला०—sag-ati का सम्बन्ध ग्रीक ἡγεῖσθαι 'नेतृत्व करना,' 'आगे चलना' से है।[१] भाषा के इस साक्ष्य से प्रकट होता है कि आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में भी पत्नी को विधिपूर्वक घर ले जाने की प्रथा थी। लाइस्ट के अनुसार इण्डो-यूरोपीय विवाह-विधि के तीन अंग थे : (१) वाग्दान, पिता या अन्य सम्बन्धी द्वारा किसी पुरुष को विवाह-विधि से कन्या देने का वचन करना, (२) कन्या के बदले में धन या द्रव्य आदि का परिमाण निश्चित करना अर्थात् वधू-शुल्क का निश्चय करना और उसका भुगतान करना, (३) पूर्णता—वधू-शुल्क और उसके भुगतान की विधि निर्णीत हो जाने पर विधिपूर्वक पत्नी को घर ले जाना।

इण्डो-यूरोपीय लोगों में विवाह का प्रयोजन सन्तति-प्राप्ति प्रतीत होता है। एथेन्स निवासी ग्रीक धर्म और कानून द्वारा अनुमत पुत्र की प्राप्ति के लिये विवाह करते थे। ऋग्वेद में भी विवाह का प्रयोजन धर्म-सम्मत सन्तान की प्राप्ति ही है। विवाह-सूक्त में देवता से प्रार्थना की गई है कि वह नव-विवाहिता वधू में दस पुत्र उत्पन्न करे।[२] पुत्रों और पौत्रों के साथ क्रीडा करना और अपने घर में प्रसन्न रहना नव-दम्पति के लिये महान् मंगल समझा गया है।[३] ईरान में वीर पुत्रों की माताओं का विशेष आदर किया जाता था।[४]

---

१. Schrader : *Prehistoric Antiquities of Aryan Peoples.*

२. दशास्यां पुत्रानाधेहि। ऋक् १०, ८५, ४५।

३. क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ऋक् १०, ८५, ४२।

४. *Yasna*, i, 6.

इण्डो-यूरोपीय काल में वधू प्राप्त करने के प्रायः दो उपाय थे : (१) अपहरण, (२) क्रय। प्रायः सभी इण्डो-यूरोपीय शाखाओं में दोनों प्रकार से वधू प्राप्त करने के प्रमाण उपलब्ध हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित विवाह के भेदों में यह दोनों भी सम्मिलित हैं। अपहरण द्वारा वधू-प्राप्ति को राक्षस विवाह कहा गया है जो कि क्षत्रियों के लिये अनुमत था। ग्रीक लोगों में किसी समय सर्वत्र अपहरण द्वारा विवाह करने की प्रथा थी।[१] डोरियन लोगों में बहुत पीछे तक सांकेतिक अपहरण विवाह-विधि का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।[२] अल्बानिया[३] में वर्तमान युग में भी विवाह-विधि में अपहरण प्रतीक रूप में देखा जाता है। विवाह-नृत्य में वर दौड़कर वधू का हाथ पकड़कर उसके साथ नाचता है और उस समय अतिथि लोग एक गाना गाते हैं जिसका भाव यह है—'रेवेन ने पार्ट्रिज को चुरा लिया है। वह पार्ट्रिज का क्या करेगा? वह उसके साथ नाचेगा और खेलेगा, वह उसके साथ अपना जीवन व्यतीत करेगा।'

इसी प्रकार प्राचीन स्लाव और प्रुशियन लोगों में भी अपहरण द्वारा पत्नी प्राप्त करने के चिह्न पाये जाते हैं।

इण्डो-यूरोपीय लोगों में अपहरण द्वारा पत्नी प्राप्त करने की प्रथा उनके सम्बन्धवाचक शब्दों से भी प्रकट होती है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में पत्नी के बन्धुओं के साथ सम्बन्ध प्रकट करने वाले शब्दों का अभाव है। इण्डो-यूरोपीय जाति में यह प्रथा उसकी बहुत आदिम अवस्था में रही होगी जबकि पड़ौस और भाई-चारे का प्रेम-बन्धन अतिशिथिल रहा होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि इण्डो-यूरोपीय जाति के विभिन्न शाखाओं में विभक्त होने से बहुत पहले ही अपहरण केवल प्रतीक रूप में ही रह गया था और क्रय द्वारा वधू प्राप्ति का उपाय प्रचलित हो गया था क्योंकि वधू-शुल्क अथवा विवाह-शुल्क के लिये इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में समान शब्द मिलते हैं।

वर्गण्डी—wittimo, फ्रीजियन—witma, एंग्लो-सैक्सन—weoutma, प्रा० उच्च जर्मन—widuma, जर्मन—withum का मल अर्थ 'वधू-शुल्क' था,[४]

१. *Dionysius of Halicarnasus* (ii, 30).
२. Rossback (p. 213), cited as authority by Schrader.
३. J. G. V. Hahn : *Albanische Studien*, 146.
४. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples.*

यद्यपि अब इनका विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। स्लावनिक—vēno (=संस्कृत—वस्न) भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता था।

वधू-क्रय की प्रथा में भाषा-सम्बन्धी साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य भी प्रमाण हैं। होमर के वाक्यों में ἕδνον का वधू या उसके माता पिता को दिये जाने वाले उपहारों के लिये प्रयोग हुआ है। ओडेसी[1] में हेफेस्टस (Haphaestus) अपने ἕδνα (उपहारों) को वापस माँगता है, क्योंकि उसकी पत्नी पतिव्रता नहीं है। होमर-युग में नवयुवती को αλφεσίβοια (माता पिता के लिये अच्छा शुल्क लाने वाली लड़की) कहा जाता था और यह ठीक ही था, क्योंकि अवसर अवसर पर लड़की के पिता के लिये अच्छे अच्छे उपहार (ἀπερείσια ἕδνα) दिये जाते थे।[2] हिन्दू धर्मशास्त्रों में 'आर्ष' विवाह के रूप में वधू-क्रय की प्रथा स्वीकार की गई है। प्राचीन काल में ट्यूटानिक लोगों में भी वधू क्रय की प्रथा रही है। यह प्रथा केवल रोमन लोगों में सिद्ध नहीं की जा सकती; उनमें अति प्राचीन काल से ही विवाह धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। थ्रेसियन लोगों में क्रय द्वारा विवाह निश्चित सत्य है।[3] इसी प्रकार लिथुआनियन, दक्षिणी स्लाव और सर्बियन लोगों में भी वधू-क्रय की प्रथा प्रचलित रही है। सर्बिया में तो वधू के लिये इतना मूल्य देना पड़ता था कि ब्लैक जार्ज (Black George) को लड़की का मूल्य एक डूकेट (पहले यूरोप में प्रचलित एक सिक्का) निश्चित कर देना पड़ा था।[4]

संस्कृति के विकास की जिस अवस्था में वधू के लिये शुल्क देना पड़ता था, उस अवस्था में दहेज (यौतक) का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन जैसे जैसे सभ्यता की ओर मनुष्य ने प्रगति की, विवाह-शुल्क का भी स्वरूप बदलता चला गया। प्रारम्भ में पुरुष को पत्नी प्राप्त करने के लिये पत्नी के माता-पिता को शुल्क देना पड़ता था, आगे चलकर पति या पति के सम्बन्धियों द्वारा दिये गये उपहार स्त्री की निजी सम्पत्ति (स्त्री-धन) माने जाने लगे।

---

१. viii, 318.

२. *Iliad,* xi, 244 : "Much he (Iphedamas) had given for her, first a hundred kine he gave, and thereafter promised a thousand sheep and goats."

३. Herodouts : V, c. 6.

४. Krauss : *Sitte und Brauch der Südslaven.* p. 272 ff.

अगली अवस्था में लड़की के माता-पिता द्वारा अपनी स्थिति के अनुसार लड़की को अलंकृत एवम् भूषित करके, साथ में लड़की के पति के लिये उपहार दिये जाने लगे। ऋग्वेद तथा होमर में ऐसे उदाहरण हैं कि कभी लड़की के माता-पिता को उपहार देने पड़े हैं, तो कभी लड़के के माता-पिता को।

इण्डो-यूरोपीय लोगों में, जैसा कि पारिवारिक सम्बन्धों की नामावली से प्रकट है, पितृस्थानीय (patrilocal) विवाह की प्रथा थी। स्त्री पितृ-कुल से पति-कुल में जाती थी।

इण्डो-यूरोपीय लोगों में बहुपति प्रथा का कोई निश्चित चिह्न नहीं मिलता।[१] साधारणतया एक-पति-पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित रही होगी। लेकिन क्योंकि पत्नी शुल्क देकर खरीदी जाती थी, इसलिये यह अधिक स्वाभाविक है कि धनी लोग अनेक पत्नियाँ भी रखते हों। ऋग्वेद और होमर में यद्यपि आदर्श विवाह एक पति-पत्नी का है, लेकिन दोनों ही में एक पुरुष के एक से अधिक पत्नियाँ होने के प्रमाण मिलते हैं। लोग विवाहित पत्नी के अतिरिक्त दासियाँ भी रखते थे।

विवाह सम्बन्धियों के वाचक इण्डो-यूरोपीय शब्दों का मौलिक अर्थ स्लाव भाषाओं में सुरक्षित रहा है, इससे यह आशा की जा सकती है कि विवाह प्रथायें भी स्लाव भाषाओं में ही अधिक सुरक्षित रही होंगी। स्लाव भाषाओं के वर और वधू के वाचक शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही महापितर् (patriarch) की अधीनता में रहने वाले युवकों और युवतियों में विवाह नहीं होता था। आधुनिक रूसी भाषाओं में वर को ču zeninŭ (अपरिचित), और वधू को čuzaja storonȧ (the alein side, अपर-पक्ष) कहा जाता है। प्रा० स्लाव (रूसी भाषा का प्राचीन रूप) में भी वधू को nevěsta (=ne 'नहीं—věstŭ 'ज्ञात, परिचित') कहा जाता था। प्रो० बेन्वेनेस्ट (Benveneste) ने ऋग्वेद-काल में अपरिचित कुलों में विवाह सम्बन्ध होना माना है।[२]

इसके विपरीत ग्रीक तथा ईरानी साहित्य से ऐसे प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे निकट सम्बन्धियों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध सिद्ध होता है। ग्रीक लोगों में विवाह के लिये वर्जित सम्बन्धियों का वृत्त अति स्वल्प था।

१. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples.*

२. Quoted by J. Brough in '*Brahmanic System of Gotra and Pravara*'. इस विषय में विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

दाय और दत्तक के विधान से निकट सम्बन्धियों के विवाह को प्रोत्साहन मिलता था। बान्धव-विवाह सामान्यतया प्रचलित था (Dem. x/iii. 74)। माता की बहिन से भी विवाह हो सकता था। मामा-भानजी का विवाह सम्भव था (Lys. xxxii, 4)। स्पार्टा के राजा Anaxandrides ने अपनी भानजी (niece) से विवाह किया था (Herod. V, 39)। ग्रीक लोगों में एक पिता की सन्तान—सौतेले भाई बहिन—में भी विवाह हो सकता था (लेकिन एक माता से उत्पन्न भाई बहिनों में नहीं)। अवस्ता के पहलवी भाषा में किये गये संक्षेप में xvētōkdas (माता, पुत्री और बहिन के साथ विवाह) को पुण्य कार्य माना गया है।[१] पारसियों में पहली पीढ़ी के भाई बहिनों का विवाह अनुमत है। ऋग्वेद में निकट सम्बन्धियों के विवाह का प्रमाण संदिग्ध है।[२] लेकिन महाभारत में ममेरी बहिन के साथ विवाह के उदाहरण मिलते हैं।

ऐसी अवस्था में इण्डो-यूरोपीय काल में विवाह-नियमों के विषय में निर्णय करना कठिन है। लेकिन सम्भव यह प्रतीत होता है कि इण्डो-यूरोपीय जाति की अपहरण या क्रय द्वारा विवाह की अवस्था में निकट सम्बन्धियों में विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता था। इण्डो-यूरोपीय काल में जैसा कि पूर्व वर्णित पारिवारिक संगठन के अध्ययन से स्पष्ट है, सजात्यों का परिवार होता था जो कि एक महापितर् के अधीन होता था। पत्नी या माता के बन्धुओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता था। अपनी या पिता की बहिन के या पुत्री के पतिकुल के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं होता था। अभिप्राय यह है कि उस अवस्था में एक स्थान पर और एक पुरुष के अधीन रहने वालों में ही पारिवारिक सम्बन्ध होता था, और एक पुरुष के अधीन रहने वालों में परस्पर अपहरण या क्रय सम्भव नहीं था, क्योंकि अपहरण का परिणाम अनिवार्य रूप से युद्ध होता था और सम्पत्ति पर—गौ, भेड़ों आदि पर—महापितर् का अधिकार होता था। इसलिये एक महापितर् के अधीनवर्ती सम्बन्धियों में परस्पर विवाह सम्भव नहीं था। बान्धव (cousin) शब्द से आधुनिक युग में जिन सम्बन्धियों का बोध होता है, उनमें से पितृपक्ष के बान्धवों के अतिरिक्त अन्य से विवाह-सम्बन्ध सम्भव था, और दूसरी-तीसरी पीढ़ी में कुल में विभाजन

१. E. R. E., viii, p. 457; लेकिन मूल अवस्ता में xvaētvadatha का उल्लेख नहीं है।

२. विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

हो जाने पर पितृपक्षीय या सजातीय (colateral) बान्धवों में विवाह होना सम्भव था।[१]

ऐतिहासिक काल में निकट सम्बन्धियों में परस्पर विवाह की प्रथा का कारण आदिम अवस्था की प्रथाओं के अवशेष में खोजना कदाचित् भूल है। प्राचीन ईरान में निकट सम्बन्धियों के विवाह का कारण कदाचित् मिस्र देश के राजवंश की निकट सम्बन्धियों के विवाह की प्रथा के समान रक्त की शुद्धि की भावना थी। ईरान में धार्मिक भावना ने भी इस प्रथा को पनपने में योग दिया है। अरबों द्वारा विजय कर लिये जाने पर जरदुस्थ्र-मतावलम्बियों को यह भय बना रहता था कि यदि अन्य मतावलम्बियों के साथ विवाह-सम्बन्ध किया तो धार्मिक विश्वासों में शिथिलता आ जायेगी। परिवार के संगठन को सुदृढ बनाये रखने की भावना भी एक अन्य कारण हो सकता है।[२]

८. इण्डो-यूरोपीय काल में समाज में पत्नी का स्थान

इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में विवाहित स्त्री को 'स्वामिनी' अर्थ के वाचक शब्दों से बोधित किया गया है। वह संस्कृत में 'पत्नी', ग्रीक में ποτνια (δεσποτνια, गृहस्वामिनी), और लिथुआनियन में Paiti कही जाती थी। भारतीय आर्यों तथा रोमन लोगों में धार्मिक कृत्यों—यज्ञ-बलि में—स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार दिया जाता था। इस से अनुमान किया जाता है कि इण्डो-यूरोपीय लोगों में विवाहित स्त्री की स्थिति अत्युन्नत रही होगी। होमर के काव्य में स्त्री को पुरुष के समान चित्रित किया गया है।[३]

दूसरी ओर ऐसे भी प्रमाण हैं जिनसे स्त्री की हीनता प्रकट होती है। श्राडर का विचार है कि इण्डो-यूरोपीय काल में स्त्री की स्थिति वस्तुतः उतनी सम्मानपूर्ण नहीं थी, जितनी कि होमर आदि के काव्यों में प्रदर्शित की गई है। भारतवर्ष और इटली में, जहाँ स्त्रियों को यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं में

---

१. मिलाइये शतपथब्राह्मण १, ८, ३, ६—"समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहे इति विदेवं दीव्यमाना जात्या आसते। एतस्मादु तत्।"

२. Cf L. H. Gray : E. R. E., VIII, P. 458.

३. देखिये, *Iliad*, VI, 429; *Odyssy*, VI, 180 ff; E.R.E., V, S.V Family (Greek).

भाग लेने का अधिकार था, वहाँ भी प्रधान यज्ञों में पत्नियाँ भाग नहीं ले सकती थीं। इटली में Mars के लिये किये जाने वाले यज्ञ में स्त्रियों का भाग लेना निषिद्ध था। शतपथब्राह्मण[1] में प्रवर्ग्य विधि के समय स्त्री के लिये अवगुण्ठन का विधान किया गया है। फिर, यज्ञ-प्रक्रिया के उदाहरण उत्तरी यूरोपीय जातियों से उपस्थित नहीं किये जा सकते। हो सकता है कि यज्ञ-प्रक्रिया का विकास इण्डो-यूरोपीय जाति के विभिन्न शाखाओं में विभक्त होने के बाद हुआ हो। इसलिये यज्ञ में स्त्रियों के भाग लेने की प्रथा का प्रचलन आदिम काल में संदिग्ध ही है।

इण्डो-यूरोपीय काल में पुरुष स्त्री को अपहरण अथवा क्रय द्वारा प्राप्त करता था, इसलिये पुरुष का स्त्री पर पूर्ण अधिकार रहता था। ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं है कि स्त्री के अधिकार पुरुष के समान हों। इण्डो-यूरोपीय काल में स्त्री की हीनता इण्डो-यूरोपीय जातियों में उपलब्ध अन्य प्रथाओं से भी प्रकट है। सभी इण्डो-यूरोपीय जातियों में प्राचीन काल में बहु-पत्नी प्रथा प्रचलित थी। विशेषतः धनी और राजा लोगों की दासियों तथा रखैलों के अतिरिक्त अनेक पत्नियाँ होती थीं। भारतीय आर्य, ग्रीक तथा टचूटन लोगों में प्रचलित नियोग प्रथा से भी यह प्रकट होता है कि पुरुष का स्त्री के शरीर और आत्मा पर पूर्ण अधिकार होता था। पति के आदेश अथवा अनुमति से उसकी पत्नी में अन्य पुरुष द्वारा (जो प्रायः पति का भाई होता था) उत्पन्न सन्तान भी पति की मानी जाती थी।[2] स्पार्टा में वन्ध्या पत्नी को त्याग भी दिया जाता था।[3] इण्डो-यूरोपीय जातियों में प्राचीन काल में सतीत्व का नैतिक आदर्श केवल स्त्रियों के लिए था। विवाहित पुरुष अन्य स्त्रियाँ रख सकता था, लेकिन स्त्रियों को व्यभिचार के लिये कठिन दण्ड दिया जाता था।[4] इण्डो-यूरोपीय जातियों में पुरुष का स्त्रियों पर निरंकुश

---

१. The Śatapatha Brāhmaṇa enjoins: 'When the Pravargya ceremony is being performed let the wife veil her head'—quoted from Schrader.

२. क्षेत्रिणः सस्यमुच्यते।

३. Herodotus, V, 39.

४. श्राडर ने *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples* में अनेक इण्डो-यूरोपीय जातियों में इन प्रथाओं के लिये प्रमाण उद्धृत किये हैं।

शासन एक अन्य प्रथा से भी प्रकट है। पुरुष को सन्तान को जीवित रखने, वध करने अथवा बेच देने का पूर्ण अधिकार था, स्त्री का सन्तान पर अधिकार नहीं था। पुरुष का सन्तान के समान स्त्री को भी बेचने आदि का अधिकार था।[१]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि होमर और टैसिटस के ग्रन्थों में तथा बृहदारण्यकोपनिषद्[२] और शतपथब्राह्मण[३] में नारी की पुरुष के साथ एकात्मता का जो वर्णन किया गया है, वह केवल आदर्श ही था। समाज में वस्तुतः सामान्य नारी की उतनी प्रतिष्ठा उस युग में भी नहीं थी, क्योंकि स्त्री को नाभि से नीचे अपवित्र माना जाता था।[४] इसलिये आदिम इण्डो-यूरोपीय काल में, जबकि इण्डो-यूरोपीय लोग केवल बर्बर चरवाहे थे, नारी के प्रति सम्मान की भावना की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

९. इण्डो-यूरोपीय काल में विधवा की स्थिति

इण्डो-यूरोपीय स्त्री की दशा पति के जीवन काल में भी बहुत सम्मानित नहीं थी, पति की मृत्यु के उपरान्त तो और भी भार हो जाती थी। पति की मृत्यु स्त्री के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी जो उसकी सामाजिक स्थिति में अकस्मात् महान् परिवर्तन उपस्थित कर देती थी। प्रमुख इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में विधवा स्त्री के लिए प्रयुक्त समान (cognate) शब्द हैं: संस्कृत—विधवा, लैटिन—vidua, आयरिश—fedb, प्रा० स्लाव—vĭdova, गोथिक—viduvō, अवस्ता—viδava। ये शब्द इण्डो-यूरोपीय *weidh (वियुक्त होना)—लैटिन—dīvidere (अलग होना) और संस्कृत—विधु (अकेला)[५] में दृष्टिगोचर होने वाली—धातु से निष्पन्न हैं।[६] यास्क ने विधवा

---

१. वही।

२. स ह एतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। I, IV, 3.

३. शतपथ V, 2, 1, 10 : अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद् भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।

४. शतपथ V, 2, 1, 8, : अस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेः।

५. ऋक् १०, ५५, ५; Monier-Williams, *Dictionary*, S. V. विधु।

६. Buck : *Dictionary*, p. 131.

शब्द की 'विधातृका भवति'[1] (वि+$\sqrt{\text{धा}}$, पोषक रहित) से व्याख्या की है। कोई इसकी व्याख्या 'वि+धवा' अर्थात् पति-रहित करते हैं।[2] लेकिन यह व्याख्या ठीक नहीं है।

इण्डो-यूरोपीय काल में, और उत्तरवर्ती काल में भी, इण्डो-यूरोपीय लोगों में पति की मृत्यु ही पत्नी की सामाजिक स्थिति में अन्तर उत्पन्न करती थी, पत्नी की मृत्यु से पति की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। वह दूसरी स्त्री से विवाह कर सकता था। इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में मृतपत्नीक पुरुष के लिये कोई समान शब्द नहीं है। संस्कृत के 'विधुर' शब्द का 'मृतपत्नीक' के अर्थ में प्रयोग आधुनिक है।

इण्डो-यूरोपीय काल में विधवा को पति के साथ गाड़ने या जला देने की प्रथा पाई जाती है। वी० हेन (V. Hehn) ने उत्तरी इण्डो-यूरोपीय लोगों में विधवा को जला देने की प्रथा सिद्ध की है।[3] भारत में ऋग्वेद-काल में भी विधवा को पति के साथ गाड़ने अथवा जला देने की प्रथा प्रतीक रूप में रह गई थी। विधवा मृत पति के साथ आचार-निर्वाह के लिए लेट जाती थी और तब सान्त्वना देता हुआ देवर या अन्य सम्बन्धी हाथ पकड़कर उसे उठा लेता था और उससे विवाह कर लेता था।[4] अथर्ववेद[5] में सती-प्रथा (विधवा का पति के साथ मर जाने) को 'पुराण-धर्म' अर्थात् प्राचीन प्रथा कहा गया है।

पीछे के युग में जब विधवा के प्रति दया के भाव उत्पन्न हुए और उसे पति के साथ मारना बन्द कर दिया गया, तब भी विधवा के लिए दूसरा विवाह निषिद्ध था। इससे आदिम काल में विधवा की दशा का अनुमान किया जा सकता है। पश्चिमी जर्मन लोगों[6] में तथा प्राचीन ग्रीस[7] में विधवा-विवाह

---

१. निरुक्त III, 15.

२. Monier-Williams, *Sanskrit English Dictionary*, p. 967; निरुक्त III, १५ "अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा।"

३. Schrader : *Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples.*

४. ऋग्वेद X, 18, 7; 40, 2.

५. अथर्ववेद १८, ३, १।

६. Tacitus ; *Germania*, c. 19, 'none but virgins marry, and expectations and wishes of a wife are at once brought to a period'.

७. Pans. ii, 21, 7, evoked as authority by Schrader.

नहीं होता था। हिन्दू धर्मशास्त्रों में अधिकतर विधवा-विवाह का निषेध है। कुछ स्मृतिकारों ने विधवा-विवाह की अनुमति दे दी है, लेकिन साथ ही जन्मान्तर में पूर्व-पति के अधिकार से मुक्ति पाने के लिये पञ्चोदन विधि का विधान कर दिया है।[१]

—:○:—

१. अथर्व वेद ६, ५, २७; २८।

अध्याय ३

इण्डो-ईरानी काल में परिवार

१. इण्डो-ईरानी काल

इस विषय में किसी को भी कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय आर्य तथा ईरानी आर्य पृथक् होने से पूर्व दीर्घकाल तक एक साथ रहे हैं और उन्होंने मूल इण्डो-यूरोपीय निवास-स्थान छोड़ने के पश्चात् नई संस्कृति और नये धर्म का विकास किया है। वे लोग मूल निवास-स्थान छोड़ने के पश्चात् कहाँ घूमे, या कहाँ रहे, कितने समय तक घूमते रहे— इसके विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। उन लोगों ने भारतीय और ईरानी शाखाओं में विभाजित होने से पूर्व किस भूमि को अपना निवास-स्थान बनाया—इस विषय में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। प्रो० मैक्समूलर का मत है कि ईरानी आर्य सप्तसिन्धु से ईरान में गये। लेकिन अब यह मत बिल्कुल मान्य नहीं रहा है। इण्डो-ईरानी आर्य कदाचित् एशिया माइनर से पश्चिमी ईरान में आये और वहाँ लम्बे समय तक साथ रहे। पश्चिमी ईरान में रहते हुए ही उनका असीरिया और बेबिलोनिया से सम्पर्क हुआ।

इण्डो-ईरानी आर्यों का चिर-सहवास भाषा, धर्म और कर्मकाण्ड में उपलब्ध समानताओं से स्पष्ट प्रकट है। उन्होंने सहवास के काल में इण्डो-यूरोपीय संस्कृति में अत्यधिक उन्नति कर ली थी। इण्डो-यूरोपीय लोग यायावरीय थे; केवल प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा करते थे। लेकिन इण्डो-ईरानी आर्यों ने पशु-पालन में उन्नति कर ली थी। अब वह पशुओं को लेकर घास की खोज में नहीं घूमते थे, बल्कि उन्होंने निश्चित पशु-भूमियाँ बना ली थीं।[१] उन्होंने खेती में भी उन्नति कर ली थी। अब वे बैलों या घोड़ों से हल खींचते थे।[२] प्राकृतिक तत्त्वों के अतिरिक्त उन्होंने अमूर्त्त और नैतिक देवों की

---

१. मिलाइये, संस्कृत—गव्यूति; अवस्ता—gaoyaoiti (Fick, p. 313)

२. मिलाइये, संस्कृत—√कृष्, कृष्टि; अवस्ता—√karsh, kaərəshti.

कल्पना कर ली थी।[1] इण्डो-यूरोपीय अग्नि-पूजा (fire-cult) के अतिरिक्त उन्होंने सोम (अवस्ता—Haoma) की पूजा भी प्रारम्भ कर दी थी।

२. इण्डो-ईरानी काल में पारिवारिक सम्बन्ध

इण्डो-ईरानी काल में पारिवारिक संगठन इण्डो-यूरोपीय काल के पारिवारिक संगठन के नमूने का ही था। इण्डो-ईरानी काल में भी पिता परिवार का प्रधान होता था। उसके अधीन परिवार के सब सदस्य होते थे। इण्डो-ईरानी परिवार काफी विशाल होता था, जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ रहते थे। पूर्व अध्याय में भाषा सम्बन्धी उन सब प्रमाणों को प्रदर्शित किया जा चुका है, जिनसे इण्डो-ईरानी काल की पारिवारिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता हैं। संस्कृत और अवस्ता में जो शब्द समान हैं, उन्हें इण्डो-ईरानी काल के भावों का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा जा सकता है। तुलना के लिये संस्कृत और अवस्ता की पारिवारिक सम्बन्धों की नामावली नीचे दी जाती है :

हिन्दी	संस्कृत	अवस्ता[2]
पिता	पितर्	pitar
माता	मातर्	mātar
पुत्र	सूनु, पुत्र	hunu, puθra
पुत्री	दुहितर्, पुत्री	dughdhar
भाई	भ्रातर्	brātar
बहिन	स्वसर्, भगिनी	x^{v}anhar
पति	पति	nmāno-paiti (गृहस्वामी)
पत्नी	पत्नी	nmāno-pathni (गृहस्वामिनी)
दादा	पितामह	nyāka

१. संस्कृत—मित्र, यम, ऋत, अरमति; अवस्ता—miθra, yima, Aša (Arta), aramati.

२. अवस्ता की पारिवारिक सम्बन्धों की नामावली E. R. E., V, p. 745 से उद्धृत की गई है।

दादी	पितामही	nyakā
पोता	नपात्, नप्तर्	napāt
पोती	नप्ती	napti
चाचा (ताऊ)	पितृव्य	tūirya
बूआ (फूफी)	पितृष्वसर्	tuiryā
भतीजा	भ्रातृव्य, भ्रातुष्पुत्र	brāturya
भतीजी	भ्रातृव्या	brāturyā
(चचेरा या तएरा) भाई	भ्रातृव्य	tūiryo-puthra
फुफेरी बहिन	पितृष्वसेयी	tūirya-dughdhar
परदादा	प्रपितामह	apanāyaka (Old Persian)
माता-पिता	पितरौ	pitare (yāšt.X,116)
पिता और पूर्वज	पितरः, पूर्वे पितरः	pterebyō (plural dative)
जमाई	जामातर्	zāmātar
ससुर (पति का पिता)	श्वशुर	x^vasura
पतोहू	स्नुषा, वधू	sunār (New Persian)

दुर्भाग्य से अवस्ता के Hūspāram Nask और Sakātūm Nask नष्ट हो गये हैं जिनमें प्राचीन ईरानी परिवार के संगठन और सम्बन्धियों के कर्त्तव्य और उत्तराधिकार आदि का विवेचन किया गया था। पहलवी Dinkart में उनकी केवल विषयसूची का संकेत किया गया है। इसलिये प्राचीन ईरानी परिवार का ज्ञान बहुत ही सीमित है।

इण्डो-यूरोपीय परिवार के समान इण्डो-ईरानी परिवार में माता, पिता, पुत्र, दुहिता, भ्राता, स्वसा, नपात् नप्ती, पितृव्य और भ्रातृव्य होते थे। पिता के पिता और माता के लिये कोई विशेष शब्द नहीं था, कदाचित् उनके नपात् और नप्ती भी उन्हें 'पिता' या 'माता' ही कहते थे। इस काल में भाई के पुत्र के लिए विशिष्ट शब्द का प्रयोग होने लगा था, जो कि इण्डो-यूरोपीय काल में नहीं था, जैसा कि पहले प्रदर्शित किया जा चुका है।[1] विवाह-जात सम्बन्धियों में श्वशुर और स्नुषा[2] सम्बन्धों की उद्भावना इण्डो-यूरोपीय काल में ही हो

१. देखिये ऊपर पृ० ५३।

२. यद्यपि अवस्ता में स्नुषा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

चुकी थी। इण्डो-ईरानी काल में भी 'श्वशुर' का प्रयोग केवल पति के पिता के लिए होता था। इस युग में भी पत्नी के माता-पिता तथा भाई से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं जुड़ा था। इसलिये उनके साथ सम्बन्धों के वाचक शब्दों का आविर्भाव नहीं हुआ था। अवस्ता में 'माता का भाई' के वाचक शब्द का अभाव है। ऋग्वेद में भी 'माता के भाई' के लिए कोई शब्द नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इण्डो-ईरानी काल में मातृकुल से सम्बन्ध नहीं होता था।

३. इण्डो-ईरानी काल की विवाह प्रथा

यद्यपि इण्डो-ईरानी काल में भी इण्डो-यूरोपीय काल के पारिवारिक संगठन से बहुत अन्तर नहीं आया था, फिर भी इण्डो-ईरानी काल में भौतिक और धार्मिक संस्कृति के विकास के साथ-साथ सामाजिक संस्कृति में भी अन्तर आ गया था। इण्डो-यूरोपीय काल में, जैसा कि पहले कहा गया है, अपरिचित कबीलों से प्रायः अपहरण द्वारा और पड़ौसी कबीलों से क्रय द्वारा वधू प्राप्त की जाती थी। पहले प्रकार के विवाह का परिणाम प्रायः युद्ध होता था, इसलिये विवाह के द्वारा दो परिवारों या कबीलों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हो ही नहीं सकता था। दूसरी प्रकार के विवाह से दो परिवारों में परस्पर मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हो सकता था और होता भी होगा। इण्डो-ईरानी काल में विवाह के साथ धार्मिक भावना भी जुड़ गई थी। 'गाथा' में विवाह को एक महान् धार्मिक कृत्य माना गया है। विवाह का प्रयोजन पार्थिव जीवन में 'वोहुमन'[1] की अवतारणा थी।[2] इसलिये इण्डो-ईरानी काल में कन्या का पिता या भाई कन्या का विवाह करना धार्मिक कृत्य समझने लगे थे और कन्या के साथ उपहार भी देने लगे थे। इण्डो-ईरानी काल में कन्या पर धन लेना और जामाता को उपहार देना दोनों प्रकार की प्रथा प्रचलित रही होगी। अपेक्षाकृत सुसंस्कृत परिवारों में योग्य वर को कन्या सोपहार दी जाती होगी और असभ्य तथा निर्धन परिवारों में कन्या पर धन लिया जाता होगा। ऋग्वेद में 'अश्विनौ' की स्तुति करते हुए उसे विजामाता (निन्दित जामाता) और स्याल (पत्नी के भाई) से भी अधिक प्रदान करने वाला कहा

---

१. Vohu-manô (या Vohûman) एक जोरोष्ट्रियन देवता है जो उत्तम विचारों का अधिष्ठाता समझा जाता है।

२. यस्त, ५३,५।

गया है।[1] धार्मिक भावना के साथ-साथ कृषि अवस्था ने भी पति और पत्नी के कुलों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में योग दिया होगा। इण्डो-यूरोपीय लोग पशु-पालक थे और उन्हें जल्दी-जल्दी स्थान बदलने पड़ते थे, इसलिये कोई दो कबीले या परिवार दीर्घ समय तक एक साथ नहीं रह पाते थे। लेकिन इण्डो-ईरानी लोगों ने पशुपालन और कृषि दोनों में उन्नति कर ली थी और अब उन्हें शीघ्र स्थान नहीं बदलने पड़ते थे, इसलिये विवाह-सूत्र से आबद्ध होने वाले दो कबीलों अथवा परिवारों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकते थे।

इण्डो-ईरानी काल में विवाह-सूत्र से समीप आने वाले दो परिवारों में सम्बन्ध की स्थापना का प्रारम्भ छोटी पीढ़ी से हुआ प्रतीत होता है। इण्डो-यूरोपीय काल में पति के कुल के सदस्यों का अपने कुल में आई हुई दूसरे कुल की स्त्री से ही सम्बन्ध होता था, क्योंकि वह उनके मध्य आकर रहती थी। परन्तु पति या उसके कुल के अन्य सदस्यों का पत्नी के कुल से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता था। लेकिन अब इण्डो-ईरानी काल में पति का भी पत्नी के कुल से सम्बन्ध स्थापित हो गया था, जिसे व्यक्त करने के लिये इण्डो-ईरानी भाषा में नूतन शब्द का आविर्भाव हुआ। इस नये सम्बन्ध को प्रकट करने वाला शब्द 'जामाता'[2] था, जो वैदिक और अवस्ता दोनों भाषाओं में बिलकुल एक समान है। 'जामाता' से प्रारम्भ में कदाचित् 'पुत्री का पति' या 'बहिन का पति' आदि विशिष्ट सम्बन्धी का बोध न होकर कुल की कन्या का परिणय करने वाले का बोध होता था, अर्थात् कन्या-कुल के प्रत्येक सदस्य की दृष्टि में वह 'जामाता' था।[3] लेकिन ऋग्वेद और अवस्ता में निश्चित रूप से 'जामाता' से 'पुत्री के पति' का बोध होता था। अवस्ता में जामाता और श्वशुर का सम्बन्ध बहुत ही सौहार्दपूर्ण चित्रित किया गया है लेकिन पत्नी के भाई के लिये विशिष्ट शब्द 'स्याल' ऋग्वेद में ही आया है। 'स्याल' का समानप्रभव कोई शब्द अवस्ता में नहीं आता।

इण्डो-ईरानी काल में विवाह-विधि की प्रक्रिया का पूर्ण रूप से विकास हो

---

१. अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्। १,१०९,२।

२. कुछ भाषा-वैज्ञानिक 'जामातर्' का सम्बन्ध ग्रीक भाषा के 'γαμβρος', 'γαμτο' शब्दों से मानते हैं।

३. गाँव की बोली में आजकल भी "अमुक गाँव का जमाई" जैसे मुहावरों का प्रचलन है।

चुका था। विवाह-विधि के अधिष्ठाता देवता की कल्पना की जा चुकी थी। अवस्ता[1] में विवाह-विधि का देवता Airyaman और ऋग्वेद[2] में अर्यमन् तथा भग हैं। 'विवाह करना' अर्थ की बोधक धातु संस्कृत में √वह् तथा अवस्ता में √vaz है जो कि इण्डो-ईरानी भाषा से आई हुई हैं। इण्डो-ईरानी काल में राजा तथा धनी लोगों में बहु-पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित रही होगी, क्योंकि ऋग्वेद[3] और अवस्ता[4] दोनों में ही एक से अधिक पत्नी होने के संकेत मिलते हैं।

इण्डो-ईरानी काल के विवाह सम्बन्धी नियमों के विषय में कोई निश्चित ज्ञान नहीं है। इण्डो-यूरोपीय काल के समान इस काल में भी एक 'महापितर्' के अधीन एक स्थान पर रहने वाले निकट सम्बन्धियों में विवाह नहीं होते होंगे। इस युग में आर्य लोग विभिन्न कबीलों में विभक्त थे और कबीलों का नाम किसी पूर्वज के नाम पर अथवा देश आदि के नाम पर होता था। प्रत्येक पुरुष के नाम के दो भाग होते थे, एक अपना व्यक्तिगत नाम तथा दूसरा पिता अथवा किसी वास्तविक या कल्पित पूर्वज के नाम से बना हुआ। समान पैतृक नाम धारण करने वालों में भी कदाचित् विवाह नहीं होता था। प्राचीन अवस्ता में निकट सम्बन्धियों के विवाह के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। ईरानी में xvaētvadatha (निकट सम्बन्धियों के विवाह) की प्रथा का उल्लेख पहलवी ग्रन्थों में ही मिलता है। यह प्रथा ईरान में ससोनियन काल में ही प्रचलित हुई थी।[5] लेकिन प्राचीन ईरानी परम्परा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे ऐसे निकट सम्बन्धियों के विवाह की प्रथा सिद्ध होती है जिनमें वर्तमान युग में, कम से कम हिन्दू-समाज में, विवाह नहीं होता है। पहलवी परम्परा के अनुसार जामास्प (Jāmāspa) ने अपने भाई फ्रशओस्त्र (Frašaostra) की पुत्री पौरुसिश्ता (Pouru-čista) से विवाह किया था।[6]

---

१. Yasna, 54, 1. २. ऋक् १०, ८५, २३।

३. ऋक् ७, १८, २; २६, ३; ६, ४३, १; १०१, ११।

४. Vend. iii, 3; Yasna, 38, 1 में अहुरमज़्द की कई स्त्रियों का उल्लेख है। जरथुस्त्र की तीन पत्नियों का उल्लेख किया जाता है। (Jackson, A. V. W. : *Zoroaster, the Prophet of Ancient Iran*, p. 20)

५. E. R. E., Vol. VIII, p. 458.

६. Jackson, A. V. W. : *Zoroaster, the Prophet of Ancient Iran*, pp. 20, 21; Taraporewala explains Yas. 53, 3, otherwise (*The Divine Songs of Zarathustra*, pp. 834–35).

४. इण्डो-ईरानी काल में दाय तथा उत्तराधिकार

इण्डो-ईरानी काल में दाय और उत्तराधिकार के नियमों के ज्ञान के साधन भी हमारे पास नहीं हैं। लेकिन यह निश्चित है कि इण्डो-ईरानी काल में दाय और उत्तराधिकार के नियम निश्चित हो गये थे, जो ईरानी और भारतीय आर्यों में अलग अलग शाखाओं में विभक्त होने पर भी प्रचलित रहे। दाय को अवस्ता[१] में 'Irixtəm' और संस्कृत में 'रिक्थम्'[२] कहा जाता है। Andreas का विचार है कि दाय के लिये मूल इण्डो-ईरानी शब्द rixθo होगा।[३] इण्डो-ईरानी परिवार पितृपक्षीय थे, इसलिये उनमें दाय और उत्तराधिकार भी पितृपक्षीय रहा होगा। दाय पिता से पुत्र को जाता होगा। ऋग्वेद (३, ३१, २) में पुत्र (तान्व=वैध पुत्र)[४] को रिक्थ का हरण करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद और अवस्ता दोनों में ही पुत्र की अत्यधिक कामना की गई है और सन्तान को सर्वोत्तम सुख माना गया है। इसलिये यही अधिक सम्भव है कि इण्डो-ईरानी काल में दाय का अधिकारी पुत्र होता हो।

इस सम्बन्ध में एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि इण्डो-ईरानी (आर्य) भाषा में इण्डो-यूरोपीय भाषा का 'सूनु' शब्द प्रचलित था, क्योंकि अवस्ता[५] और ऋग्वेद दोनों में ही यह शब्द पाया जाता है, फिर भी इण्डो-ईरानी भाषा में इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये एक नये शब्द (संस्कृत पुत्र=अवस्ता Puθra) का आविष्कार कर लिया गया था। अवस्ता के गाथा भाग में 'पुत्र' का पिता के सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है।[६] भारतीय और ईरानी आर्यों में प्राचीन काल से ही दत्तक-पुत्र की प्रथा पाई जाती है। ईरान में यदि किसी का औरस या दत्तक पुत्र नहीं होता था, तो उसके मर जाने पर उसके बान्धव उसकी ओर से पुत्र गोद लेते थे और यह विश्वास किया जाता था कि पुत्र—औरस या दत्तक—का किया हुआ पुण्य कार्य मृत व्यक्ति द्वारा ही किया गया है। जब भारतीय तथा ईरानी दोनों ही आर्य शाखाओं में पुत्र की इतनी

---

१. Yas , 44, 2.

२. ऋक् ३, ३१, २.

३. Taraporewala : *The Divine Songs of Zarathustra*, p. 464.

४. *Vedic Index*, I, p. 306.

५. अवस्ता में 'सूनु' से सम्बद्ध 'hunu' का प्रयोग अतिविरल है।

६. Yas., 44,7.

महिमा मानी जाती थी तो यह विश्वास किया जा सकता है कि पुत्र की ऐसी ही महिमा इण्डो-ईरानी काल में भी रही होगी। यदि पुत्र पिता के पुण्य-कार्यों के निर्वहण के लिये उत्तरदायी था तो वही पिता की सम्पत्ति का भी उत्तराधिकारी होता होगा।

—: o :—

अध्याय ४

पिता

१. ऋग्वैदिक परिवार

परिवार का भाव इण्डो-यूरोपीय काल में ही विकसित हो चुका था। जब आर्य लोग भारत तक पहुँचे तो परिवार संस्था उनके समाज में बद्धमूल हो चुकी थी। ऋग्वैदिक काल में परिवार के सदस्यों के कर्त्तव्य और अधिकार सुनिश्चित हो गये थे और पारिवारिक सम्बन्धों के साथ संलग्न कर्त्तव्य की भावना इतनी प्रबल थी कि यह विश्वास किया जाता था कि देवों के साथ माता, पिता, भ्राता आदि सम्बन्धों की स्थापना करके उन्हें अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। ऋग्वेद में ऐसे उदाहरणों की एक बहुत बड़ी संख्या है जहाँ वैदिक ऋषियों ने देवों को अपने अनुकूल बनाने के लिये उनसे अपना कोई पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया है[1] या देवों की स्तुति तथा गुण-गान में उन्हें बन्धुओं का ध्यान रखने वाला कहकर प्रभावित करने का प्रयत्न किया गया है।[2]

ऋग्वैदिक काल में भी इण्डो-यूरोपीय तथा इण्डो-ईरानी काल के सदृश वैदिक आर्यों के परिवार 'संयुक्त-परिवार' होते थे। उनमें पिता के पक्ष के प्रायः दो-तीन पीढ़ियों के व्यक्ति सम्मिलित होते थे और उनमें केवल पितृ-पक्षीय (patrilineal) पुरुष सम्बन्धियों या उनके द्वारा होने वाले सम्बन्धों को ही महत्त्व दिया जाता था, पितृपक्षीय स्त्री सम्बन्धियों द्वारा होने वाले सम्बन्धों को नहीं, अर्थात् ऋग्वैदिक आर्यों के परिवारों में बूआ, बहिन और पुत्री की सन्तान अथवा उनके पति-कुल के व्यक्तियों के साथ होने वाले सम्बन्धों का कोई महत्त्व नहीं था। इसी प्रकार माता के कुल के सदस्यों का भी कोई महत्त्व नहीं था। ऋग्वेद में पितृपक्षीय स्त्री सम्बन्धियों द्वारा होने वाले

---

१. ऋक् १,१८५,११; ६,५१,५; ८,६८,११; १०,७, ३।

२. नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा सजात्यमश्विनोश्चारु नाम। ऋक् ३,५४,१६।

सम्बन्धों में से केवल बहिन[1] अथवा पुत्री के पति "जामातर्" का ही उल्लेख हुआ है। माता के भाई (मामा) तथा उसके माता-पिता (नानी-नाना) का जिनका महाभारत तथा धर्मशास्त्रों में अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है, और जिनका वहाँ बार-बार उल्लेख हुआ है, ऋग्वेद में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इस प्रकार ऋग्वैदिक परिवार एक ऐसा सामाजिक वर्ग था जिसमें आत्मीयों का निश्चय केवल एक पक्ष (पितृपक्ष) से किया जाता था। उसमें पितृपक्ष के पुरुष सदस्य, उनकी पत्नियाँ तथा अविवाहित कन्यायें ही सम्मिलित होती थीं। साधारणतया ऋग्वैदिक काल का संयुक्त परिवार तीन पीढ़ियों तक सीमित होता था। सिद्धान्ततः ऐसे परिवार में होने वाले सम्बन्ध दादा-दादी, पोता-पोती, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, चाचा-चाची (ताऊ-ताई), भतीजा-भतीजी, पति-पत्नी, भाई-बहन, सास-ससुर, पुत्रवधू, देवर-ननद, भौजाई और जेठानी-देवरानी (यातर्[2]) हो सकते थे। किसी किसी परिवार में पर-दादा और पर-पोता भी होता था जैसा कि ऋग्वेद में 'प्रणपात्' के उल्लेख से प्रकट होता है। लेकिन ऋग्वेद में उपरिलिखित सब सम्बन्धों का उल्लेख नहीं हो पाया है। पुरुष सम्बन्धों में से केवल चाचा (ताऊ) को छोड़कर सब सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है, परन्तु स्त्री सम्बन्धों में से केवल माता, बहिन, पुत्री, पत्नी, सास, ननद और पुत्रवधू का ही उल्लेख हुआ है; दादी, चाची (ताई), पोती तथा भतीजी का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता और जेठानी-देवरानी (यातर्) का उल्लेख संदिग्ध है।[3] विवाहज सम्बन्धों (affines) में से केवल उन सम्बन्धों का अधिक महत्त्व था जो पति के परिवार के सदस्यों और वधू के मध्य होते थे, जैसे ससुर-पतोहू, ननद-भौजाई आदि; परन्तु पत्नी के पिता के परिवार के कुछ सदस्यों के साथ होने वाले सम्बन्धों का भी महत्त्व स्वीकार किया जाता था, जैसे कि ऋग्वेद में "जामातर्" और "स्याल" के उल्लेख से प्रतीत होता है।

१. 'जामातर्' का अर्थ प्रायः 'पुत्री का पति' होता है, लेकिन वाल्मीकीय रामायण (७,२४,३०; ३४) में 'बहिन का पति' अर्थ भी है। (Cf. Monier-Williams : *Sanskrit English Dictionary*. S. V. Jāmātri)। और भी देखिये ऊपर पृ० ५९; ८५।

२. संस्कृत में जेठानी और देवरानी दोनों को 'यातर्' कहा जाता है। देखिये अमरकोश २,६,३०—"भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्"।

३. ऋक् १,७०,६।

यद्यपि ऋग्वैदिक परिवार संयुक्त-परिवार होता था, तथापि अन्य समाजों के समान ऋग्वैदिक समाज में भी माता-पिता और सन्तान की इकाई वाला परिवार ही समाज की आधारभूत इकाई थी, जैसा कि आगे ऋग्वैदिक साक्ष्य से स्पष्ट हो जायेगा। ऋग्वेद में उन्हीं सम्बन्धों का अधिक उल्लेख हुआ है जो कि एकाकी (Single or Elementary) परिवार के सदस्यों के मध्य होते हैं। ऋषियों ने देवों के साथ भी प्रायः एकाकी परिवार के सदस्यों के मध्य होने वाले सम्बन्धों की ही स्थापना की है।

२. परिवार का प्रधान

ऋग्वेद में परिवार का वाचक शब्द 'कुल' है।[१] 'कुल' का मूल अर्थ "घर" है। इसी अर्थ में गृह, दम अथवा दम् और धामन् शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। एक कुल (घर) में रहने वाले लोगों को भी तात्स्थ्य-सम्बन्ध से कुल कहा जाता था।[२] लेकिन यह स्मरणीय है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों से पूर्व 'कुल' शब्द का केवल समास में ही प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में "कुल-पा" अर्थात "कुल के रक्षक" को व्राजपति (सम्भवतया ग्रामणी) के पीछे चलने वाला कहा गया है।[३] ऋग्वेद और उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में परिवार के प्रमुख पुरुष को गृहपति[४] और गृहस्वामिनी को गृहपत्नी[५] कहा गया है। ऋग्वेद में गृहस्वामी के लिये एकवचनान्त 'दम्पति'[६] शब्द का प्रयोग भी हुआ है। लौकिक संस्कृत में "दम्पति" का एक वचन में प्रयोग नहीं पाया जाता। द्विवचनान्त 'दम्पती'[७] का प्रयोग गृह के स्वामी-स्वामिनी या पति-पत्नी अर्थ में हुआ है। गृहपति कौन होता था, इस विषय में ऋग्वेद से कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन ऋग्वेद में पिता की महत्त्वपूर्ण स्थिति से यह कल्पना की जा सकती है कि पिता ही गृहपति होता था।[८] पिता की मृत्यु हो

१. देखिये, ऊपर पृ० ७–८।
२. देखिये, *Vedic Index*, I, *171*.
३. ऋक् १०, १७९,२।
४. ऋक् ६,५३,२; अथर्व० १४,१,५१; १९ ३१,१३; शत० ब्रा० ४,६,८,५; ८,६,१,११।
५. ऋक् १०,८५ २६; अथर्व० ३,२४,६।
६. ऋक् १,१२७,८; २,३९,२; ५,२२,२४; ८,६९, १६; ८४,७।
७. ऋक् ५,३,२; ८,३१,५; १०,१०,५; अथर्व० ६,१२३,३ आदि।
८. Cf. Kaegi : *Life in Ancient India* (Eng. trans. by Arrow Smith), p. 85.

जाने पर ही सबसे बड़ा भाई गृहपति होता होगा जिसके अधीन अविवाहित भाई और बहिनें रहती होंगी। ऋग्वेद में बार-बार अग्नि को भी गृहपति[१] अथवा दम्पति[२] कहा गया है।

ऋग्वैदिक परिवार में पिता का स्थान अत्यधिक गौरवपूर्ण था। वह गार्हपत्य का स्वामी होता था। परिवार की सम्पत्ति उसकी सम्पत्ति होती थी। सम्भवतया कृषि-भूमि पर भी उसका अधिकार होता था।[३] परिवार के सब लोग उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न रखते थे। ऋग्वेद २, १, ९ में कहा गया है—"हे अग्नि, मनुष्य तुम्हारी इस प्रकार प्रार्थना करते हैं, जैसे कि पिता की प्रार्थना की जाती है।"[४] पुत्र पिता के वचन का पालन करने के लिये सर्वदा तत्पर रहते थे। ऋग्वेद १,६८,५ में अग्नि की महिमा का वर्णन करते हुए एक ऋषि ने कहा है—"अग्नि के आदेशों को सुनने वाले उन्हें ऐसे ही शीघ्र पूरा कर देते हैं, जैसे पुत्र पिता के वचनों का पालन करते हैं।"[५] पिता को बुद्धिमत्ता, ज्ञान तथा शक्ति का आगार समझा जाता था। इसलिये गूढ पहेलियों को समझ सकने में समर्थ व्यक्ति को "पितुष्पिता" कहा जाता था।[६] पिता और माता की इच्छा का अनुवर्तन किया जाता था तथा उनके प्रसाद की कामना की जाती थी। इन्द्र की स्तुति करता हुआ एक ऋषि कहता है—"हे वसु, तुम हमारे पिता हो, हे शतक्रतु, तुम ही हमारी माता हो, इसलिये हम तुम्हारे सौमनस्य की कामना करते हैं।"[७] इसी प्रकार ऋग्वेद ८,२१,१४ में इन्द्र के विषय में कहा गया है—"जब तुम गर्जन करते हो तो लोग तुम्हारा पिता के समान आह्वान करते हैं"।[८] घर में पिता का आदर केवल

---

१. ऋक् ४,११,५; ६,१५,१३; १९; १६,४२; ४८,८।

२. ऋक् ५,२२,४।

३. ऋक् ८,९१,५ में कृषि-भूमि (उर्वरा) का व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान कथन किया गया है—शिरस्ततस्योर्वराम्।

४. त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।

५. पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः।

६. कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्।
ऋक् १,१६४,१६।

७. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥
ऋक् ८,९८,११।

८. यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे।

इसलिये नहीं था कि वह सब सम्पत्ति का स्वामी था और शारीरिक शक्ति में परिवार के अन्य सदस्यों से बढ़कर था। उसका व्यवहार भी उदार एवम् स्नेहपूर्ण होता था। ऋग्वेद १०,३३,३ में ऋषि कवष ऐलूष इन्द्र से प्रार्थना करता है—"हे इन्द्र, तेरी स्तुति करने वालों को व्याधियाँ हिंसित कर रही हैं, हे मघवन्, तुम एक बार हमें आनन्दित कर दो। हे इन्द्र, तुम हमारे लिये पिता के समान बनो।"[1] विश्वेदेवों की स्तुति में एक अन्य उपासक ने कहा है—"हे सम्राटों, हम पुत्र के समान तुम से रक्षा की कामना करते हैं।"[2] ऋग्वेद १,१,९ में अग्नि को पिता के समान सुगम कहा गया है।[3] इसी प्रकार ऋग्वेद २,१०,१ में भी अग्नि को पिता के समान सर्वप्रथम पूजा करने योग्य कहा गया है।[4]

ऋग्वैदिक काल में पिता की महत्ता इस बात से भी प्रकट होती है कि आर्य लोगों में वंशानुक्रम (descent) पिता के द्वारा निश्चित होता था और व्यक्तिगत नाम के साथ पैतृक नाम भी जोड़ा जाता था। यह प्रथा इण्डो-यूरोपीय जाति की अन्य शाखाओं में भी प्रचलित थी। ऋग्वेद में ऐसे पैतृक नामों के अनेक उदाहरण हैं। अनेक स्थलों पर व्यक्ति के निजी नाम का उल्लेख न करके केवल पैतृक नाम का ही उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद ७,१९,३ और ८,१९,३६ में त्रसदस्यु को क्रमशः पौरुकुत्सि और पौरुकुत्स्य अर्थात् "पुरुकुत्स का पुत्र" कहा गया है। ऋग्वेद ४,४२,८ में "दौर्गह" ७,९५,२ में "नाहुष" और ६,२६,८ में "प्रातर्दनि" केवल पैतृक नामों का ही उल्लेख किया गया है।

उस काल में पिता की महत्ता इससे और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि ऋग्वेद में स्थान स्थान पर देवों की पिता के रूप में कल्पना करके ऋषियों ने स्वयं को पुत्रस्थानी मान कर उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि ऋषियों ने देवों से अन्य पारिवारिक सम्बन्ध—"भ्रातर्", "आपि", "बन्धु", "नाभि" आदि—भी स्थापित किये हैं, लेकिन बहुलांश में पिता का सम्बन्ध ही स्थापित किया गया है। अगले अनुच्छेदों से यह बात और अधिक स्पष्ट तथा प्रमाणित हो जायेगी।

---

१. सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव। ऋक् १०,३३, ३।

२. वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्। ऋक् ८,२७,२२।

३. स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव।

४. जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्धः।

३. पिता के वाचक शब्द—(अ) **पितर्** (आ) **जनितर्** (इ) **तत** (ई) **ओणि**।

(अ) **पितर्**—ऋग्वेद में और आगे भी पिता के लिए बहुधा प्रचलित शब्द 'पितर्' है। जैसा कि पूर्व अध्याय में भी दिखलाया जा चुका है, पिता के लिये 'पितर्' के समान शब्दों का प्रयोग इण्डो-यूरोपीय काल में भी प्रचलित था। ऋग्वैदिक काल में भी 'पितर्' शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पिता के अर्थ में 'पितर्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में पाया जाता है और इसके प्रयोगों की इतनी बहुलता है कि उनको उद्धृत नहीं किया जा सकता।

'पितर्' शब्द सम्भवतया √पा 'रक्षा करना' धातु से बना है।[१] सायण ने कई स्थलों पर 'पिता' की व्याख्या 'पाता पालक' से की है।[२] प्रो० मैक्समूलर ने भी 'पितर्' को √पा धातु से निष्पन्न माना है।[३] लेकिन सेण्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन में 'मातर्' शब्द की पाद-टिप्पणी में 'पितर्' और 'मातर्' को बच्चों की बोली के 'पा' 'मा' शब्दों से निष्पन्न माना गया है।[४] 'पितर्' शब्द की निरुक्ति चाहे जो भी हो, एक बात सत्य है कि 'पितर्' शब्द का बहुत प्राचीन काल में ही 'पालक' के भाव के साथ सम्बन्ध हो गया था। ऋग्वेद में 'पितर्' शब्द के प्रयोगों के अध्ययन से यह बात आगे बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगी।

(आ) **जनितर्**—पिता का वाचक ऋग्वेद में दूसरा शब्द 'जनितर्' है। 'जनितर्' शब्द 'जन्' (उत्पन्न होना या उत्पन्न करना) धातु से निष्पन्न है। कोई पुरुष पालन पोषण करने के कारण 'पिता', लेकिन जन्मदाता होने के कारण 'जनिता' कहलाता था। यम-यमी सूक्त (ऋग्वेद १०, १०) में त्वष्टा को यम और यमी का जनिता कहा गया है—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।

'सब रूपों को बनाने वाले, प्रेरक, देव, जनिता त्वष्टा ने हम दोनों को गर्भ में ही पति-पत्नी बनाया है।'

---

१. *Vedic Index, I, 526.*

२. उदाहरणार्थ देखिये, ऋक् २,२६,३ पर सायणभाष्य।

३. *Biographies of Words*, p. 16.

४. Vol. V, p. 699, f. n.

ऋग्वैदिक ऋषियों ने द्यौ, इन्द्र आदि देवों को संसार और मनुष्यों के जन्म का कारण मान लिया था, इसलिए स्थान-स्थान पर देवों को 'पिता जनिता' कहा गया है।[1]

(इ) **तत**—पिता का वाचक तीसरा शब्द 'तत' है। इसका ऋग्वेद में केवल तीन बार प्रयोग हुआ है।[2] 'पितर्' के समान यह शब्द भी पिता के अर्थ में इण्डो-यूरोपीय काल से ही चला आ रहा है। अथर्ववेद में और उत्तर-वर्ती वैदिक ग्रन्थों में भी इसका पिता अर्थ में प्रयोग मिलता है।[3] परन्तु लौकिक संस्कृत में सम्भवतः किसी भ्रान्ति के कारण 'तत' के स्थान पर तात (वस्तुतः, =तत का पुत्र[4]) का प्रयोग पिता या पुत्र अथवा अन्य स्नेही के लिए पाया जाता है।[5] 'तत' बच्चों की बोली का शब्द है जिसे स्नेह में पिता के लिए प्रयुक्त किया जाता था।[6]

(ई) **श्रोणि**—पिता का वाचक एक अन्य शब्द 'श्रोणि' भी है। 'श्रोणि' शब्द √श्रोण् (रक्षा करना) धातु से बना है। इसलिए 'श्रोणि' का मुख्यार्थ रक्षा या रक्षक है। ऋग्वेद ९,१०१,१४ में 'श्रोणि' द्विवचनान्त माता-पिता के लिए प्रयुक्त हुआ है:

आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र श्रोण्योः।

---

१. ऋक् १,१२९,११; ४,१७,४; ६,५९,२; ८,३६,४।

२. शिरस्ततस्योर्वरामादियं म उपोदरे। ऋक् ८,९१,५।
अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि। ऋक् ८,९१,६।
कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। ऋक् ९ ११२,३।

३. अथर्व० ५,२४,१६; तैत्ति० सं० ३,२,५,५; तैत्ति० ब्रा० १,६,६,७। ऐतरेयब्राह्मण ७,१४,१५ में तथा शाङ्खायनश्रौतसूत्र १५,१८,१९ में तत शब्द का सम्बोधन में पिता तथा पुत्र दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। कदाचित् 'तत' स्नेहसूचक शब्द था, और किसी भी पुरुष सम्बन्धी के लिये प्रयुक्त हो सकता था। देखिये, निरुक्त (६,६)— तत इति सन्तानवाम पितुर्वा पुत्रस्य वा।

४. देखिये, *Vedic Index*, I, 'Tāta'.

५. पञ्जाबी—ताया, हिन्दी—ताऊ (पिता का बड़ा भाई) इसी से सम्बद्ध हैं। देखिये, *Fourth Oriental Conference Proceedings*, Vol. II, p. 479.

६. Grassman n, H.: *Worterbuch zum Rigveda*; Buck, p. 94.

'जामि (सोम) वस्त्र में इस प्रकार छिप गया, जैसे माता-पिता के पार्श्व में पुत्र छिप जाता है।'

आलङ्कारिक रूप में द्यावा-पृथिवी[1] और सोम-पेषण में प्रयुक्त किये जाने वाले प्रस्तर खण्डों[2] को भी 'ओण्योः' से निर्दिष्ट किया गया है।

पिता के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों का विवेचन करते हुए यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि पिता के लिए 'जनितर्' शब्द का प्रयोग केवल ऋग्वैदिक आर्यों में ही पाया जाता है, परन्तु इससे यह अनुमान लगाना भ्रामक होगा कि इण्डो-यूरोपीय अथवा इण्डो-ईरानी लोगों को प्रजनन की प्रक्रिया में पुरुष की भूमिका का अज्ञान था जैसा कि अनेक आदिम जातियों में पाया जाता है। ऋग्वैदिक काल में पिता के इस नए नाम की महत्ता सम्भवतः इसलिए बढ़ गई थी कि ऋग्वैदिक आर्यों ने स्व-जात सन्तान के अभाव में कानूनी कृत्रिमता (legal fiction) द्वारा पुत्र के अभाव की पूर्ति का उपाय आविष्कृत कर लिया था, यद्यपि वैदिक आर्य केवल स्वजात पुत्र से ही संतुष्ट हो सकते थे और अन्योदर्य पुत्र से घृणा करते थे। इसलिए जन्म-दाता पिता और पालन-कर्ता पिता में अन्तर करना आवश्यक था।

डा० इरावती कार्वे[3] का मत है कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में 'पिता' शब्द केवल अपने पिता के लिए ही नहीं, अपितु पिता की पीढ़ी के सभी पुरुष सम्बन्धियों—पिता के भाइयों तथा पिता के प्रपितामह के सभी पौत्रों अर्थात् पिता के सपक्षों (colaterals)—के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था। इसलिए अन्य पिताओं से असली पिता का भेद करने के लिए उसे 'जनिता पिता' (अर्थात् जन्मदाता पिता) या 'पितृतम' (अर्थात् सबसे बड़ा पिता) कहा जाता था। अपने इस मत की पुष्टि में डा० इरावती कार्वे ने ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों को उद्धृत किया है:[4]

कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।

ऋक् ४,१७,१२।

१. ऋक् ९,६५,११।

२. ऋक् ९,१६,१।

३. *Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute*, Vol. XX, pp. 70 & 218.

४. इन मन्त्रों का यहाँ दिया गया हिन्दी रूपान्तर डा० कार्वे कृत इंग्लिश अनुवाद पर आधारित है।

'इन्द्र अपनी माता की कितनी चिन्ता करता है ? कितनी अपने उत्पन्न करने वाले पिता की ? कितनी अपने 'सगे पिता' की ?'

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

ऋक् १०,८२,३।

'जो हमारा जन्मदाता पिता है, जो विधाता है, वह सब घरों तथा प्राणियों को जानता है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

ऋक् १,१६४,३३।

'द्यौ मेरा असली पिता है और नाभि है, यह महान् पृथिवी मेरी माता और बन्धु है।'

लेकिन इन तीनों ही मन्त्रों में पिता जनिता देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है, पिता के लिए नहीं। इसलिये इस साक्ष्य से यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि 'जनिता' शब्द पिता के लिए विशेषण के रूप में दिया गया है और इस विधि से 'सगे पिता' का अन्य 'पिताओं' से भेद किया गया है। यह उचित होगा कि ऋग्वेद के उन सब स्थलों की परीक्षा कर ली जाय, जहाँ 'पितर्' और 'जनितर्' शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है अथवा 'पितर्' शब्द से 'तम' प्रत्यय जोड़ा गया है, क्योंकि तभी सम्भवतया किसी तर्कसम्मत निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा।

वे स्थल जहाँ 'पितर्' के साथ 'जनितर्' शब्द का प्रयोग किया गया है, निम्नलिखित हैं :—

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य।
धिया यद्विश्वे अमृता अकृण्वन्द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्। ऋक् ४,१,१०।

'जानने वाला अग्नि, हमें उस सम्पत्ति को प्राप्त कराये, जो इसे देवों ने दी है और जिसे सब देवों ने तथा सत्य की वर्षा करने वाले, पिता, जनिता द्यौ ने बुद्धिमत्ता से उत्पन्न किया है।'

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः।

ऋक् ९,८६,१०।

'यज्ञ का प्रकाश, देवों का पिता तथा जनिता, महान् सम्पत्तिशाली (सोम) स्वादु मधु को छानता है।'

स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजनं रक्षमाणः।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः॥

ऋक् ९,८७,२।

'सुन्दर आयुध से सम्पन्न, पाप का नाशक, गुप्त आघात से रक्षा करने वाला, पिता, देवों को उत्पन्न करने वाला, निपुण, द्यौ को रोकने वाला और पृथ्वी को धारण करने वाला देव इन्दु (सोम) बहता है।'

पितुश्च गर्भं जनितुश्च बभ्रे पूर्वीरेको अधयत्पीप्यानाः। ऋक् ३,१,१०।

'उसने पिता और जनिता (उत्पन्न करने वाले) के शिशु को धारण किया और अकेले ने कितनी ही दूध का प्रस्रवण करने वालियों (पीप्यानाः) का स्तन-पान किया।'[1]

सना पुराणमध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्नः। ऋक् ३,५४,९।

ऋषि प्रजापति कहता है—'मैं पिता और जनिता (द्यौ) के उस प्राचीन महनीय सम्बन्ध (जामि) का स्मरण करता हूँ।'

तमप्प्रत्ययान्त 'पितर्' शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है, जिसे श्रीमती डा० कार्वे ने भी उद्धृत किया है। वह मन्त्र यह है:—

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ ऋक् ४,१७,१७।

(वामदेव ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है)—'तुम हमारे रक्षक बनो। अपने को हमारा सम्बन्धी (आपि) दर्शाओ। तुम सोम का सेवन करने वालों को देखते और प्रसन्न करते हो। मित्र, पिता—पिताओं में सबसे अधिक पिता—के नाते (तुम) कामना करने वालों को जीवन और स्वतन्त्रता प्रदान करने वाले हो।'[3]

ऊपर ऋग्वेद के वे सब स्थल उद्धृत किये गये हैं जहाँ 'पितर् जनितर्' या 'पितृतम' का प्रयोग हुआ है। उक्त सभी स्थलों में 'पिता जनिता' देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद १,१६४,३३; ३,५४,९; ४,१,१० और ४,१७,१२, में द्यौ को, १०,८२,३ में विश्वकर्मा को, ९,८६,१० और ९,८७,२ में सोम को तथा ३,१,१० में अग्नि या द्यौ या त्वष्टा को 'पिता जनिता' से निर्दिष्ट किया गया है। निश्चय ही यह देव ऋषियों के वास्तविक पिता नहीं

१. मिलाइये, "Er trug die Liebesfrucht des Vaters und Erzengers; er als einziger sangte an vielen Milchstrotzenden." (Geldner : *Der Rigveda*, **I**, 334)

गेल्डनर ने यहाँ अग्नि को ही कर्त्ता माना है।

२. *A. B. O. R. I.* XX, p. 70.

३. यह रूपान्तर ग्रिफिथ के आधार पर किया गया है।

हैं, जो उनका अन्य पिताओं से भेद करने के लिए 'पिता' और 'जनिता' कहने की आवश्यकता होती। फिर अन्य स्थलों पर इन देवों को केवल 'पिता' से भी निर्दिष्ट किया गया है। वैदिक ऋषियों की यह पद्धति है कि जिस देव की स्तुति करते हैं, उसे ही पिता या जनिता कहकर सम्बोधन करते हैं। इस लिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक देव केवल पिता है और अमुक देव 'पिता-जनिता' अर्थात् सगा पिता है। ऋग्वेद ४,१७,१७ में ऋषि ने इन्द्र को त्राता, आपि, सखा और पिता कहा है। जब ऋषि कहता है—'(इन्द्र) तुम सब पिताओं में श्रेष्ठ पिता हो', तब निश्चय ही ऋषि का अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य देव केवल कथन मात्र के लिए पिता हैं, और इन्द्र उत्पादन करने के कारण 'पितृतम' अर्थात् असली पिता हैं। ऋषि के कथन का अभिप्राय यह है कि संसार में जितने भी दिव्य या सांसारिक पिता हैं, इन्द्र उन सबमें श्रेष्ठ हैं। ऋषियों को देवों की पालयित्री और जनयित्री शक्ति में विश्वास था। इसलिए उन्होंने कहीं देवों को केवल पिता (पालन कर्ता), कहीं केवल जनिता (उत्पन्नकर्ता) और कहीं पिता और जनिता अर्थात् पालनकर्ता और जन्मदाता दोनों कहा है। इसलिए ऋग्वेद के साक्ष्य से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि 'जनिता' या 'पितृतम' शब्द का प्रयोग 'उत्पादक' पिता का अन्य से भेद करने के लिए किया गया है।

डा० इरावती कार्वे का विचार है कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के काल में भारतीय आर्यों में पिता के भाइयों को भी 'पिता' कहा जाता था क्योंकि ऋग्वेद या अथर्ववेद में 'चाचा' या 'ताऊ' के लिए कोई अलग शब्द नहीं पाया जाता।[1] लेकिन यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। ऋग्वेद और अथर्ववेद का विषय धार्मिक है, उसमें लौकिक विषयों का प्रसङ्ग केवल आनुषङ्गिक है। इसलिए यदि ऋग्वेद या अथर्ववेद में 'चाचा' और 'ताऊ' के लिए कोई शब्द नहीं आया है, तो इस अभावात्मक प्रमाण से यह निष्कर्ष निकालना तर्कसम्मत नहीं है कि उस काल में पिता के भाइयों के लिए भी 'पिता' शब्द का प्रयोग किया जाता था, जब तक कि यह अन्य प्रमाणों से पुष्ट नहीं होता। पहले यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि इण्डो-यूरोपीय काल में पिता के भाइयों के लिए पृथक् शब्द विद्यमान था : ग्रीक—πάτρως लैटिन—patruus प्रा० उच्च जर्मन—fatūreo, अवस्ता—Tūiryo, संस्कृत—पितृव्य। आधुनिक भारतीय आर्य बोलियों में से अवधी और मैथिली में 'पितृव्य' से

१. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 71.

निकले हुए शब्द पाए जाते हैं।[1]

ऋग्वेद में पिता के लिए एकवचनान्त और माता-पिता के लिए द्विवचनान्त प्रयोगों की बहुलता भी इसी दिशा में संकेत करती है कि ऋग्वैदिक समाज में 'मातर्' और 'पितर्' शब्द का प्रयोग व्यक्ति के लिए होता था, वर्ग के लिए नहीं। यदि 'मातर्' और 'पितर्' शब्द वर्ग के लिए प्रयुक्त होते तो 'मातर्' और 'पितर्' शब्दों का बहुवचनान्त प्रयोग ही सर्वाधिक स्वाभाविक होता। यदि किसी पुरुष के पिता के भाई भी उसके पिता ही होते तो उसके पिताओं का निर्देश एकवचनान्त 'पिता' से नहीं, प्रत्युत बहुवचनान्त 'पितरः' से किया जाता। लेकिन ऋग्वेद का साक्ष्य ठीक इससे विपरीत अवस्था का संकेत करता है। ऋग्वेद में कोई ऐसा उदाहरण नहीं है[2] जहाँ एक पुत्र के प्रसंग में अनेक पिताओं का उल्लेख किया गया हो। अनेक पुत्रों के प्रसंग में एक पिता के उल्लेख के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद ८,६८,११ में 'पितर्' का एकवचन में और 'पुत्र' का बहुवचन में प्रयोग किया गया है—'पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त'।[3] ऋग्वेद में जहाँ कहीं 'पितर्' बहुवचन का प्रयोग हुआ है, वहाँ 'पितर्' शब्द का अर्थ पिता नहीं है, बल्कि सामान्यतया पूर्वज अथवा मृत-पूर्वज (manes) अर्थ है। स्वयं श्रीमती डा० कार्वे ने भी यह स्वीकार किया है कि वेदों में 'पितर्' और 'मातर्' शब्द के पितृसमूह और मातृसमूह के अर्थ में साक्षात् प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते हैं।[4]

४. देवों के लिए 'पितर्' शब्द का प्रयोग—(अ) द्यौ (आ) अन्य देवता

(अ) द्यौ—इण्डो-यूरोपीय काल में ही द्यौ की पिता के रूप में कल्पना कर ली गई थी। इण्डो-यूरोपीय काल में, क्योंकि द्यौ सबसे महान् देव था और परिवार में भी सबसे प्रधान पिता होता था इसलिए द्यौ को पिता माना गया

---

१. Saxena (Dr.) B. R. : *Proceedings and Transactions of Fourth Oriental Conference* 1926, Vol. II, p. 479—Awadhi—pite, Maithili—pitti.

२. केवल ऋक् १,१६४,१० में रहस्यात्मक सन्दर्भ में एक के तीन पिता और तीन माता का कथन किया गया है—तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेकः।

३. ऋग्वेद से ऐसे अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं—'मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्' ऋक् १,११४,७; 'पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व' ऋक् ७,५४,२।

४. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 218.

था। जैसे ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर द्यौ का 'पितर्' से सम्बोधन किया गया है, वैसे ही ग्रीक और लैटिन में भी किया जाता था। संस्कृत द्यौ का समानान्तर लैटिन शब्द Diespiter > Jup-piter, Zūpiter प्राचीन ग्रीक सम्बोधन Ζεῦπάτερ से ही निकला हुआ है।[१] ऋग्वैदिक लोगों ने अन्य देवों को भी पिता के रूप में स्वीकार कर लिया था। वैदिक आर्यों ने देवों से केवल अपने ही पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किए थे, प्रत्युत अपने परिवार के संगठन के आधार पर देवों में भी परस्पर पारिवारिक सम्बन्धों की कल्पना कर ली थी। देवों में परस्पर पारिवारिक सम्बन्धों की कल्पना वैदिक आर्यों की अपनी कल्पना है, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ग्रीक और ट्यूटानिक दैवत-कथाओं में भी देवों में परस्पर पारिवारिक सम्बन्धों की स्थापना की गई है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वैदिक दैवत-कथाओं में देवों के परस्पर सम्बन्धों में बड़ी अनियमितता है। किसी स्थल पर द्यौ को सब देवों का पिता कहा गया है तो किसी स्थान पर इन्द्र या किसी अन्य देव को द्यौ तथा अन्य देवों का पिता कहा गया है। लेकिन इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि वैदिक देवों के पारिवारिक सम्बन्धों की अव्यवस्था और अस्थिरता में वैदिक आर्यों की पारिवारिक संगठन की अव्यवस्था तथा अस्थिरता प्रतिबिम्बित होती है। देवों में सम्बन्ध की अव्यवस्था का कारण वैदिक ऋषियों की देवों के प्रति मनःस्थिति है। वे जिस देव की स्तुति करते हैं, प्रायः उसे ही सबसे बड़ा देव मान लेते हैं। क्योंकि वैदिक ऋषि देवों की स्तुति केवल भक्तिभाव से नहीं करते थे, बल्कि वे कोई कामना लेकर स्तुति करते थे और उन्हें सोम-पान के लिए आमन्त्रित करते थे। वे सोम और स्तुति के प्रतिदान के रूप में देवों से अपनी कामना की पूर्ति की अभिलाषा रखते थे।[२] ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि किसी ऋषि या उसके यजमान को जिस समय जिस देव से अपनी कामना पूर्ति की आशा होती थी, तो वह उसकी ही खूब बढ़ा चढ़ाकर स्तुति करता था और उसका सब देवों से महान्, सबको उत्पन्न करने वाला, सबको वश में करने वाला आदि विशेषणों से गुण-गान करता था। इसलिए प्रो० मैक्समूलर ने वैदिक धर्म को Henotheism अथवा Katheno-theism की संज्ञा देने का सुझाव दिया था।[३] देवों को पिता, भ्राता

---

१. Cf. *E. R. E*, II, p. 33.

२. Kaegi : *Life in Ancient India*, p. 45 (English Trans. by Arrow Smith).

३. देखिये, वही, पृ० ४५।

आदि अथवा बन्धु आदि शब्दों से इसलिए सम्बोधित किया जाता था जिससे कि देव उसकी प्रार्थना पर शीघ्र ध्यान देवें।

ऋग्वेद में प्रायः द्यौ की पिता और पृथिवी की माता के रूप में कल्पना की गई है और दोनों देवताओं का स्तवन प्रायः साथ-साथ किया गया है। ऋक् १,१६४,३३ में ऋषि दीर्घतमा कहता है :

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

'द्यौ मेरा पिता है, जनिता है, यहाँ मेरी नाभि है। यह विशाल पृथिवी मेरी माता तथा बन्धु है।'

इसी प्रकार ऋग्वेद १,१८५,१०; १८६,११; ४,१,१०; ६,५१,५; १०,१२५,७ में भी द्यौ को पिता कहा गया है।

ऋग्वेद में ऋषियों ने द्यौ से केवल अपना ही "पितृत्व" का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है, बल्कि उसे सारे संसार और देवों का पिता कहा है। ऋक् १, १९१,६ में द्यौ को जल, ओषधि तथा सूर्य का पिता कहा गया है :

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।

'द्यौ तुम्हारा पिता है, पृथिवी माता है, सोम भाई है, और अदिति बहिन है।'

ऋक् ३,१,९ में अन्तरिक्षस्थ अग्नि को जन्म से ही पिता (द्यौ) के अङ्क को जानने वाला कहा गया है :

पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद।

'अग्नि जन्म से ही पिता (द्यौ) के ऊध (अङ्क) को जानता था।'

ऋक् ७,१०१, ३ और ७,१०२,१ में पर्जन्य को पुत्र और द्यौ को पिता कहा गया है :

पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः। ७,१०१,३।

'माता (पृथिवी) पिता (द्यौ) के वर्षा-जल (पयः) को ग्रहण करती है। उससे पिता (द्यौ) वृद्धि को प्राप्त करता है, उससे पुत्र (पर्जन्य) वृद्धि को प्राप्त करता है।'[1]

पर्जन्याय प्रगायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे। ७,१०२,१।

'सुखदाता, द्यौ के पुत्र, पर्जन्य की स्तुति करो।'

---

१. जल-वर्षा से तृण अन्न आदि उत्पन्न होते हैं; उनसे द्यौ और पर्जन्य को हवि दी जाती है, इसलिये अन्न आदि से पिता और पुत्र दोनों की वृद्धि होती है।

ऋक् ६,८६ २ में द्यौ को सोम का पिता कहा गया है:

अप्सु द्रप्सो वावृधे श्येनजूतो दुह ईं पिता दुह ईं पितुर्जाम्।

'श्येन के द्वारा लाया गया सोम-बिन्दु (द्रप्स) जल में वृद्धि को प्राप्त हुआ। अध्वर्यु (पिता) ने द्यौ की (पितुः) सन्तान सोम को (जाम्) दुहा।'

(आ) अन्य देवों के लिये पितर् शब्द का प्रयोग।

(१) **अग्नि**—देवों में अग्नि का गृह से सबसे अधिक सम्बन्ध है। देव रूप में ही नहीं, दैनिक जीवन में भी, विशेषतया समाज की उस आदिम अवस्था में जब अग्नि प्राप्त करने के लिये महान् प्रयत्न की अपेक्षा होती थी, अग्नि का बड़ा महत्त्व था।[१] इसलिये वैदिक आर्यों ने अग्नि की गृहपति के रूप में कल्पना की थी। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अग्नि को घर का स्वामी (गृहपति, दम्पति) कहा गया है।[२] ऐसी अवस्था में अग्नि को पिता का स्थान देना स्वाभाविक ही था।

ऋषि हिरण्यस्तूप आङ्गिरस अग्नि की स्तुति करता है:

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्। ऋक् १,३१,१०।

'हे अग्नि, तू हमारा ध्यान रखने वाला है हमारा पिता है, आयु देने वाला है। हम तेरे जामि (सम्बन्धी हैं)।'

इसी प्रकार ऋग्वेद १,३१,१६; २,५,१; ५,४,२; १०,७,३ में भी उपासक ने अग्नि को पिता कहा है।

वैदिक ऋषियों ने अग्नि के साथ केवल अपने ही सम्बन्ध स्थापित नहीं किये हैं, अपितु अग्नि को अन्य देवों, अर्ध-देवों और चेतनारोपित (personified) वस्तुओं का भी पिता कहा है।

पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।

ऋक् ३,३,४।

'अग्नि यज्ञों का पिता, ऋषियों का महान् देव (असुर) और स्तुति-कर्ताओं का नापने वाला (विमान) तथा प्रतीक (वयुन) है।'

ऋग्वेद ३,२७,६ में अग्नि को दक्ष का पिता कहा गया है:

धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमादधे। दक्षस्य पितरं तना॥

---

१. गाँवों में दियासलाई के प्रचलन से पहले, २४ घण्टे आग रखने वाले गृहस्थ को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

२. ऋक् १,१२,६; १,३६,५; २,१,२; ४,११,५; ५,३,२; ५,२२,४; ६,१५,१३; ६,४८,८; ७,१,१; ८,६०,१६; १०,६१,१० इत्यादि।

'अग्नि बुद्धि द्वारा श्रेष्ठ किया गया है। मैंने प्राणियों के बीज और दक्ष के पिता को प्राप्त कर लिया।'

(२) **इन्द्र**—वामदेव ऋषि ने इन्द्र को सबसे श्रेष्ठ पिता कहा है :

सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः। ऋक् ४,१७,१७।

'(इन्द्र) स्तुति कर्ता के लिये सखा, पिता, पिताओं में सर्वश्रेष्ठ पिता, जीवनदाता, तथा आयु बढ़ाने वाला है।'

ऋग्वेद ८,५२,५; ९,८,११; ९,६६,७ में भी इन्द्र को पिता अथवा जनिता कहा गया है। ऋक् ३,४९,३, में इन्द्र की मति (मन्त्रों) के पिता के रूप में कल्पना की गई है। इन्द्र को ऋक् ३,४९,४ में सूर्य[1] का तथा ८,३६,४ में द्यौ और पृथिवी[2] का जनिता कहा गया है।

(३) **वरुण**— ऋग्वेद में देव वरुण को भी पिता शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। ऋषि वसिष्ठ, जिसे मित्र और वरुण का पुत्र माना जाता है, कामना करता है कि चतुर अङ्गिरसों ने सविता की स्तुति करके जिस उत्तम धन को प्राप्त किया था, उसे पिता (वरुण) और विश्वेदेव हमें भी प्रदान करें :

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त रत्नं देवस्य सवितुरियानाः।
पिता च तन्नो महान्यजत्रो विश्वेदेवाः समनसो जुषन्त ।। ऋक् ७,५२,३।

ऋक् १०,१२४,३ में भी वरुण का 'पितर्' से निर्देश किया गया है :

शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि।

(अग्नि कहता है)—'मैं पिता (वरुण) को विदाई देता हूँ (शंसामि शेवम्)।'

इसी प्रकार अगली ऋचा में भी वरुण को पिता कहा गया है :

बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि।

ऋक् १०,१२४,४।

'मैं (अग्नि) बहुत वर्ष तक इस (वरुण) के समीप रहा। मैं इन्द्र का वरण करता हुआ पिता (वरुण) का त्याग करता हूँ।'

(४) **बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति**—बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति देव की कल्पना विशुद्ध भारतीय है। मूल रूप में बृहस्पति अग्नि का ही एक रूप था, लेकिन ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भ में ही बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति की अग्नि से भिन्न स्वतन्त्र रूप में कल्पना कर ली गई थी।[3] ब्रह्मणस्पति 'रेवत्'

---

१. क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य।

२. जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।

३. देखिये, Macdonell : *Vedic Mythology*, p. 103.

(धनवाला) 'अमीवहा' (रोगनाशक) 'वसुवित्' (धन-दाता), तथा 'पुष्टि-वर्धन' है,[1] इसलिये उसे पिता कहा गया है।

क्योंकि बृहस्पति 'ब्रह्म' अर्थात् प्रार्थना का अधिष्ठातृदेव है, इसलिये उसे 'ब्रह्मणां जनिता' कहा गया है :

विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि। ऋक् २,२३,२।

'तू सब प्रार्थनाओं का उत्पन्न करने वाला है।'

ऋषि वामदेव यज्ञ, हवि, तथा नमस्कार द्वारा देव बृहस्पति का प्रसादन करके प्रार्थना करता है :

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

ऋक् ४, ५०, ६।

'हम पिता, विश्वदेव स्वरूप, बलवान् के लिये यज्ञ, हवि तथा नमस्कार करते हैं। हे बृहस्पते, हम उत्तम सन्तान वाले और वीरों वाले होवें तथा धनों के स्वामी बनें।'

ऋक् २,२६,३ में बृहस्पति को देवों का पिता कहा गया है :

देवानां यः पितरमा विवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्।

'जो देवों के पिता ब्रह्मणस्पति की श्रद्धायुक्त मन से पूजा करता है।'

(५) **सोम**—ऋग्वेद में सोम को भी पिता कहा गया है। ऋषि हिरण्यस्तूप सोम से धन की प्रार्थना करता हुआ कहता है :

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद् गोमद्यवमत्सुवीर्यम्।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः॥

ऋक् ९,६९,८।

'हमारे लिये द्रव्य, सुवर्ण, अश्व, गौ और यव रूप धन तथा वीरता को प्राप्त कराओ, क्योंकि हे सोम, तुम द्यौ के मूर्धा पर स्थित, आयु की वृद्धि करने वाले मेरे पिता हो।'

ऋक् ९,७३,३ में सोम को सोम-सवन करने वालों का पिता कहा गया है :

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्।

'पवित्र (सोम छानने का साधन, चलनी) धारण करने वाले वाणी के चारों ओर बैठते हैं। प्राचीन पिता (सोम) इनके व्रत की रक्षा करता है।'

---

१. ऋक् १, १८,२।

सोम-पान से ऋषियों को छन्दो-रचना की प्रेरणा मिलती है, इसलिये सोम को मतियों (वैदिक छन्दों) का पिता कहा गया है :

यः सूर्यस्यासिरेण मृज्यते पिता मतीनामसमष्टकाव्यः । ऋक् ९,७६,४ ।

ऋक् ९,८६,१०; ८९,२; ९०,१; ९६,५; १०९,४ में सोम को देवों का पिता और जनिता कहा गया है।

(६) **त्वष्टा**—त्वष्टा देवों का शिल्पी है। उसने इन्द्र का वज्र बनाया है और बृहस्पति के कुठार को तीक्ष्ण किया है। उसने असुर के भक्ष्य और देवों के पेय को धारण करने वाले चमस का निर्माण किया है। वह प्राणियों के रूप को बनाता है।[1] ऋक् १०,६४,१० में ऋषि गय प्लात त्वष्टा से प्रार्थना करता है कि पिता त्वष्टा ऋषि के वचन को सुने :

उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस्त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः ।

'माता बृहद्दिवा और पिता त्वष्टा देवों और देव-पत्नियों के साथ हमारे वचन को सुने।'

ऋक् २,१७,६ में त्वष्टा को इन्द्र का पिता बतलाया गया है :

सास्मा अरं बाहुभ्यां यं पिताकृणोद्विश्वस्मादा जनुषो वेदसस्परि ।

'उस (वज्र) से इस (इन्द्र) की भुजा अलंकृत हो गई, जिसे पिता (त्वष्टा) ने सब प्रकार के उत्तम धनों से बनाया था।'

(७) **रुद्र**—ऋग्वेद में यद्यपि रुद्र का भयानक वर्णन किया गया है, और बार-बार प्रार्थना की गई है कि वह अपने वज्र को अन्यत्र चलाये, फिर भी रुद्र का कल्याणकारी रूप भी ऋग्वेद में मिलता है। उसके हाथ में सुन्दर औषधियाँ हैं, वह पशुओं का स्वामी है। वह महान् भिषग् है। उससे स्तुतिकर्ता की सन्तान को रोग से बचाने की प्रार्थना की गई है।[2] इसलिए रुद्र को पिता का स्थान देना स्वाभाविक ही था। उसे भुवन का पिता कहा गया है :

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ । ऋक् ६,४९,१० ।

'भुवन के पिता रुद्र की दिन-रात इन वाणियों (स्तुतियों) से संवर्धना करो।'

ऋग्वेद २,३३,१ और ५,५२,१६ में रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है।

---

१. Macdonell : *Vedic Mythology*, p. 116.

२. *Ibid*, p. 76.

(८) **पर्जन्य**—पर्जन्य (मेघ) वर्षा का देवता है। वर्षा से तृण, अन्न आदि की उत्पत्ति होती है। इसलिये पशुपालन और कृषिवृत्ति करने वाले आर्यों के लिये पर्जन्य को पिता मानना बिल्कुल स्वाभाविक था। वैदिक आर्यों की दृष्टि में पर्जन्य केवल पिता ही नहीं, प्रत्युत 'असुर पिता' था। ऋषि अत्रि भौम प्रार्थना करता है :

अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। ऋक् ५,८३,६।

'हमारा असुर पिता (पर्जन्य) जल की वर्षा करता हुआ इस विद्युत् के साथ नीचे आवे।'

ऋक् ९,८२,३ में पर्जन्य को सोम का पिता कहा गया है :

पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे।

'पत्रों से युक्त महिष (सोम) के पिता मेघ ने पृथिवी की नाभि और पर्वतों पर निवास किया।'

(९) **वात**—वायु अथवा वात को भी ऋग्वेद में आरोग्य लाने वाला तथा आयु की वृद्धि करने वाला कहा गया है। इसलिये वात के साथ भी पिता का सम्बन्ध स्थापित किया गया है :

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥ ऋक् १०, १८६, २।

'हे वात, तुम हमारे पिता हो, हमारे भाई हो और सखा हो, इसलिये तुम हमें जीवित रहने दो।'

(१०) **विश्वकर्मा, प्रजापति, क**—विश्वकर्मा, प्रजापति, या क (प्रजापति का एक नाम) ऋग्वेद के अर्वाचीन भाग[1] में आये हैं। उत्तरवर्ती ऋग्वेद-काल में सब देवों के जनिता, सृष्टि के आदि कारण और सबके उत्पादक के रूप में इनकी कल्पना की गई है। इसलिये इन्हें ऋषियों ने अपना तथा भुवन का पिता कहा है।

ऋग्वेद १०,८२,३ में विश्वकर्मा को ऋषि ने पिता कहा है :

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

'जो हमारा पिता और जनिता है, जो विधाता है और जो सब धामों तथा भुवनों को जानता है।'

---

१. ऋग्वेद के मण्डल २,३,५,६,७ और ८ प्राचीन तथा मण्डल १,९ और १० अर्वाचीन माने जाते हैं।

ऋक् १०,१२१,९ में 'क' प्रजापति को पृथिवी और द्यौ का जनिता कहा गया है :

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।

जो पृथिवी का पिता (जनिता) है या जिस सत्यधर्मा ने द्यौ को उत्पन्न किया है, वह हमे हिंसित न करे ।'

५. देवों से इतर के लिये 'पितर्' शब्द का प्रयोग

ऋग्वेद में केवल देवों के लिये ही नहीं, अपितु जड वस्तुओं तथा उनके अधिष्ठाता देवों के लिये भी 'पितर्' शब्द का प्रयोग किया गया है। युद्ध-रथ के रक्षकों या अधिष्ठाता देवों 'रथगोपाः' को 'पितरः' से निर्दिष्ट किया गया है :

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।

ऋक् ६,७५,९।

'आयु प्रदान करने वाले, कठिनाई में आश्रय देने वाले, शक्तिशाली, गम्भीर पिता (रथगोप) अच्छी संगति में रहते थे ।'

उत्तरवर्ती ऋग्वैदिक काल में ही यज्ञ में चेतनारोपण (personification) होने लगा था, जो उत्तरवैदिक काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। ऋग्वेद १०,१००,५ में यज्ञ को मनु और "हमारा पिता" कहा गया है :

यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कम् ।

'यज्ञ मनु है, पालक है, और हमारा पिता है ।'

यजमान दक्षिणा आदि द्वारा पुरोहित का पालन करता है, इसलिए यजमान का भी 'पितर्' शब्द से निर्देश किया गया है। सोमाहुति भार्गव अग्नि की स्तुति में कहता है :

होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये । ऋक् २,५,१ ।

'पिता (अग्नि) पिताओं (यजमानों) की रक्षा के लिए ज्ञानवान् होता (पुरोहित) उत्पन्न हुआ है ।'

ऋग्वेद ५,३,९ में यजमान को अग्नि का 'पिता' और 'पुत्र' दोनों कहा गया है। यजमान अग्नि का आधान करने के कारण अग्नि का पिता है, और अग्नि द्वारा पुत्र समान प्रेम किये जाने के कारण अग्नि का पुत्र है ।[1]

पुरुकुत्स दौर्गह के शत्रुओं द्वारा बाँध दिए जाने पर पुरुकुत्सानी ने जिन सात ऋषियों द्वारा यज्ञ कराकर इन्द्र और वरुण की सहायता से इन्द्र के

---

1. Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. II, p. 191, f. n.

समान वृत्र का वध करने वाला, अर्धदेव, पुत्र त्रसदस्यु प्राप्त किया, उन ऋषियों को त्रदस्यु ने 'पितरः' कहा है :

अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने ।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ।। ऋक् ४,४२,८ ।

'दुर्गह के पुत्र (पुरुकुत्स) के बांध लिए जाने पर सात ऋषि हमारे पिता थे; उन्होंने यज्ञ द्वारा इसके (पुरुकुत्सानी के) लिए इन्द्र के समान वृत्र का वध करने वाला, अर्धदेव, त्रसदस्यु प्राप्त किया ।'

जिन वस्तुओं में पूर्वापर भाव, अङ्गाङ्गिभाव, कार्य-कारण भाव, या आधाराधेय भाव सम्बन्ध है, उनमें भी पिता-पुत्र सम्बन्ध की स्थापना की गई है। प्रस्तर पर्वतों से लाये जाते हैं, इसलिए पर्वतों को प्रस्तरखण्डों का पिता कहा गया है :

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे । ऋक् १०, ९४,१२ ।

'तुम्हारे (सोम-पेषण करने वाले प्रस्तर खण्डों के) पिता लोग युग-युग में अचल हैं, अर्थात् पर्वत कभी डिगते नहीं हैं ।'

इषुधि (तरकस) को बाणों का पिता तथा बाणों को इषुधि के पुत्र कहा गया है :

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रः । ऋक् ६,७५,५ ।

'(इषुधि) बहुतों का पिता है और इसके बहुत-से पुत्र हैं ।'

६. जाति के मूल पुरुष—मनु और यम—के लिए पितर् शब्द का प्रयोग

मनुष्य जाति की उत्पत्ति के विषय में वैदिक कल्पना निश्चित नहीं है; लेकिन सामान्यतया मनुष्य जाति की उत्पत्ति एक मूल-पुरुष से मानी जाती है। यह मूल पुरुष मनु कहा गया है, जो कि विवस्वत् का पुत्र था और जिसने सर्वप्रथम यज्ञ किया था। उसे ऋक् १,८०,१६ में 'मनुष्पिता' भी कहा गया है।[1] विवस्वत् के पुत्र यम को प्रथम मृत पुरुष माना गया है, इसलिए यम को भी मनुष्य जाति का मूल-पुरुष कहा जा सकता है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में मनु और यम दोनों मनुष्य जाति के मूल पुरुष हैं, इसलिए उन्हें ऋग्वेद में अनेक बार 'पितर्' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। ऋषि कुत्स आङ्गिरस रुद्र से प्रार्थना करता है :

१. Macdonell : *Vedic Mythology*, pp. 14—15.

मृडा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते ।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु ।।

ऋक् १,११४,२ ।

'हे रुद्र, हमें आनन्दित करो । हमें सुखी करो । हम वीरों के आश्रय (तेरे) लिए नमस्कार करते हैं । हे रुद्र, तेरे नेतृत्व में हम वह शान्ति और सुख प्राप्त करें जो पिता मनु ने प्राप्त किए थे ।'

ऋक् २ ३३,१३ में गृत्समद ने भी रुद्र से ऐसी ही प्रार्थना की है ।[1]

ऋक् १०,१३५,१ में यम को 'हमारा पिता' कहा गया है :

अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ।

'यहाँ गृहस्वामी, हमारा पिता (यम) पूर्वजों की प्रेमपूर्वक देखभाल करता है ।'

७. 'पितर्' शब्द का माता-पिता दोनों के लिए प्रयोग

ऋग्वेद में द्विवचनान्त 'पितर्' शब्द का प्रयोग माता और पिता दोनों के लिये हुआ है ।[2] इस प्रकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में भी प्रचलित रहा है । ऋग्वेद में 'पितर्' शब्द के द्विवचन में दो प्रकार के रूप उपलब्ध हैं— 'पितरा' और 'पितरौ' । 'पितरौ' रूप केवल ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डलों में ही पाया जाता है । ऋग्वेद में पिता के वाचक तीन शब्दों में से केवल 'पितर्' का ही माता और पिता दोनों के लिए प्रयोग हुआ है । शेष दो शब्दों, 'जनितर्' और तत' का प्रयोग केवल पिता के लिए ही हुआ है, माता-पिता दोनों के लिए नहीं। पुँल्लिङ्ग 'जनितर्' शब्द का द्विवचन में केवल एक बार प्रयोग हुआ । ऋक् ६,६९,२ में 'इन्द्राविष्णु' को प्रार्थनाओं का 'जनितारा' कहा गया है ।[3] इन्द्र और विष्णु पुरुष देव हैं । इसलिए वहाँ 'जनितारा' का अभिप्राय 'माता-पिता' नहीं हो सकता । 'तत' शब्द का ऋग्वेद में कहीं भी द्विवचन में प्रयोग नहीं हुआ है । केवल एक स्थल[4] पर 'तत' से निष्पन्न तद्धितान्त शब्द 'तात्या' द्विवचनान्त का 'पितरा' (माता-पिता) के विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है । इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में माता-पिता

१. यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि ।

२. देखिए ऋक् १,२०,४; ११०,८; ३,१८,१; ४,३३,३; ३५,५; ३६,३; ४१,७; १०,३९,६; १३१,५ ।

३. या विश्वासां जनितारा मतीनामिन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना ।

४. क्व स्वित् तात्या पितरा व आसतुः । ऋक् १,१६१,१२ ।

दोनों का वाचक शब्द 'पितरा' (पितरौ) पिता के वाचक 'पितर्' शब्द से ही निकला है, अन्य (जनितर्, तत) से नहीं।

'पितर्' द्विवचन का 'द्यावा-पृथिवी' के लिए अनेक बार प्रयोग हुआ है। क्योंकि द्यौ और पृथिवी की क्रमशः देवों के पिता और माता के रूप में कल्पना की गई है, इसलिए द्यावा-पृथिवी या रोदसी के पितृत्व और मातृत्व को प्रकट करने के लिए उन्हें 'पितरा' या 'पितरौ' कहा गया है :

उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभिः।
सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभिः ॥

ऋक् १,१५९,२।

'मैं द्रोह न करने वाले पिता के मन, और माता की विशाल स्वाभाविक शक्ति की स्तुति करता हूँ। शक्तिशाली माता-पिता (द्यावा-पृथिवी) ने विशाल भूमि और अपनी सन्तान के लिए अमृत का उत्पादन किया।'[1]

जिन काष्ठों को रगड़ कर अग्नि का उत्पादन किया जाता था, उन्हें भी आलङ्कारिक रूप से अग्नि का माता-पिता (पितरा) कहा गया है :

श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः। ऋक् १,३१,४।

'जब (तू) वेग से माता-पिता अर्थात् अरणियों से (पित्रोः परि) पृथक् किया जाता है, तब तुझे प्रथम पूर्व दिशा में और पश्चात् पश्चिम दिशा में ले जाते हैं।'

'पितर्' द्विवचनान्त का एक बार 'नासत्या' के लिए भी प्रयोग किया गया है :

नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा। ऋक् ३,५४,१६।

'मेरे पिता 'नासत्या' बन्धुओं का ध्यान रखते हैं।'

८. 'पितर्' (बहुवचन) का पूर्वजों तथा पितरों के लिए प्रयोग

ऋग्वेद में बहुवचनान्त 'पितर्' शब्द का सामान्यतया पूर्वजों और पितरों के लिए प्रयोग हुआ है। पिता और पिता से पूर्व पीढ़ियों के पुरुषों में कोई विशेष भेद नहीं किया जाता था। पिता के लिए एकवचन और पिता से पूर्व पीढ़ी के पुरुषों के लिए बहुवचन पितर् शब्द का प्रयोग किया जाता था। यदि बहुत ही पुरानी पीढ़ी के पूर्वजों का उल्लेख करना होता था, तो 'पितर्' शब्द के साथ 'पूर्व', 'प्रत्न' आदि विशेषण भी जोड़ दिये जाते थे।

---

१. ऋक् १,१२१,५; ३,३,११; ६,७,४; ७,६,६ भी देखिये।

नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः ।
ऋक् ३,३९,४ ।

'जिन हमारे पूर्वजों ने (पितरः) गौओं के लिए युद्ध किया था, मनुष्यों में कोई उनकी निन्दा करने वाला नहीं है ।'[१]

ऋग्वेद में नवग्वों, अङ्गिरसों और अथर्वणों का प्राचीन पौराणिक पुरुषों के रूप में वर्णन किया गया है, इसलिए उनका निर्देश करने के लिए 'पितरः' के साथ 'पूर्वे' या 'प्रत्नासः' विशेषण भी जोड़ा गया है :

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः.........।। ऋक् ४,२,१६ ।

'हे अग्नि, जैसे ऋत का सेवन करने की इच्छा करते हुए, हमारे प्राचीन पूर्वजों (अङ्गिरसों) ने स्तुति करते हुए पवित्र प्रकाश प्राप्त किया ।'

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभिवाजयन्तः ।
ऋक् ६,२२,२ ।

'उस (इन्द्र) को स्तुति करने वाले हमारे पूर्वज (पूर्वे पितरः) सात नवग्वों ने बलयुक्त किया ।'

मृत पूर्वजों (manes) के लिए भी 'पितर्' शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है । मृत पूर्वजों (पितरों) के विषय में देवों के साथ साहचर्य की कल्पना की गई थी, इसलिए यज्ञ में सोमपान के लिए देवों के साथ 'पितरों' का भी आह्वान किया जाता था ।

अवन्तु मा पितरो देवहूतौ । ऋक् ६,५२,४ ।

'पितर लोग देवों के आह्वान के समय मेरी रक्षा करें ।'[२]

पिता से पूर्व की पीढ़ियों के पूर्वजों का निर्देश करने के लिए ऋग्वेद में एक अन्य विधि का भी प्रयोग किया गया है । और वह विधि यह है कि 'पितर्' एकवचन के साथ 'प्रत्न', 'मह्', 'महत्' या 'बृहत्' जोड़ दिया जाता है ।[३] लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में इस प्रकार के प्रयोग प्रायः उन देवों के सन्दर्भ में हैं जिनकी देवों अथवा मनुष्यों के पूर्वजों के रूप में कल्पना

---

१. ऋक् ४,१,१३; ९,९६,११ भी देखिए ।

२. ऋक् ७,३५,१२; ७,७६,४; १०,१६९,४ भी देखिए ।

३. आधुनिक भारतीय बोलियों में भी इस प्रकार के प्रयोग प्रचलित हैं ।

की गई है। केवल एक स्थल पर मनुष्यों के प्रसंग में 'महे पित्रे' का उल्लेख किया प्रतीत होता है।[1]

द्यौ में उदित होते हुए सूर्य के वर्णन में द्यौ को सूर्य का 'पूर्व पिता' कहा गया है।

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश। ऋक् ५,४७,३।

'वृषा, समुद्र, रक्तवर्ण और शोभनपक्ष युक्त (सूर्य) प्रथम पिता के (पूर्वस्य पितुः, द्यौ के) आवास में (योनिम्) प्रविष्ट हुआ।'

अन्य प्रसंगों में द्यौ को 'मह् पितर्' 'मह पितर', प्रत्न पितर्' और 'बृहत् पितर्' कहा गया है।[2]

ऋग्वेद १,३६,१८ में नववास्त्व का बृहद्रथ और तुर्वीति के साथ पौराणिक पुरुष के रूप में कथन किया गया है। ऋग्वेद ६,२०,११ में इन्द्र के लिए कहा गया है कि उसने नववास्त्व को उत्तराधिकारी के रूप में दिया और 'बड़े पिता' (उशना काव्य) को 'सगा पोता' दिया :

त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय।

परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम्॥ ऋक् ६,२०,११।

'हे इन्द्र, कवि के पुत्र उशन् पर अनुग्रह करते हुए तुम प्रथम वृद्धि करने वाले हुए। तुमने नववास्त्व उत्तराधिकारी (अनुदेय) दिया, बड़े पिता (महे पित्रे=पितामह—उशन्) को उसका पोता (नपात्) दिया।'

९. पिता के कर्तव्य

परिवार में पिता सब से प्रधान और शक्तिशाली होता था, इसलिए अन्य पितृसत्ताक समाजों के पिताओं के समान, ऋग्वैदिक समाज के पिता का भी यह कर्त्तव्य था कि वह अपने परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण और रक्षण करे। ऋग्वेद में ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं जिनसे पिता के इन कर्त्तव्यों का स्पष्ट भान होता है।

(अ) **रक्षण**—'पितर्' शब्द के व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ से ही पिता के रक्षण के कर्त्तव्य का बोध होता है। पिता के इस कर्त्तव्य का अनेक ऋचाओं में संकेत हुआ है।

इन्द्र की स्तुति में ऋषि वसिष्ठ कहता है :

'जब समान दक्ष (प्रयत्न) वाले उत्साही[3] (सबाधः) स्तोता लोग इन्द्र

१. ऋक् ६,२०,११।

२. ऋक् १,७१,५; ३,५४,९; ६,७३ ३; १०,३,२।

३. ग्रासमान—सबाधः=eifervoll (उत्साह से भरे हुए); सायण—सबाधः=परस्परं मिलिताः (परस्पर मिलकर)।

को रक्षा के लिए इस प्रकार पुकारते हैं, जिस प्रकार पुत्र पिता को पुकारते हैं, तब सोम इन्द्र को प्रत्येक उक्थ (सूक्त) पर मदयुक्त कर देता है और सवन किए हुए रस मघवा को प्रत्येक स्तोत्र पर मदयुक्त कर देते हैं।'[१]

द्यावा-पृथिवी से भी, जो कि सब देवों और मनुष्यों के माता-पिता हैं, विपत्तियों से रक्षा की कामना करते हुए कहा गया है :

'हे द्यावा और पृथिवी, तुम माता-पिता की गोद में स्थित बच्चे के समान हमारी विपत्तियों से रक्षा करो'।[२]

मनु वैवस्वत 'विश्वदेव' से प्रार्थना करता है :

वयं तद्वः सम्राज आवृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्। ऋक् ८,२७,२२।

'हे सम्राटों, हम तुम्हारे प्रसिद्ध महान् रक्षण की कामना करते हैं जैसे पुत्र (पिता से) रक्षण की कामना करता है।'

वामदेव ऋषि इन्द्र की त्राता, आपि, मर्डिता आदि विशेषणों से स्तुति करता है, लेकिन वह तब तक इन्द्र को प्रसन्न कर लेने की आशा नहीं करता जब तक कि उसे केवल पिता ही नहीं, अपितु पिताओं में श्रेष्ठ (पितृतम) नहीं कह लेता :

'(इन्द्र) हम सोम का सवन करने वालों का रक्षक है, आपि है, सुखदाता है, सखा है, पिता है, पिताओं में सर्वश्रेष्ठ पिता है। जीवन-दाता (इन्द्र) स्तुतिकर्ता के लिए इस लोक को प्रदान करता है।[३]

(आ) **भरण-पोषण**—पिता का रक्षण के अतिरिक्त भरण-पोषण भी कर्तव्य है। ऋग्वेद में जगह-जगह देवों को पिता के समान प्रमति (भरण-पोषण, भरण-पोषण करने वाला) कहा गया है। ऋषि वसिष्ठ इन्द्र की स्तुति में कहता है :

'जिन पूर्व ऋषियों की प्रार्थनाओं को तुमने सुना था, वे भी मनुष्य ही थे, इसलिए हे मघवन्, मैं तुम्हें पुकारता हूँ। हे इन्द्र, तुम पिता के समान हमारा

---

१. उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथेनीथे मघवानं सुतासः।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते ॥ ऋक् ७,२६,२।

२. नित्यं न सूनुं पित्रोरुपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्।
ऋक् १,१८५,२।

३. त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥
ऋक् ४,१७,१७.

भरण-पोषण करने वाले हो।"[1]

ऋषि हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ने अग्नि को दुर्बल का भी भरण-पोषण करने वाला पिता कहा है।[2] एक अन्य स्थल पर पिता के भोजन जुटाने के कर्त्तव्य का अति स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। ऋषि ने इन्द्र के मुख से कहलाया है—'मैं धन का प्रथम स्वामी हूँ, मैं शाश्वत धन को जीतता हूँ, मुझे प्राणी (सन्तान ?) पिता के समान पुकारते हैं, मैं पूजक को भोजन बाँटता हूँ।'[3] इससे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक समाज में परिवार के लिए खाद्य सामग्री संचित करना पिता का कर्त्तव्य था। ऋग्वेद ८,१९,२७ में देवों को दी जाने वाली हवि की उपमा पिता के घर में पालन किए गए पुत्र से दी गई है : 'पिता के घर में भली प्रकार पालन किये गये पुत्र के समान (घर में तैयार की गई) हमारी हवि देवों को पहुँचे।'[4] इससे प्रकट होता है कि पुत्र के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व विशेष रूप से पिता पर ही था। पिता अपनी सन्तान के लिए केवल भोजन-आच्छादन की सामग्री संचित करने मात्र से ही संतुष्ट नहीं होता था, अपितु उन्हें, विशेषतया पुत्र को, प्रसाधित तथा तथा भूषित देखकर पुलकित होता था। एक ऋषि ने सोम का वर्णन करते हुए कहा है—'अलङ्करणीय प्रिय पुत्र के समान कान्तियुक्त (सोम) धवल वस्त्र से आच्छादित कर लिया गया है।'[5]

पिता केवल अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा ही सन्तान की रक्षा नहीं करता था। वह देवों से भी सन्तान की रक्षा की कामना करता था और देवों को इसलिए प्रसन्न करता था कि देव उसे और उसकी सन्तान को आयुष्य तथा समृद्धि प्रदान करें। हिरण्यस्तूप आङ्गिरस 'अश्विनौ' से प्रार्थना करता है—'हे शुभस्पति, मेरे पुत्र के लिये प्रसाद, स्वास्थ्य और धन—तीन

---

१. उतो घा ते पुरुष्या इदासन्येषां पूर्वेषामशृणोर्ऋषीणाम्।
अधाहं त्वा मघवञ्जोहवीमि त्वं न इन्द्रासि प्रमतिः पितेव ॥
ऋक् ७,२९,४।

२. आध्रस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता। ऋक् १,३१,१४।

३. अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥
ऋक् १०,४८,१।

४. पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः।

५. आ हर्यतो अर्जुने अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः। ऋक् ९,१०७,१३।

प्रकार का कल्याण प्राप्त कराओ।'[1] परिवार की धूप, वर्षा और शीत आदि से रक्षा के लिए गृह आदि का निर्माण करना भी पिता ही का कर्त्तव्य था, जिस कार्य में वह दैवी सहायता की अपेक्षा रखता था। ऋक् ७,६२,६ में ऋषि वसिष्ठ अर्यमा, मित्र तथा वरुण देवों से पुत्र के लिए विस्तृत स्थान की प्रार्थना करता है :

'मित्र, वरुण और अर्यमा हमारे लिये और हमारे पुत्र के लिये विस्तृत स्थान (वरिवस्) प्रदान करें।''[2]

परिवार के लिये अन्य आवश्यक सामग्री तथा उपकरण प्राप्त करना भी पिता का कर्त्तव्य था, जिस उपकार के कारण परिवार के अन्य सदस्य (विशेष कर सन्तान) पिता को सर्वदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। ऋषि वसिष्ठ बृहस्पति से वृद्धि की प्रार्थना करते हुए कहता है : 'हम उदार बृहस्पति के प्रति अपराध रहित होवें, जो (बृहस्पति) हमें दूर से भी पिता के समान देने वाला है।'[3]

(इ) शिक्षण— अन्य प्राणियों में भी मादा और बच्चों की रक्षा और भोजन सामग्री की प्राप्ति का कार्य नर अथवा पिता का कर्त्तव्य होता है। मनुष्य पिता का सन्तान के प्रति एक अन्य कर्त्तव्य भी है, जो केवल मनुष्य पिताओं तक ही सीमित है। वह कर्त्तव्य है शिक्षा। ऋग्वैदिक पिता भी अपनी सन्तान को योग्य बनाना चाहता था। ऋग्वेद १,६१,२० में कामना करने योग्य पुत्र के गुणों का संकेत किया गया है। ऋषि सोम की स्तुति करता हुआ कहता है : 'जो सोम को हव्य देता है सोम उसे धेनु देता है। सोम शीघ्रगामी अश्व देता है और सोम कर्मशील, गृहकार्य में दक्ष, यज्ञ-मण्डप तथा सभा के योग्य और पिता की यशोवृद्धि करने वाला वीर (पुत्र) देता है।'[4] ऋग्वेद-काल में सन्तान की सब प्रकार की शिक्षा—घरेलू, लौकिक, धार्मिक तथा सामाजिक आदि—का उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही था। पुत्र की शिक्षा का उत्तरदायित्व विशेष रूप से पिता पर था। वैदिक युग के गुरु

---

१. ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती। ऋक् १,३४,६.
२. नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु। ऋक् ७,६२,६.
३. यथा भवेम मीळ्हुषे अनागा यो नो दाता परावतः पितेव।
ऋक् ७,९७,२.
४. सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै।।

के विषय में प्रो० अल्तेकर ने लिखा है : "उस सुदूरवर्ती युग में जब कि वैदिक सूक्त ऋषियों के परिवारों में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते थे, तब स्वयं पिता ही गुरु था। (बृहदारण्यकोपनिषद् ५,२,१ में आई) देव, मनुष्यों और असुरों की कथा इसमें प्रमाण है। देवों, मनुष्यों और असुरों ने अपना ब्रह्मचर्य काल अपने पिता प्रजापति के समीप ही बिताया था, जो उनका गुरु था। उपनिषत्-काल में भी श्वेतकेतु का गुरु उसका पिता आरुणि था। जब शिक्षा-समाप्ति पर वह पाञ्चालों की परिषद् में गया तो वहाँ उससे पूछा गया था कि क्या उसके पिता ने उसे शिक्षा दे दी है।"[१] वैदिक काल में पिता ही गुरु होता था, इसके प्रमाण केवल उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों में ही उपलब्ध नहीं हैं, स्वयं ऋग्वेद में भी ऐसे संकेत हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि सन्तान की शिक्षा का कार्य स्वयं पिता ही करता था। ऋषि वसिष्ठ इन्द्र से प्रार्थना करता है : 'हे इन्द्र, तुम हमारे लिये ज्ञान (क्रतु) लाओ, जैसे पिता पुत्र के लिये (ज्ञान) लाता है।'[२] पिता केवल सन्तान की ज्ञान-वृद्धि के लिये ही प्रयत्नशील नहीं रहता था, अपितु उनके बल की वृद्धि का भी ध्यान रखता था। देवातिथि कण्व इन्द्र की स्तुति करता हुआ कहता है : 'हे इन्द्र, जो तुमसे वचन प्राप्त कर लेता है, वह मानो सहस्र आयुधधारी वीरों से युक्त हो जाता है। वह अपने पुत्र को बल-पराक्रम में प्रसिद्ध (प्रावर्ग) कर लेता है, वह नमस्कारपूर्वक हवि प्रदान करता है।'[३] ऋषि विमद इन्द्र की स्तुति में कहता है : 'हम इन्द्र के उन उन बल-कर्मों का कथन करते हैं जिस इन्द्र ने पिता के समान अपनी शक्ति से हमारे बल की वृद्धि की।'[४] प्रो० अविनाश चन्द्र दास का विचार है कि ऋग्वेद-काल में पुत्र विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त करने के लिये पिता के कक्ष में रहते थे।[५] उनका यह मत ऋग्वेद के निम्न मन्त्र पर आधारित है :—

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ॥ ऋक् १,७३,३।

---

१. *Education in Ancient India*, 1st edition, pp. 8–9.

२. क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। ऋक् ७,३२,२६।

३. सहस्रेणेव सचते यवीयुधा यस्त आनळुपस्तुतिम्।
पुत्रं प्रावर्गं कृणुते सुवीर्ये दाश्नोति नमउक्तिभिः ॥ ऋक् ८,४,६।

४. तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः।
ऋक् १०,३०,५।

५. *Rigvedic Culture*, p. 241.

'(अग्नि) सब को धारण करने वाले देव के समान, मित्रों से परिवृत राजा के समान, सामने बैठे हुए, घर (शर्म) में रहने वाले वीरों (पुत्रों) के के समान और पति की प्रिय दोष-हीन नारी के समान पृथिवी पर रहता है।'

लेकिन ऋग्वेद के इस साक्ष्य से यह नहीं कहा जा सकता कि पुत्र विशेष रूप से पिता के कक्ष में रहते थे, क्योंकि यहाँ वीरों को 'घर में रहने वाले' कहा गया है, पिता के कक्ष में रहने वाले नहीं।

पिता स्वयं पुत्र को धार्मिक-ज्ञान की शिक्षा देता था। लेकिन ऋग्वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि धार्मिक शिक्षा विश्व-पिता अग्नि की प्रेरणा के बिना पूरी नहीं होती है, चाहे किसी का मनुष्य-पिता कितना भी ज्ञानी क्यों न हो :[1]

कस्य स्वित्पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा। ऋक् ६, ९, २।

'यहाँ (यज्ञ-मण्डप में या शास्त्रार्थ में) किस (मनुष्य पिता) का पुत्र समीप-स्थित पिता (अग्नि, अवरेण पित्रा) की सहायता के बिना वक्तव्य कह सकता है ?'

ऋग्वेद-काल में पुत्र की शिक्षा साधारणतया पिता की देख-रेख में होती थी; परन्तु सम्भवतया कभी कभी किसी विषय में विशेषता प्राप्त करने के लिये पुत्रों को अध्यापन का व्यवसाय करने वाले गुरुओं के पास भी भेज दिया जाता था, जैसा कि ऋग्वेद के मण्डूक-सूक्त (ऋक् ७,१०३,५) से परिलक्षित होता है।[2]

प्रो० अविनाश चन्द्र दास ने ऋग्वेद काल में अध्यापन के व्यवसाय को

---

१. प्रो० ग्रासमान और Siebenzig Lieder के अनुवाद-कर्त्ताओं का विचार है कि इस मन्त्र में युवा ऋषि का वर्णन है जो स्वयं को किसी वृद्ध ऋषि के साथ शास्त्रार्थ के लिये सन्नद्ध कर रहा है, लेकिन उसे अपनी अकेली शक्ति पर विश्वास नहीं है, इसलिये वह मन्त्रों का विषय सुझाने के लिये अग्नि से प्रेरणा प्राप्त करने में विश्वास प्रकट कर रहा है।

—Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. II, p. 319 f. n.

२. यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

मानेर विलियम्स (Monier-Williams) ने इस ऋक् में 'शाक्त' का अर्थ 'teacher, preceptor' किया है। (*Sanskrit-English Dictionary*, S. V. शाक्त).

प्रमाणित करने के लिये निम्न ऋक् को उद्धृत किया है :[1]

युवोर्दानाय सुभरा असश्चतो रथमा तस्थुर्वचसं न मन्तवे । ऋक् १,११२,२ ।

'शोभन स्तोत्रों से युक्त, अन्यत्र अनासक्त स्तुतिकर्त्ता धन-लाभ के लिये तुम्हारे (अश्विनों के) रथ के समीप इस तरह खड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार (जिज्ञासु) न्याय-युक्त को जानने वाले विद्वान् के पास जिज्ञासित अर्थ के ज्ञान के लिये खड़े होते हैं ।'[2]

किन्तु ऋग्वेद-काल में अध्यापन के विषय में यह प्रमाण असंदिग्ध नहीं है । ग्रिफिथ ने इस ऋक् का अर्थ भिन्न प्रकार के किया है ।[3]

१०. पिता के अधिकार

(अ) **दण्ड का अधिकार**—ऋग्वैदिक युग में पिता के असीम अधिकार थे । उसे सन्तान के शरीर और प्राणों पर पूर्ण अधिकार था । ऋग्वेद में ऋज्राश्व के अन्धा होने और अश्विनौ द्वारा उसके नेत्रों में पुनः ज्योति लौटा देने की कथा की ओर अनेक बार संकेत किया गया है । ऋग्वेद १,११६,१६ में स्पष्ट कहा गया है कि ऋज्राश्व को १०० भेड़ें वृकी को खिला देने के अपराध में उसके पिता ने उसे अन्धा कर दिया था :

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार ।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥

'वृकी के लिये सौ भेड़ों को काटकर देते हुए ऋज्राश्व को पिता (वृषागिरि या वृषागिर्) ने अन्धा कर दिया । औषध-विद् नासत्य और दस्र ('अश्विनौ') ने उसके नेत्रों को देखने में समर्थ (विचक्षे) बना दिया ।'

'अश्विनौ' की उदारता और चमत्कारों की स्तुति में और अपने प्रति 'अश्विनौ' के अनुग्रह के आकांक्षी ऋषियों ने 'अश्विनौ' के इस चमत्कार की ओर इतनी बार संकेत किया है कि उन सबको उद्धृत नहीं किया जा सकता । लेकिन ऋग्वैदिक साक्ष्य से यह स्पष्ट नहीं होता है कि वृषागिरि ने ऋज्राश्व को उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने के अपराध में पिता के नाते अन्धा किया था अथवा प्रजा की सम्पत्ति को नष्ट करने के अपराध में राजा होने के नाते । सायण ने ऋक् १,११६,१६, पर भाष्य करते हुए ऋज्राश्व का विशेषण 'राजर्षि' दिया है, इसलिये सम्भव है कि वृषागिरि भी

---

१. *Rigvedic Culture*, p. 241.

२. मिलाइये, सायणभाष्य ।

३. *Hymns of the Rigveda*, Vol. I, p. 189.

राजा हो। सायण ने स्पष्ट रूप से ऋज्राश्व का अपराध नागरिकों का अहित कहा है। सायण के अनुसार ऋज्राश्व के अन्धा होने और 'अश्विनौ' द्वारा उसके नेत्र लौटा देने की कथा इस प्रकार है :—

"वृषागिरि का पुत्र ऋज्राश्व नामक राजर्षि था। उसके समीप 'अश्विनौ' का वाहन गर्दभ वृकी का रूप धारण करके आया। उसने (ऋज्राश्व ने) उसके (वृकी के) आहार के लिये 'पौरजन' की सम्पत्ति १०१ भेड़ें[1] खण्ड खण्ड करके दे दीं। इस प्रकार नगर-वासियों (पौराणाम्) के अहित में प्रवृत्त (ऋज्राश्व) को पिता ने शाप द्वारा नेत्रहीन कर दिया। उसके द्वारा स्तुति किये जाते हुए 'अश्विनौ' ने यह जानकर कि हमारे वाहन के निमित्त यह अन्धा हुआ है, उसे नेत्र दे दिये।"[2]

उत्तरवर्ती वैदिक अथवा लौकिक साहित्य में ऋज्राश्व के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋज्राश्व का आख्यान इतना प्राचीन और धूमिल हो गया था कि वैदिक अथवा पौराणिक परम्परा उसे जीवित नहीं रख सकी। सायण ने ऋग्वेद१, ११६,१६ के भाष्य की प्रस्तावना के रूप में ऋज्राश्व की जो कथा दी है, वह ऋग्वेद में आये संकेतों और अपनी मनःकल्पना के आधार पर बनाई प्रतीत होती है। वृषागिरि ने ऋज्राश्व को राजा होने के नाते दण्ड दिया था, सायण का यह मत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पूर्व-वैदिक युग में व्यवस्थित दण्ड-विधान का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[3]

ऋग्वेद में पिता द्वारा पुत्र के केवल अङ्ग-भङ्ग का ही उदाहरण नहीं

---

१. ऋक् १,११७,१८ में १०१ भेड़ देने की बात कही गई है :
जारः कनीनइव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्।

२. "वृषागिरः पुत्रः ऋज्राश्वो नाम राजर्षिः। तस्य समीपे अश्विनोर्वाहनभूतो रासभो वृकीभूत्वावतस्थे। स च तस्याहारार्थमेकोत्तरशतसंख्याकान् पौरजनानां स्वभूतान् मेषान् शकलीकृत्य प्रददौ। 'ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्' (ऋक् सं० १,११७,१८) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। एवं पौराणामहिते प्रवृत्तं पिता शापेन नेत्रहीनमकरोत्। तेन स्तूयमानावश्विनौ अस्मद्वाहननिमित्तम् अस्य आन्ध्यं जातमिति जानन्तौ तस्मै अक्षिणी प्रायच्छतामिति।" (सायणभाष्य, ऋग्वेदसंहिता, वैदिक संशोधन मण्डल पूना संस्करण, भाग १, पृ० ७२२)।

३. Varma (Dr.) V. P. : *Hindu Political Thought*, p. 21.

मिलता, अपितु जल में डुबो देने का भी उदाहरण मिलता है। भुज्यु के आख्यान से यह सिद्ध होता है कि पिता पुत्र का देश-निष्कासन तथा जल-मज्जन भी कर सकता था। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में भुज्यु सम्बन्धी आख्यान के संकेत ऋज्राश्व के आख्यान से भी अधिक अस्पष्ट हैं और उनमें परस्पर कुछ विरोध भी है। ऋग्वेद १,११६,३ में कहा गया है: "तुग्र[1] ने भुज्यु को 'उदमेघ' (जल) में प्रवाहित कर दिया, जैसे कोई मृत पुरुष धन को छोड़ देता है; लेकिन, हे 'अश्विनौ', तुम उसे अपनी अन्तरिक्ष में गमन करने वाली, जल न भरने वाली, प्राणवाली नौकाओं से ले आये।"[2] लेकिन ऋग्वेद ७,६८,७ में भुज्यु को मध्य समुद्र में छोड़ने वाले उसके दुष्ट साथी कहे गये हैं।[3] ऋग्वेद १,११९,८ में यद्यपि भुज्यु का स्पष्ट कथन नहीं किया गया है, लेकिन इस स्थल पर भी भुज्यु के आख्यान का ही संकेत किया प्रतीत होता है। वहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि अश्विनौ अपने पिता के क्रोध से सताये हुए दूर देश में बिलखते हुए (भुज्यु) के समीप गये:

'तुम ('अश्विनौ') अपने पिता के कोप से पीडित तथा दूर देश में (परावति) याचना करते हुए (कृपमाण) के समीप गये। इसलिये तुम्हारी प्रकाशयुक्त और अद्भुत रक्षाओं को सम्मुख प्राप्त करने की कामनायें होती हैं।'[4]

भुज्यु के आख्यान का ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन सभी भागों में उल्लेख किया गया है।[5] इससे ऋग्वैदिक काल में भुज्यु के आख्यान की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि उत्तरवर्ती साहित्य में इस आख्यान का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. ऋग्वेद १०,३९,४ में भुज्यु के लिये 'तौग्रच' का प्रयोग किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि तुग्र भुज्यु का पिता था। ऋक् ६,६२,६ में भुज्यु को स्पष्ट रूप से तुग्र का पुत्र (तुग्रस्य सूनुम्) कहा गया है।

२. तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥

३. उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे।

४. अगच्छतं कृपमाणं परावति पितुः स्वस्य त्यजसा निबाधितम्।
स्वर्वतीरित ऊतीर्युवोरह चित्रा अभीके अभवन्नभिष्टयः॥

५. डा० म्यूर ने O.S.T. Vol 5, pp. 244–45 पर ऋग्वेद के उन सभी स्थलों का निर्देश किया है, जिनमें भुज्यु के आख्यान का संकेत है।

(आ) दान, विक्रय तथा परित्याग का अधिकार—पिता को परिवार के सदस्यों के विक्रय, दान देने तथा परित्याग का भी अधिकार था। निरुक्तकार यास्क के समय में स्त्रियों का दान, विक्रय तथा अतिसर्ग किया जा सकता था। किसी किसी ऋषि के मत में पुत्र का भी दान, विक्रय तथा प्रतिसर्ग किया जा सकता था।[१] वसिष्ठधर्मसूत्र में भी माता-पिता का पुत्र के दान, विक्रय और त्याग का अधिकार स्वीकार किया गया है।[२] निरुक्तकार तथा वसिष्ठ का यह मत है कि माता-पिता को सन्तान के दान, विक्रय तथा अतिसर्ग का अधिकार है, ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान पर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेप आख्यान से वैदिक काल में पिता के अधिकारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसलिये यहाँ इस आख्यान का विश्लेषण अनुपयुक्त न होगा। इस आख्यान को कथावस्तु की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :[३]

(१) वरुण, हरिश्चन्द्र और रोहित की कथा (२) शुनःशेप और अजीगर्त की कथा (३) विश्वामित्र के पुत्रों तथा शुनःशेप की कथा।

: (१) : नारद अपत्यहीन ऐक्ष्वाक हरिश्चन्द्र को वरुण की सहायता से पुत्र-प्राप्ति का परामर्श देता है और वरुण इस शर्त पर कि उसकी सहायता से प्राप्त पुत्र की उसके लिये बलि कर दी जायेगी, हरिश्चन्द्र को पुत्र-उत्पत्ति का वर दे देता है। पुत्र उत्पन्न होने पर वरुण राजा हरिश्चन्द्र से पत्र की बलि देने को कहता है, लेकिन राजा हरिश्चन्द्र पुत्र-बलि तब तक आगे के लिये टालता जाता है जब तक कि उसका पुत्र आयुध धारण करने योग्य नहीं हो जाता। जब रोहित आयुध धारण करने योग्य हो गया तो वरुण फिर आया और उसने हरिश्चन्द्र से पुत्र की बलि देने के लिये कहा। हरिश्चन्द्र ने पुत्र को बुलाया और कहा—वरुण ने तुमको दिया है, इसलिये मैं तुम्हें वरुण के लिये बलि दूँगा। लेकिन रोहित ने अपने पिता राजा हरिश्चन्द्र की बात

---

१. स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः, पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्। निरुक्त ३, ४।

२. तस्य दानविक्रयत्यागेषु माता-पितरौ प्रभवतः। व० ध० सू० १५,२। लेकिन आपस्तम्बधर्मसूत्र में ऐसे अधिकार का प्रतिषेध किया गया है: 'दानं क्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते। २,६,१३,१०; पृ० २३१ (काशी संस्कृत सीरीज़ १९३२)

३. Keith : *Rigveda Brāmaṇas Translated*, p. 63.

स्वीकार नहीं की और हाथ में धनुष लेकर वन को चला गया और एक वर्ष तक वन में घूमता रहा। (ऐतरेय ब्राह्मण ७/१३, १४)।

इस कथा से यह प्रकट होता है कि प्राचीन समय में पिता को पुत्र का कम से कम धार्मिक कार्यों के लिये दान करने का अधिकार था और पिता देवों की तुष्टि के लिये पुत्र की बलि[1] दे सकता था। यदि पुत्र शक्तिशाली और साहसी होता था, तो वह पिता के वचन का उल्लङ्घन भी कर सकता था, लेकिन कदाचित् उसे घर छोड़ना पड़ता था, जैसा कि रोहित को करना पड़ा था।

: (२) : वरुण कुपित होकर ऐक्ष्वाक हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग से पीडित कर देता है। जब रोहित को इस बात का ज्ञान होता है, तो वह वन से गाँव की ओर आता है, लेकिन ब्राह्मण के वेश में इन्द्र उसे घूमते रहने का परामर्श देता है। जब-जब रोहित ग्राम में जाने का विचार करता है, तब-तब ब्राह्मण का वेश धारण करके इन्द्र उसे घूमने की प्रेरणा देता है। इस तरह घूमते हुए रोहित को छठे वर्ष में निर्धन ऋषि अजीगर्त सौयवसि के दर्शन होते हैं, जिसके शुन:पुच्छ, शुनःशेप और शुनोलाङ्गूल नाम के तीन पुत्र थे। रोहित ऋषि से १०० गौओं के बदले में अपना एक पुत्र दे देने की प्रार्थना करता है और अजीगर्त अपने मध्यम पुत्र शुनःशेप को दे देता है। रोहित शुनःशेप को लेकर अपने पिता के समीप जाता है और प्रार्थना करता है कि मेरी जगह शुनःशेप को वरुण के लिये बलि दे दिया जाये। वरुण की स्वीकृति मिलने पर हरिश्चन्द्र शुनःशेप की बलि देने की तैयारी करता है। उस यज्ञ में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता बने। जब शुनःशेप को अलंकृत करके बांधने के लिये लाया गया तो उन्हें (पुरोहितों को) कोई उसे बांधने वाला न मिला। इस पर सौयवसि अजीगर्त ने कहा—'मुझे १०० गौ और दे दो और मैं इसे बांध दूंगा।' उन्होंने उसे १०० गौ और दे दीं और अजीगर्त ने उसे बांध दिया। जब शुनःशेप के बांध दिये जाने पर कोई उसके विशसन (वध) के लिये तैयार न हुआ तो

---

१. वैदिक काल में नर-बलि के विषय में विवाद है। प्रो० कीथ ने अति संक्षेप में इस विषय पर प्रकाश डाला है। हिलब्राण्ट ने शुनःशेप उपाख्यान के आधार पर वैदिक काल में नर-बलि की प्रथा का प्रचलन माना है, लेकिन प्रो० कीथ ने इसका खण्डन किया है। (देखिये, *Rigveda Brāmaṇas Translated*, p. 62.

सौयवसि अजीगर्त १०० और अधिक गौ लेकर उसे मारने के लिए भी तैयार हो गया। वह असि तीक्ष्ण करता हुआ आगे बढ़ा। शुनःशेप ने जब देखा कि पिता पशु के समान मेरा घात कर देगा तो वह प्रजापति के पास गया और उसकी स्तुति की। वह पूर्व पूर्व देवता के वचन से क्रमशः अग्नि, सविता, वरुण, फिर अग्नि, विश्वदेव, इन्द्र, अश्विनौ और उषस् के पास गया और उनकी स्तुतियाँ कीं।[1] उषस् की स्तुति में कहे गये तृच (तीन ऋचाओं का समूह) की एक एक ऋक् कहने पर उसके पाश कटते गये और ऐक्ष्वाक नीरोग हो गया। (ऐतरेयब्राह्मण ७/१५,१६)

ऐतरेयब्राह्मण की इस कथा से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पिता धन-प्राप्ति के लिये पुत्र को बेच भी सकता था। लेकिन इससे पुत्र-विक्रय की प्रथा का सामान्य रूप से प्रचलन सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि अजीगर्त ने शुनःशेप को भुखमरी से पीडित होकर ही बेचा था।[2] शाङ्खायनश्रौतसूत्र के अनुसार तो अजीगर्त भूख से इतना पीडित था कि वह स्वयं पुत्र को खा रहा था।[3] परन्तु इससे इस कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि ऐतरेयब्राह्मण के समय (लगभग ८०० ई० पूर्व) में और इससे पहले समय में पिता को पुत्र के विक्रय का अधिकार था और यह अधिकार समाज में इतना दृढमूल था कि उत्तर काल में धर्मशास्त्रकार एकमत होकर पिता के इस अधिकार का निषेध नहीं कर सके। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त ने भी आपस्तम्ब के "दानं क्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते" इस प्रतिषेध को केवल ज्येष्ठ पुत्र तक ही सीमित माना है।[4]

: (३) : अजीगर्त की आर्ष शक्ति से प्रभावित होकर ऋत्विजों ने उसे उस

---

१. ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार ऋग्वेद मण्डल १ के सूक्त २४, २५, २६ २७,२९ और ३० में निहित मन्त्रों से शुनःशेप ने विभिन्न देवों की स्तुति की थी।

२. सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय। ऐतरेयब्राह्मण ७,१५ (हॉग १८६३, पृ० १८०)।

३. सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनयापरीतं पुत्रं भक्षमाणमरण्यमुपेयाय। शाङ्खायनश्रौतसूत्र, १५,१९,१ (हिलब्राण्ट, १८८८, भाग १, पृ० १९१)।

४. द्वादशविधेषु पुत्रेषु दत्तक्रीतयोरपि पुत्रयोर्मन्वादिभिः पठितत्वान्नायं सामान्येन प्रतिषेधः। किं तर्हि? ज्येष्ठपुत्रविषयः, एकपुत्रविषयः, स्त्रीविषयो वा। आपस्तम्ब धर्म० (बनारस संस्करण) पृ० २३१.

दिन की अन्तिम यज्ञ-क्रिया (संस्था) करने के लिये कहा।[1] इस पर शुनःशेप ने अन्जःसव का आविष्कार किया। यज्ञ-क्रिया कराने के पश्चात् शुनःशेप विश्वामित्र की गोद में बैठ गया और इस विधि से विश्वामित्र का पुत्र हो गया।[2] अजीगर्त ने विश्वामित्र से शुनःशेप को वापस माँगा, लेकिन विश्वामित्र ने यह कहकर मना कर दिया कि देवों ने इसे मुझे दिया है। इससे शुनःशेप 'देव-रात' वैश्वामित्र हो गया। विश्वामित्र ने उसे अपना जेष्ठ पुत्र बनाकर अपने दैव दाय के लिये आमन्त्रित किया। विश्वामित्र के १०१ पुत्र थे, ५० मधुच्छन्दस् से बड़े और ५० उससे छोटे। विश्वामित्र ने सब पुत्रों को बुलाकर कहा — "क्या तुम भाइयों में से कोई है जो इसकी ज्येष्ठता को स्वीकार नहीं करता हो ?"[3] (ऐतरेयब्राह्मण ७,१७)।

मधुच्छन्दस् से बड़े भाइयों ने इसे उचित न समझा। विश्वामित्र ने उन्हें शाप दिया—'तुम्हारी सन्तान सीमाओं (अन्तान्) का सेवन करेगी।' और वे अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द हो गये, जो (आर्यावर्त) की सीमाओं से परे बड़ी संख्या में रहते हैं। दस्युओं में से अधिकतर विश्वामित्र के वंशज हैं।[4] मधुच्छन्दस् और उसके छोटे भाइयों ने शुनःशेप की ज्येष्ठता स्वीकार कर ली और शुनःशेप से कहा—'हम तुम्हें आगे करते हैं, हम तुम्हारे पीछे रहेंगे।' विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर अपने पुत्रों की बड़ी प्रशंसा की। "देवरात (शुनःशेप) ऋषि ने दो रिक्थ—जह्नुओं का आधिपत्य और गाथिनों का दैव वेद—दाय में प्राप्त किये।"[5]

---

१. तमृत्विज ऊचुस्त्वमेव नोऽस्याह्नः संस्थामधिगच्छेति। ऐतरेयब्राह्मण ७,१७ (हॉग, १८६३, पृ० १८२)।

२. कदाचित् उस प्राचीन काल में यह एक सामाजिक-रूढि (Social Convention) थी कि अङ्क में बैठने से कोई बालक किसी का पुत्र बन जाता था। हिन्दी का मुहावरा "गोद लेना" इसी सामाजिक-रूढि को प्रतिबिम्बित करता है।

३. ये के च भ्रातरः स्थ नास्मै ज्यैष्ठ्याय कल्पध्वमिति। ऐत०ब्रा०७,१७ (हॉग १८६३, पृ० १८३)।

४. अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः। ऐत० ब्रा०,७,१८ (हॉग १८६३, पृ० १८३)।

५. अधीयत देवरातो रिक्थयोरुभयोर्ऋषिः। जह्नूनां चाधिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम्। ऐत० ब्रा० ७,१८, (हॉग १८६३, पृ० १८४)।

ऐतरेय-ब्राह्मण में अन्ध्र, पुण्ड्र आदि अनार्य जातियों की उत्पत्ति का जो कारण दिया गया है, वह यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना जा सकता, लेकिन इससे पिता के अधिकारों पर पूर्ण रूप से प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय-ब्राह्मण के समाज में पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाला पुत्र यह आशा नहीं कर सकता था कि उसे पिता के घर में स्थान मिल सकेगा। पिता अपनी इच्छा का अनुवर्तन न करने वाले पुत्र का त्याग कर सकता था। धर्मशास्त्रों में १२ प्रकार के पुत्रों में 'अपविद्ध'[1] पुत्र की गणना से भी यह प्रकट है। शुनःशेप-उपाख्यान में पिता की आज्ञा के उल्लङ्घन की दो घटनायें हैं और दोनों में परिणाम एक ही हुआ है। ऐक्ष्वाक हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित और विश्वामित्र के मधुच्छन्दस् से बड़े ५० पुत्रों को अपने पिता की आज्ञा के उल्लङ्घन के अपराध में घर का त्याग करना पड़ा है। पिता स्वेच्छा से किसी को भी दाय का अधिकारी बना सकता था और किसी भी पुत्र को दाय के अधिकार से वञ्चित कर सकता था।

अब प्रश्न यह है कि क्या ऐतरेय-ब्राह्मण के प्रमाण के आधार पर पिता के इस प्रकार के अधिकार ऋग्वेद-काल में भी सिद्ध किये जा सकते हैं? पितृ-सत्ताक समाजों में पिता के अधिकारों का इतिहास पिता के अधिकारों के क्रमिक ह्रास का इतिहास है। इसलिये यह माना जा सकता है कि यदि ऐतरेयब्राह्मण-काल में पिता को सन्तान के विक्रय, दान और त्याग का अधिकार था, तो यह अधिकार ऋग्वेद के काल में और भी अधिक रहा होगा। यह सत्य है कि ऋग्वेद-काल में शुनःशेप के आख्यान का वह रूप नहीं रहा होगा जो रूप हमें अब ऐतरेय-ब्राह्मण में मिलता है।[2] फिर भी, यह विश्वास किया जा सकता है कि ऋग्वेद के संहिता-काल से बहुत पहले

---

१. मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। तं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते। मनु० ९,१७१।

२. ऐतरेय-ब्राह्मण का वर्तमान शुनःशेप-आख्यान गाथा और गद्य में निबद्ध है। प्रो० रौथ (Roth) का विचार है कि ऐतरेय-ब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान ने अपना वर्तमान रूप ऋग्वेद के संहिता-काल में प्राप्त कर लिया था और इसके कारण ही संहिताकारों ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के कुछ सूक्तों का ऋषि शुनःशेप मान लिया। (*Ind. Stud.*, ii, 118, referred to by A. B. Keith in *Rigveda Brāhmaṇas Translated,* p. 64).

शुनःशेप सम्बन्धी कोई आख्यान वैदिक परम्परा में प्रचलित था जिसका ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २४ की १२ वीं और १३ वीं ऋचाओं में तथा ऋग्वेद मण्डल ५ सूक्त २ की सातवीं ऋचा में संकेत किया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान के क्रमिक विकास की परीक्षा करते हुए प्रो० कीथ ने अपना यह मत प्रकट किया है कि विषय की दृष्टि से ऐतरेय-ब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान का ऋग्वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] इस आख्यान का गद्य भाग अर्वाचीन है। यह सम्भव है कि इसका गाथाओं में कोई पद्य-संस्करण कभी प्रचलित रहा हो, लेकिन उसमें हरिश्चन्द्र और रोहित की कथा भी सम्मिलित थी अथवा नहीं, इस विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता।[2]

शुनःशेप-आख्यान की लोक-प्रियता और विविधता को दृष्टि में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि यह आख्यान पूर्णतया ऐतरेय-ब्राह्मण की अपनी कल्पना है। ऐतरेय-ब्राह्मण और वाल्मीकीय-रामायण के शुनःशेप सम्बन्धी आख्यान के रूपों में इतना अन्तर है कि यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि आख्यान के एक रूप ने दूसरे रूप से प्रेरणा ली है।[3] उन दोनों रूपों का मूल स्रोत अवश्य ही मौखिक परम्परा रही है जिसने देश और काल की दूरी के सहयोग से मूल आख्यान को दो विभिन्न रूप प्रदान किये हैं। मौखिक परम्परा में चले आने वाले इस आख्यान का संकेत ऋग्वेद में भी पाया जाता है जो कि इण्डो-यूरोपीय जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है।

अनुक्रमणी की परम्परा[4] के अनुसार शुनःशेप ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सात सूक्तों (२४—३०) का ऋषि है जिनमें ९७ ऋचाएँ हैं। एक अन्य सूक्त (ऋग्वेद ९,३) का भी ऋषि शुनःशेप ही माना जाता है। ऋग्वेद में शुनःशेप का नाम तीन ऋचाओं में आया है। दो बार उसके ही द्वारा दृष्ट

---

१. *Rigveda Brahmaṇas Translated*, p. 64.

२. Ibid, p. 65.

३. डा० हरियप्पा (मैसूर यूनिवर्सिटी) ने इस आख्यान का '*Rigvedic Legends Through the Ages*' नामक शोध-प्रबन्ध में अति सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। यह प्रबन्ध दक्कन कालेज पोस्ट-ग्रेज्युएट एण्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना की डिस्सर्टेशन सिरीज़ में १९५३ में प्रकाशित हुआ है।

४. 'कस्य पञ्चोनाजीगर्तिः शुनःशेपः स कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः।' अनुक्रमणी (सायण भाष्य ऋक् १,२४ की अवतरणिका में उद्धृत)।

मन्त्रों में[1] और एक बार कुमार आत्रेय द्वारा दृष्ट मन्त्र (ऋक् ५,२,७) में। ऋग्वेद १,२४,१२;१३ में किसी बन्धन में पड़े हुए शुनःशेप द्वारा वरुण का आह्वान किए जाने का उल्लेख हुआ :

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ विचष्टे।

शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु।

'वे मुझे दिन और रात एक ही बात कहते हैं, और मेरे हृदय में भी वह भाव (केतः) दीखता है। पीडित शुनःशेप ने जिसको पुकारा था, वह राजा वरुण हमें छुड़ावे।'

शुनःशेपो ह्यह्वद्गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।

अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् ॥

'निश्चय ही पीडित और तीन काष्ठों में बँधे हुए शुनःशेप ने अदिति के पुत्र (वरुण) को पुकारा था। राजा वरुण इस (याचक) को भी मुक्त कर दे। विद्वान् और अहिंसित (वरुण) पाशों को छुड़ा दे।'

यहाँ दोनों मन्त्रों में याचक ने वरुण से (पाशों से) मुक्त करने की प्रार्थना की है और राजा वरुण को दयार्द्र करने के लिए उसके पूर्व आचरित उदार कृत्य का संकेत किया गया है जबकि वरुण ने शुनःशेप के द्वारा पुकारे जाने पर उसे मुक्त किया था।

ऋग्वेद ५,२,७ में कुमार आत्रेय ने भी शुनःशेप की मुक्ति का निदर्शन दिया है, लेकिन ऋषि कुमार आत्रेय ने अग्नि देव से प्रार्थना की है और शुनःशेप का मुक्तिदाता भी अग्नि को ही कहा है :

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः।

एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्होतश्चिकित्व इह तू निषद्य ॥

'तुमने जकड़े हुए शुनःशेप को सहस्र (?) यूप से मुक्त कर दिया और वह शान्ति को प्राप्त हो गया। ऐसे ही, हे विद्वान् होता अग्नि, यहाँ बैठकर हमारे पाशों को छुड़ाओ।'

ऋग्वेद की ऊपर उद्धृत ऋचाओं से यह स्पष्ट है कि इन ऋचाओं के

---

१. डा० हरियप्पा ने इन दोनों मन्त्रों (ऋक् १,२४,१२; १३) को प्रक्षेप माना है। (*Rigvedic Legends Through the Ages*, p. 186)। यदि यह दो ऋचायें शुनःशेप सूक्त में प्रक्षेप हैं, तो यह प्रक्षेप ऐतरेय-ब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान के वर्तमान रूप को प्राप्त करने से पहले ही हो गया होगा, क्योंकि ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार शुनःशेप द्वारा वरुण की स्तुति में कही गई ३१ ऋचाओं की संख्या की पूर्ति इनको मिलाकर ही होती है।

रचना-काल में शुनःशेप सम्बन्धी कोई आख्यान वैदिक परम्परा में अवश्य प्रचलित था जिसका संकेत इन ऋचाओं में किया गया है। तैत्तिरीय[1] तथा काठक[2] संहिताओं में भी शुनःशेप के आख्यान का संकेत हुआ हैं, और 'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्[3] आदि ऋक् को शुनःशेप का 'दर्शन' कहा गया है।

ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान की प्राचीनता की सम्भावना इस बात से और अधिक बढ़ जाती है कि ऐतरेय-ब्राह्मण में शुनःशेप द्वारा विभिन्न देवों की स्तुति में कही गई ऋचाओं का क्रम और संख्या ठीक वही है जो कि वर्तमान ऋग्वेद-संहिता में पाई जाती है। रौथ का विचार है कि ऐतरेय-ब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान ने अपना वर्तमान रूप ऋग्वेद के संकलन काल में प्राप्त कर लिया था।[4]

यदि ऐतरेयब्राह्मण का वर्तमान शुनःशेप-आख्यान इतना प्राचीन हो, जितना कि रौथ ने आँका है, तो इस आख्यान का ऋग्वैदिक काल की सामाजिक परिस्थितियों के आँकने में निर्विवाद रूप से उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि यह बिल्कुल सम्भव है कि ऋग्वेद के संकलन-काल के आख्यान में यथार्थ में ऋग्वैदिक काल की सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब हो। यदि ऐतरेय-ब्राह्मण का यह आख्यान उतना प्राचीन न भी हो तो भी इसे ऋग्वैदिक काल में पिता के अधिकारों के विषय में अप्रत्यक्ष साक्ष्य (indirect evidence) के रूप में तो प्रस्तुत किया ही जा सकता है, जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है। इसलिए ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान का विस्तार में विवेचन किया गया है।

(इ) **यौन अधिकार**—ऋग्वैदिक पिता के अधिकारों का विवेचन सामाजिक दृष्टि से तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक कि उसके यौन-अधिकारों (sexual rights) का विवेचन नही किया जाता। पिता के इस अधिकार का विस्तृत विवेचन पिता-पुत्री सम्बन्ध के प्रसङ्ग में किया जायगा। प्रो०

---

१. तैत्ति० सं० ५,२,१,३। (सातवलेकर द्वारा सम्पादित)।
२. काठक सं० १९,११। (सातवलेकर द्वारा सम्पादित)।
३. ऋक् १,२४,१५।
४. देखिये, ऊपर पृ० १२६ पा० टि० २।

एस० सी० सरकार[1] ने ऋग्वेद में प्रजापति के उदाहरण[2] से तथा महाभारत और पुराणों के उद्धरणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती काल में प्राचीन भारत में पिता और पुत्री में यौन-सम्बन्ध की प्रथा प्रचलित थी। वैदिक काल के विषय में डा० इरावती कार्वे ने भी ऐसी ही सम्मति प्रकट की है। वैदिक परिवार के संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'वैदिक परिवार वृद्धतम पुरुष से शासित होता था जिसका परिवार के सब सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व होता था। पिता अपने पुत्रों तथा पौत्रों पर शासन करता था और अपनी पुत्रियों, पुत्रवधुओं तथा बहिनों के साथ यौन-सम्बन्ध रखता था।'[3] इस सम्बन्ध में यहाँ ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साक्ष्य का प्रदर्शन और विश्लेषण न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऋग्वेद में कोई ऐसा असंदिग्ध[4] प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर परिवार की स्त्रियों पर पिता के यौन-अधिकार सिद्ध होते हों।

(ई) **विवाह-सम्बन्धी अधिकार**—ऋग्वैदिक काल में पुत्र और पुत्रियों का विवाह युवावस्था में होता था, बाल्यावस्था में नहीं। युवक और युवतियों को परस्पर मिलने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी और वे अपनी इच्छानुसार विवाह कर सकते थे। इसलिए पिता का पुत्र या पुत्री के विवाह के विषय में कोई विशेष अधिकार नहीं था। ज़िमर का कथन है कि माता-पिता अथवा भाई की स्वीकृति लेना आवश्यक था। ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि माता और पिता अपने पुत्र अथवा पुत्री के लिए उपयुक्त लड़की अथवा लड़के के अन्वेषण

---

१. *Some Aspects of the Earliest Social History of India* (1928), pp. 75, 136–44.

२. ऋग्वेद १०,६१,५–७।

३. "The Vedic family was governed by the eldest male, who ruled supreme over all the members of his household. The father ruled over his sons and grandsons and had *access sexually* to his daughters and daughters-in-laws and sisters." *A. B. O. R. I.*, XX, p. 214.

४. ऋक् १०,६१,५–७, जिनमें प्रजापति की दुहिता के प्रति प्रेम की बात कही गई है, अत्यन्त अस्पष्ट हैं। उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों में उनकी पौराणिक व्याख्या की गई है और इतने पर भी प्रजापति के लिए दण्ड का विधान किया गया है। (देखिये, ऐत० ब्रा० ३ ३३)

में अवश्य सहायता करते थे।[1] प्रायः विवाह-सम्बन्ध का निश्चय किसी मध्यस्थ के द्वारा होता था जो मित्र या कोई सम्बन्धी होता था।[2] कदाचित् पिता पुत्री के लिए योग्य वर की प्राप्ति में सहायता करने वाले मध्यस्थ का महान् अनुग्रह मानता था।[3] पुत्री में किसी प्रकार की अयोग्यता होने पर योग्य वर के लिए 'वहतु' (दहेज़) देना पड़ता था। जहाँ तक पुत्र अथवा पुत्री के विवाह का सम्बन्ध था उसमें पिता के अधिकार का अंश अल्प तथा कर्त्तव्य का अंश अधिक था। सन्तान का विवाह करने का प्रश्न अधिकार के क्षेत्र में न आकर कर्त्तव्य के क्षेत्र में आता था। उत्तरकाल में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो जाने पर उचित अवस्था में कन्या का विवाह कर देने का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम पिता का ही माना गया है, जिस कर्त्तव्य को न करने पर पिता पाप का भागी कहा गया है।[4] यदि विवाह के सम्बन्ध में पिता का कुछ अधिकार सिद्ध होता है तो हमें उन प्रसंगों की ओर ध्यान देना चाहिए जहाँ पिता यज्ञ में सहायक पुरोहित को अथवा किसी तपस्वी के शाप के भय से त्रस्त होकर वृद्ध और निर्धन पुरुष को भी अपनी कन्या दे देता है। क्योंकि इस प्रकार के मामलों में युवती पुत्री अवश्य ही ऐसे अननुरूप (बेमेल) वर को पिता के प्रभाव के कारण ही स्वीकार करती होगी। यद्यपि ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं मिलते हैं, लेकिन उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों और वीरगाथा-काव्यों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। शतपथब्राह्मण में च्यवन और शर्यात का उपाख्यान ऐसा ही उदाहरण है। शर्यात मानव ने अपने पुत्रों के व्यवहार से क्रुद्ध हुए वृद्ध च्यवन ऋषि को प्रसन्न करने के लिए अपनी पुत्री सुकन्या दे दी थी।[5] महाभारत

---

१. बृहद्देवता (५,४९ तथा आगे) के अनुसार श्यावाश्व के विवाह का प्रस्ताव उसके पिता ने किया था।

२. देखिये, Kaegi : *Life in Ancient India*, p. 25.

३. पूषा अपनी पुत्र के 'वर' (मध्यस्थ) अश्विनौ को अपने पिता के समान मानता है (ऋक् १०,८५,१४)।

४. ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति। वसिष्ठस्मृति १७,६२। पितुर्वेश्मनि या कन्या रजस्तु समुपस्पृशेत्। भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता॥ अंगिरःस्मृति १२६। माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति कन्यां दृष्ट्वा रजस्वलाम्॥ संवर्तस्मृति ६६।

५. शत० ब्रा० ४,१,५,६–७, 'स रथं युक्त्वा सुकन्यां शार्यातीमुपाधाय

की कथा के अनुसार तो स्पष्ट ही सुकन्या ने वृद्ध च्यवन को पसन्द नहीं किया था। लेकिन बाद में जब च्यवन ने शाप द्वारा राजा की सेना को रुग्ण कर दिया और राजा ने उसे प्रसन्न करना चाहा तो सुकन्या को उसकी भार्या बनना पड़ा।[1]

(उ) **वृद्धावस्था में पिता के अधिकारों का ह्रास**—सामान्यतया ऋग्वैदिक पिता को परिवार के सब सदस्यों पर पूर्ण अधिकार था। उसकी आज्ञा ही परिवार के लोगों के लिए कानून थी। और परिवार के सब सदस्य उसके वचन को सुनते ही पालन करने के लिए आतुर रहते थे।[2] लेकिन यदि पिता परिवार के सदस्यों के साथ क्रूर व्यवहार करके उनको, विशेषतया पुत्रों को, विद्रोही बना लेता था, तो वह परिवार पर केवल तभी तक शासन कर सकता था, जब तक वह शरीर से सशक्त होता था। बलवान् और साहसी पुत्र अपने क्रूर और अन्यायी पिता को अधिकार से वञ्चित भी कर सकते थे, यहाँ तक कि उसका वध भी कर सकते थे। इन्द्र ने अपने पिता (त्वष्टा ?) का वध किया था।[3] पुत्र वृद्ध पिता की सम्पत्ति का विभाजन कर लेते थे।[4] कदाचित् उसे वनों में मरने के लिए भी छोड़ दिया जाता था। च्यवन के साथ कदाचित् इसी प्रकार की घटना घटित हुई थी, जिसे नासत्या ने पुनः युवा बनाकर युवतियाँ प्रदान की थीं।[5] ऋग्वेद ८,५१,२ में भी प्रस्कण्व नामक किसी वृद्ध पुरुष को 'उद्धित' किए जाने का प्रसङ्ग आया है जिसकी इन्द्र ने

प्रसिष्यन्द। स आजगाम यत्रर्षिरास तत्। स होवाच—ऋषे नमस्ते यन्नावेदिषं तेनाहिंसिषम्। इयं सुकन्या तया तेऽपह्नुवे संजानीतां मे ग्राम इति। तस्य ह तत एव ग्रामः संजज्ञे स ह तत एव शर्यातो मानव उदयुयुजे नेदपरं हिनसानीति।

१. वनपर्व १०,३१६ और आगे। डाक्टर म्यूर ने *O. S. T.*, Vol. 5 (3rd edition) पृष्ठ २५४ पर संक्षिप्त कथा दी है।

२. ऋक् १,६८,५।

३. कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद्यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य।
ऋक् ४,१८,१२।

४. पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त। ऋक् १,७०,५।

५. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम्॥
ऋक् १,११६,१०।

रक्षा की थी।[1] लेकिन पिता और परिवार के अन्य सदस्यों में परस्पर संघर्ष की घटनायें अवश्य ही अपवाद स्वरूप रही होंगी, क्योंकि ऋग्वेद का सम्पूर्ण साक्ष्य इस बात का संकेत करता है कि पिता का अपने आश्रितों के प्रति व्यवहार अत्यन्त उदार तथा सहयोग और सहानुभूति से पूर्ण होता था। ऋषियों ने स्थान स्थान पर अपने आराध्य देवों की पिता से उपमा दी है, देवों को पिता के समान रक्षक कहा गया है और देवों के संरक्षण की पिता के संरक्षण से तुलना की गई है।[2] ऋक् १०,३३,३ में ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है— 'हे इन्द्र, तुम एक बार हमें आनन्दित कर दो और हमारे प्रति पिता के समान बन जाओ।'[3]

जब साधारणतया अपने आश्रितों के प्रति पिता का व्यवहार उदारतापूर्ण होता था तो यह आशा नहीं की जा सकती कि अपने वृद्ध पिता के प्रति सन्तान का व्यवहार प्रायः क्रूरतापूर्ण रहा हो। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऋग्वैदिक आर्यों में संस्कृति की वह अवस्था आ गई थी कि वे कोई कार्य करने में असमर्थ और परिवार के लिए भारभूत वृद्ध पुरुषों की सेवा करते। प्रायः जंगली जातियों में वृद्धों को मरने के लिए असहाय छोड़ दिया जाता है। ज़िमर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आल्ट्-इण्डिशस् लेबन्' (Altindisches Leben) में यह मत प्रकट किया है कि ऋग्वैदिक आर्यों में वृद्धों के परासन (मरने के लिए छोड़ देने, exposure) की प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वैदिक आर्यों के सम्बन्ध में ज़िमर का यह मत ऋक् ८,५१,२ और अथर्ववेद १८,२,३४ पर आधारित है। ज़िमर को अपना यह मत स्थिर करने में जर्मन जातियों में वृद्धों के परित्याग की प्रथा से और अधिक बल मिला। ज़िमर लिखता है—"जर्मन लोगों में जब गृहपति ६० वर्ष से ऊपर का हो जाता था तब यदि वृद्धावस्था के कारण वह इतना क्षीण हो जाता था कि बिना सहारा लिए चलने फिरने, उठने तथा घोड़े पर चढ़ने में असमर्थ होता, चाहे उसका मानसिक सन्तुलन, स्मरण-शक्ति ठीक भी रहती तो भी उसे अपने अधिकार पुत्रों को सौंप देने पड़ते थे। उनके द्वारा उससे तुच्छ कार्य भी लिये जाते थे। कठोर पुत्र और क्रूर पौत्र वृद्ध जनों से उन कठोरताओं का प्रायश्चित भी करा सकते थे जो उन्होंने अपने प्रभुत्व के दिनों में प्रेम और कोमलता की उपेक्षा करके बच्चों के प्रति

१. पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम्।
२. देखिए ऋक् १,१०४,६; ७,५४,२; ८,४८,४; ७५,१६ इत्यादि।
३. सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव।

की थीं। उन लोगों को जो बिल्कुल बेकार और भारस्वरूप हो जाते थ, या तो एक दम मार दिया जाता था, या धूप-शीत में या भूखों मरने के लिये छोड़ दिया जाता था। (ग्रिम *Deutsche Rechtsalt*, पृ० ४८७ तथा आगे)। हमें भारतीयों में भी ठीक वैसी ही परिस्थितियों की कल्पना करनी चाहिए, जबकि ग्रन्थों (ऋग्वेद तथा अथर्ववेद) में 'वृद्ध पिता की सम्पत्ति के विभाजन'[1] और मरने के लिए 'त्याग दिए गए वृद्धों'[2] का कथन किया गया है।"[3] प्रो० अविनाशचन्द्र दास का विचार है कि ऋग्वैदिक आर्य संस्कृति की उस बर्बर और असभ्य अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें वृद्धों के प्रति ऐसा निर्दय व्यवहार किया जाता है। ऋग्वैदिक आर्य पुत्रों के लिए अत्यन्त लालायित रहते थे और वे अपने मृत पिता तथा पूर्वजों की पूजा करते थे। ऐसी दशा में यह किसी प्रकार भी कल्पना नहीं की जा सकती कि वे अपने वृद्ध तथा अशक्त माता-पिता को मार देते थे या धूप-शीत में भूखों मरने के लिये छोड़ देते थे। प्राचीन जर्मन तथा रोमन लोगों में यह बर्बर प्रथा उनकी अर्ध-सभ्य अवस्था में यूरोप की असभ्य आदि-निवासी जातियों के सम्पर्क से प्रचलित हुई होगी।[4]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऋग्वेद में कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे वृद्धों के परासन (exposure) की घटनाओं का सामान्य प्रचलित प्रथा के रूप में होना सिद्ध किया जा सके। ऐसी घटनायें केवल अपवादस्वरूप ही हो सकती थीं। प्रो० मैक्डानल और कीथ ने ऋग्वेद (८,५१,२) के विषय में ठीक ही लिखा है—'यह सन्दर्भ केवल किसी ऐसे व्यक्ति के उदाहरण के प्रसङ्ग में है जिसे बाहर फेंक दिया गया हो। इससे इस प्रथा के प्रचलित तथा स्वीकृत होने के सम्बन्ध में कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। न ही च्यावान[5] के आख्यान से ऐसी प्रथा के प्रचलन का अनुमान किया जा सकता है।'[6]

---

१. ऋक् १,७०,५।

२. अथर्व० १८,२,३४; ऋक् ८,५१,२।

३. प्रो० अविनाश चन्द्र दास द्वारा *Rigvedic Culture* पृ० २४२–४३ पर उद्धृत।

४. *Rigvedic Culture*, p. 244.

५. संस्कृत साहित्य में च्यवन और च्यावान दोनों नामों का व्यवहार हुआ है। (देखिए, *Vedic Index*, I, 264)।

६. *Vedic Index*, Vol. I, p. 395.

११. पितृत्व—एक धार्मिक कर्त्तव्य

ऋग्वेद में ऐसे साक्ष्य की अत्यधिक बहुलता है, (जिसका अगले अध्याय में विवेचन किया जायगा) जिससे ऋग्वैदिक आर्यों में सन्तान-प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा प्रगट होती है। ऋग्वैदिक आर्यों की अपने इष्ट देवों से प्रायः दो कामनायें ही प्रधान रूप से होती थीं। वह कामनायें थीं—गौ, अश्व तथा खाद्य के रूप में धन और इस धन को अर्जित करने वाले वीर पुत्रों की। ऋग्वैदिक आर्य लोगों की दृष्टि प्रधान रूप से सांसारिक थी। उन्हें दरिद्रता और अवीरता से सबसे अधिक भय था।[1] इसलिए ऋषियों ने ऋग्वेद की ऋचाओं में इन दोनों बुराइयों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपने सभी इष्ट देवों से प्रार्थना की है।

ऋग्वैदिक आर्यों की तत्कालीन परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि सन्तान, विशेष रूप से पुरुष-सन्तान, उत्पन्न करना धार्मिक कर्त्तव्य के समान आवश्यक हो गया था। आर्य-लोगों को आदि-निवासी जातियों से निरन्तर युद्ध करने पड़ते थे, नये प्रदेशों पर विजय करनी थी, और अपने पशु-धन की जंगली जानवरों तथा आदि-निवासी एवम् आर्य शत्रुओं से रक्षा करनी होती थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि ऋग्वैदिक आर्य लोग वीर-प्रजा के लिए आतुर होते।

इस सांसारिक दृष्टि के अतिरिक्त वैदिक आर्यों की धार्मिक भावना भी पुत्र-प्राप्ति की आतुरता में कारण थी। पारिवारिक अग्नि का बराबर बनाये रखना महान् धार्मिक कर्त्तव्य था और यह कार्य पुत्र के द्वारा ही हो सकता था। वैदिक आर्य मनुष्य-जीवन की नश्वरता और देवों की अमरता से प्रभावित थे, उनकी कामना देवों के समान अमर होने की थी। उन्होंने कदाचित् यह बात जान ली थी कि उनके द्वारा प्रारब्ध किये गये कार्यों का सातत्य ही अमरता का चिह्न है और पुत्र ही उनके प्रारम्भ किये कार्यों को सतत रखकर उन्हें अमरता प्रदान कर सकता है, जैसा कि एक वैदिक ऋषि की प्रार्थना से प्रकट होता है : 'हे अग्नि मैं सन्तान द्वारा अमरता प्राप्त करूँ।'[2] यही कारण है कि ऋग्वेद-काल में भी पुत्र उत्पन्न करना महान धार्मिक कृत्य

---

१. मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा। ऋक् ७,१,११।

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः। ऋक् ३,१६,५।

२. प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। ऋक् ५,४,१०।

और तृतीय कर्म समझा जाने लगा था जो उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में तथा धर्मशास्त्रों में तीन ऋणों में से एक माना गया।[१] ऋषि बृहदुक्थ कहता है—द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।[२] सायण के अनुसार इसका अर्थ है—आदित्य पुत्र अङ्गिरसों ने तृतीय कर्म अर्थात् प्रजा उत्पत्ति द्वारा सर्वज्ञ अथवा स्वर्ग प्रापक असुर (बलवान्, सूर्य) को उदय और अस्त के रूप में दो प्रकार से स्थापित किया। तैत्तिरीयसंहिता ६,३,१०,५ में तो स्पष्ट रूप से प्रजोत्पादन द्वारा पितरों के प्रति अनृणता की बात कही गई है।[३] इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल में ही सन्तान का उत्पादन करना पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए अनिवार्य समझा जाने लगा था। तैत्तिरीयआरण्यक में स्पष्ट रूप से 'प्रजातन्तु' का छेदन न करने का आदेश दिया गया है।[४] ऋग्वेद १०,५३,६ में 'तन्तु' का विस्तार करने का आदेश दिया गया है।[५] ऐतरेय-ब्राह्मण में ऋग्वेद के इस मन्त्र में 'तन्तु' का अर्थ 'प्रजा' किया गया है।[६] सायण ने इस मन्त्र में 'तन्तु' का अर्थ 'यज्ञ' किया है, लेकिन ऋग्वेद १०,५६,६ का भाष्य करते हुए 'तन्तुमाततम्' की व्याख्या में पूर्वोक्त ऐतरेयब्राह्मण को उद्धृत किया है।[७]

ऊपर के साक्ष्य से विदित होता है कि सामाजिक सुरक्षा और जाति-संरक्षण की स्वाभाविक जीवशास्त्रीय भावना के साथ साथ पारिवारिक अग्नि तथा अन्य धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं को जीवित रखने की अभिलाषा की भावना ने वैदिक आर्यों में गार्हस्थ्य जीवन-यापन तथा सन्तानोत्पादन और विशेषतः पुत्रोत्पादन को अनिवार्य धार्मिक कृत्य के रूप में स्थापित कर दिया था।

---

१. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर् ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। तैत्ति० सं० ६,३,१० (बौ० धर्मसूत्र में उद्धृत)।

२. ऋक् १०,५६,६।

३. ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।

४. प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। ७,११,१।

५. तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि।

६. 'प्रजा वै तन्तुः'। ३,३८।

७. देखिये सायणभाष्य, ऋक् १०,५३,६ और १०,५६,६ (पूना संस्करण)।

ऋग्वेद-काल में ब्रह्मचर्य और तपस्या के प्रति उतनी निष्ठा नहीं थी जितनी उत्तरवर्ती साहित्य में देखी जाती है। ऋग्वेद के महान् से महान् ऋषि भी गृहस्थी हैं, पुत्र और पौत्रों की कामना में रत हैं, तथा सांसारिक सुख और उपभोगों की ही कामना करते दृष्टिगत होते हैं, उनमें उत्तरकालवर्ती मुनियों की पलायनवादी प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती, जो सांसारिक सुखों का परित्याग करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके अतीन्द्रिय दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए कठिन साधना करते हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों को गौ, अश्व, भोजन और वीर पुत्र-पौत्रों की कामना है और साथ ही यह शक्ति प्राप्त करने की कि वे 'विदथ' (यज्ञमण्डप, सभा) में देवों तथा उदार मघवाओं की स्तुति कर सकें—'बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।'[1]

---

१. ऋग्वेद में यह कामना बहुत बार की गई है। देखिये ऋक् २,१,१६; ९,८६,८।

अध्याय ५

पिता-पुत्र

पहले यह बतलाया जा चुका है कि ऋग्वैदिक परिवार पितृप्रधान होता था; इसमें पुरुषों की प्रधानता होती थी।[1] यही कारण है कि ऋग्वैदिक परिवार में पिता के पश्चात् पुत्र का ही स्थान था। पूर्व अध्याय में 'पिता' के अर्थ को प्रकट करने वाले शब्दों का विवेचन किया जा चुका है। इस अध्याय में पुत्र के वाचक शब्दों का विवेचन करके पिता-पुत्र सम्बन्ध का विविध दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जायेगा।

ऋग्वेद में पुरुष-सन्तान (पुत्र, पौत्र आदि) के वाचक शब्दों का बड़ा भण्डार है। पुत्र के वाचक शब्दों का प्राय: 'बच्चे' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। न केवल मनुष्य के प्रसंग में, प्रत्युत देवों तथा अन्य प्राणिओं, यहाँ तक कि आलङ्कारिक दृष्टि से अचेतन वस्तुओं के प्रसंग में भी पुत्र-वाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार ऋग्वेद में पिता और पिता के पूर्ववर्ती पीढ़ियों के पुरुषों के लिये 'पितर्' (पितर:) शब्द का ही प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार पुत्र के वाचक शब्दों का भी सामान्यतया वंशज मात्र के लिए प्रयोग हुआ है। पहली और दूसरी पीढ़ी के वंशजों में प्राय: भेद नहीं किया गया है, उदाहरणार्थ 'नपात्' शब्द का पुत्र और पौत्र दोनों के लिये प्रयोग हुआ है। लेकिन ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जहाँ पहली और दूसरी पीढ़ियों के वंशजों के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है[2] और सामान्य सन्तान के

१. इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में पुरुष के लिये सामान्य शब्द वीर है। इसलिये Giles ने इण्डोयूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं को बोलने वाली जातियों को Wiros नाम दिया है। (*Cambridge History of India*, Vol. I, p. 66)। लौकिक संस्कृत में पति और पुत्र के लिये 'वीर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। (देखिये, अमरकोश पृ० ९३—'अवीरा निष्पतिसुता'— पति और पुत्र से हीन नारी 'अवीरा' कही जाती थी)। कुछ आर्य-भाषा परिवार की बोलियों में वीर शब्द का प्रयोग भाई के अर्थ में भी होता है। माझ् (अमृतसरी पंजाबी): वीर्, ग्रियर्सन, भाग ९, खण्ड १, पृ० ८०८; ब्रजभाषा: वीरन्, वही, पृ० ५७५।

२. क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ऋक् १०,८५,४२।

वाचक शब्दों का विशेष सम्बन्धी (पुत्र आदि) के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[१] ऋग्वेद में सन्तान या बच्चे के अर्थ में आने वाले शब्दों के प्रयोग में बड़ी अव्यवस्था है। अनेक स्थलों पर यह निश्चय नहीं हो पाता कि वक्ता की कौन-सी पीढ़ी के वंशज के लिये शब्द का प्रयोग हुआ है। एक ही शब्द का अर्थ पुत्र, पौत्र या केवल सन्तान मात्र भी पाया जाता है,[२] जैसा कि ऊपर 'नपात्' शब्द के विषय में कहा गया है।

१. पुत्र के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

(अ) सूनु (आ) पुत्र, पुत्रक (इ) तुच्, तुज्, तुजि, तोक (ई) तन्, तन, तनय, तनस्, तना, तनू, तान्व (उ) वीर (ऊ) अपत्य (ए) जा, जात, प्रजा (ऐ) नपात्, नप्तर् (नप्तृ), नप्त्य (ओ) शेषस् (औ) वत्स (क) यहु, यह्व (ख) अन्य शब्द—अर्भ, अर्भक, अर्भग; कुमार, कुमारक; शिशु; कन, कनीन, कनीनक।

(अ) सूनु—'सूनु' √सू अथवा √सु 'उत्पन्न करना' धातु से निष्पन्न है। इस शब्द का पुत्र के लिये प्रयोग इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की अनेक भाषाओं में मिलता है। पुत्र के लिये इस शब्द का प्रयोग इण्डो-यूरोपीय काल से प्रचलित था।[३] लौकिक संस्कृत में प्रचलित 'सुत' शब्द भी इसी धातु से निष्पन्न है, लेकिन ऋग्वेद में 'सुत' शब्द का प्रयोग पुत्र के अर्थ में नहीं है। ऋग्वेद में 'सुत' शब्द का प्रयोग केवल सोम के प्रसङ्ग में हुआ है, कभी सोम के विशेषण के रूप में और कभी सोम के अर्थ में 'संज्ञा' शब्द के रूप में। सोम के लिये प्रयुक्त होने वाला 'सुत' शब्द √सु (सुनोति=निचोड़ता है) धातु से निष्पन्न है।

ऋग्वेद में 'सूनु' शब्द का पुत्र के अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है।[४]

---

१. क्योंकि साधारणतया प्रार्थना पुरुष-सन्तान के लिये ही की जाती थी, इसलिये जहाँ कहीं 'प्रजा', 'अपत्य' की कामना की गई है, वहाँ इन शब्दों का अर्थ पुरुष-सन्तान या पुत्र समझना चाहिए।

२. Grassmann, H.: *Wörterbuch zum Rigveda*, S.V. तनय।

३. Fick: *Wörterbuch*, p. 210. Also compare, ON—sunr, sonr; Sw—son; Du.—zoon; OHG—sun (u); NHG—sohn; OE—sunu; ME—sune, sone; NE—son; Russ–syn; Pol.–syn (Buck, p. 105). ऊपर पृ० ४९ भी देखिये।

४. ऋक् १,१,९; ६६,१; १५९,३; २,३६,२; ३,१,२३; २४,५।

मधुच्छन्दस् ऋषि अग्नि से प्रार्थना करता है — 'हे अग्नि, आप हमारे लिये इस प्रकार सुगम बनें जिस प्रकार पिता पुत्र के लिये सुखपूर्वक प्राप्त होने योग्य होता है।'[१]

यद्यपि सायण ने तथा ऋग्वेद के आधुनिक भाषान्तरकारों ने ऋग्वेद में आये 'सूनु' शब्द का प्रायः सर्वत्र पुत्र अर्थ ही किया है जो कि एक निश्चित सम्बन्ध को प्रकट करता है, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे स्थल हैं, जहाँ 'सूनु' शब्द का प्रयोग पुत्र के अर्थ में न होकर केवल 'उत्पन्न' (born) के अर्थ में प्रतीत होता है।[२] जहाँ अग्नि को 'सहसः सूनु' अथवा 'दिवः सूनु' कहा गया है, वहाँ इन पदों का अर्थ 'सहस् से उत्पन्न', 'दिव् से उत्पन्न' आदि ही उपयुक्त होगा। इन स्थलों में सूनु शब्द का मूल अर्थ 'उत्पन्न,' 'उत्पत्ति' परिलक्षित होता है।[३]

अग्ने दिवः सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उत विश्ववेदाः। ऋक् ३,२५,१।

'हे अग्नि तुम, द्यौ से उत्पन्न हो, तुम बुद्धिमान् हो, तुम पृथिवी के सर्ववेत्ता शिशु हो।' (यहाँ 'सूनु' और 'तना' दोनों पर्यायवाची हैं)।[४]

ग्रासमान के अनुसार ऋक् ९,१९,४ में 'सूनु' शब्द का विशेषण के रूप में भी प्रयोग हुआ है।[५]

अमरकोश में 'सूनु' का अर्थ पुत्री भी किया गया है,[६] लेकिन ऋग्वेद में पुत्री अर्थ में 'सूनु' शब्द के प्रयोग का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। लौकिक संस्कृत में भी पुत्री के लिये 'सूनू' शब्द का प्रयोग केवल एक बार हुआ है,[७] और वह भी लाक्षणिक रूप से। मेदिनी[८], त्रिकाण्डशेष[९], और विश्वकोष[१०] में 'सूनु'

१. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। ऋक् १,१,९।

२. डा० इरावती कार्वे : *A. B. O. R. I., XX*, P. 83.

३. मिलाइये, Buck, p. 105.

४. डा० इरावती कार्वे : *A. B. O. R. I., XX*, p. 83.

५. Grassmann : *Wörterbuch zum Rigveda, S. V. sūnu* (Col. 1565).

६. आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी। आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे॥ अमरकोश २, ६।

७. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। मनु० १, १०, (देखिय, सेण्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन, S. V. सूनु)।

८. सूनुः पुत्रेऽनुजेऽर्के ना।

९. पुत्रे रवौ च सूनुः स्याद् भ्रातर्यपि कनीयसि।

१०. सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ।

शब्द का अर्थ अनुज अर्थात् छोटा भाई भी किया गया है।[1]

(आ) पुत्र, पुत्रक—ऋग्वेद में पुत्र के अर्थ में दूसरा अत्यधिक प्रचलित शब्द 'पुत्र' है। पुत्र के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भारत-ईरानी काल में ही प्रचलित हुआ है। इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की यूरोपीय भाषाओं में पुत्र के समान-प्रभव (cognate) शब्दों का प्रयोग 'छोटा', 'बच्चा' इन अर्थों में हुआ है।[2] ऋग्वेद में पुत्र' शब्द का प्रयोग प्रायः पुत्र के अर्थ में हुआ है, लेकिन कुछ स्थलों पर मनुष्येतर प्राणियों के बच्चों के लिये भी 'पुत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] देवों के प्रसङ्ग में तो 'पुत्र' शब्द के प्रयोग के बहुत उदाहरण पाये जाते हैं। लौकिक संस्कृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'पुत्र' शब्द केवल मनुष्य के बच्चे के अर्थ में सीमित हो गया है और सम्बन्ध-वाचक पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है अन्य अर्थों में इस शब्द का प्रयोग केवल लाक्षणिक एवम् अत्यधिक विरल है। यूरोप की भाषाओं में पुत्र के अर्थ में अधिकतर 'सूनु' के समानप्रभव (cognate) शब्दों का ही प्रयोग प्रचलित है।[4] कुछ भाषाओं में लैटिन भाषा के 'fetlāre' (माता का दूध पीना) से सम्बद्ध शब्दों से पुत्र अर्थ का बोध होता है। केवल कुछ ही भाषाओं में मनुष्य के प्रसङ्ग में 'पुत्र' के समानप्रभव (cognate) शब्दों का प्रयोग होता है, लेकिन पुत्र अर्थ में नहीं, अपितु 'लड़का' या 'लड़की' के अर्थ में।[5] जरथुस्त्र (Zoroaster) की गाथाओं में मनुष्य-पुत्र के लिये 'पुथ्र' (puθra) शब्द का प्रयोग हुआ है। संस्कृत 'सूनु' से सम्बद्ध शब्द 'हुनु' का प्रयोग केवल एक बार

---

१. किरातार्जुनीय (1,28) में भी एक श्लिष्ट पद में 'सूनु' शब्द छोटे भाई के अर्थ में आया है—'कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः'। यहाँ 'आखण्डलसूनु' का अर्थ (१) इन्द्र का पुत्र अर्थात् अर्जुन और (२) इन्द्र का छोटा भाई उपेन्द्र अर्थात् विष्णु है। देखिये, मल्लिनाथकृतव्याख्या।

२. Lat.—putu-s pullus (=put-lu-s) putillus; Ch. Sl.—pŭta f. pŭtachŭ m. junger Vogel; Lit.—putyti-s m. junger Voge'; NHG—put, Puthühnchen. (Cf. Fick : *Wörterbuch*, Vol. I, p. 375).

३. ऋक् ३,५७,३; ५८,१; ५,६,४; १०,११६,४; ११४,४।

४. देखिये ऊपर पृ० ४६, १३६.

५. Grk—παῖς (boy, girl, child); Lat—puer (boy). puella (girl); Osc—puklum ('filium'). Cf. Buck, p. 88.

हुआ है।[1] लेकिन ऋग्वेद में 'सूनु' और 'पुत्र' दोनों ही शब्दों का समान रूप से प्रयोग मिलता है। लौकिक संस्कृत में भी दोनों शब्दों का प्रयोग अत्यधिक प्रचलित रहा है। परन्तु कदाचित् धर्मशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य की भाषा में पुत्र के लिये उचित शब्द 'पुत्र' ही है। उत्तरवर्ती धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में प्रायः 'पुत्र' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

'पुत्र' शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की जिज्ञासा एवम् व्याख्या की ओर भारतीय मनीषियों का ध्यान बहुत पहले ही चला गया था। 'पुत्र' की निरुक्ति अनेक प्रकार से की गई है। उनमें जो निरुक्ति सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है, वह भाषा-विज्ञान तथा तथ्य के अनुकूल उतनी नहीं है, जितनी कि तत्कालीन धार्मिक भावनाओं एवम् विश्वासों के अनुरूप है। यास्काचार्य ने 'पुत्र' की निरुक्ति तीन प्रकार से बतलाई है[2]—(१) पुरु (बहुत) + √त्रा (रक्षा करना) धातु से, क्योंकि पुत्र अनेक प्रकार से रक्षा करता है; (२) नि + √पॄ (पिण्ड देना)[3] धातु से, वह श्राद्धविधि में पितरों को अन्न-पिण्ड देता है; (३) पुम् (नरक का नाम) + √त्रा (रक्षा करना) धातु से, अर्थात् पुत्र पिता तथा पितामह आदि पितरों को 'पुम्'[4] नरक से बचाता है, इसलिये उसे 'पुत्र' कहा जाता है। गोपथ-ब्राह्मण[5] में 'पुत्र' शब्द की जो निरुक्ति की गई है, वह

---

१. ज़ेण्ड (भाषा) में 'हुनु' का प्रयोग 'पुथ्र' के विरोध में 'दुष्ट आत्माओं' के लिये हुआ है। (वही, पृ० १०५)।

२. पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा। निरुक्त २, ११।

३. देखिये पूर्व उद्धृत पर दुर्गाचार्यकृत व्याख्या।

४. 'पुम्' एक नरक का नाम माना गया है। कुछ ग्रन्थों में इसे 'पुत्' अथवा 'पुद्' भी कहा गया है। रौथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अपने कोषों में 'पुत्' या 'पुद्' शब्द ही स्वीकार किया है। सम्भवतया शुद्ध शब्द 'पुत्' अथवा 'पुद्' ही है। 'पुत्' में 'पुम्' ही भ्रान्ति का कारण यह है कि निरुक्त तथा गोपथब्राह्मण में 'पुत्' से आगे क्रमशः 'नरक' और 'नाम' शब्द आया है। सन्धिनियम से 'त्' भी 'न्' में बदल जाता है और 'म्' भी। 'पुत्' शब्द के लिये अगले पृष्ठ पर पा० टि० १ भी देखिये। कोई विद्वान् 'पुन्नामन्' को एक ही पद मानते हैं।

५. पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात्त्रातीति पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्। प्र० १, ब्रा० २

यास्काचार्य की तीसरी निरुक्ति से शब्द तथा भाव दोनों में मिलती है। उत्तरवर्ती हिन्दू-धर्मशास्त्रों में 'पुत्र' शब्द की यास्काचार्य की तीसरी निरुक्ति ही स्वीकार की गई है।[1] क्षीरस्वामी[2] ने √पू (पवित्र करना) धातु से भी 'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति मानी है—'पुनाति वा' अर्थात् वह पवित्र करता है, इसलिये पुत्र कहलाता है। प्रो० ग्रासमान[3] का विचार है कि कदाचित् 'पुत्र' शब्द √पा (रक्षा करना) धातु से निष्पन्न है। जिस प्रकार 'पातीति पिता' अर्थात् 'रक्षा करने वाला' अर्थ में √पा धातु से कर्त्तृवाच्य में 'पिता' शब्द निष्पन्न होता है, उसी प्रकार 'पायते इति' अर्थात् 'रक्षा किया जाता है' इस अर्थ में √पा धातु से कर्मवाच्य में 'पुत्र' शब्द निष्पन्न होता है। प्रो० मानेर विलियम्स[4] का विचार है कि कदाचित् 'पुत्र' शब्द √पुष् (वृद्धि करना) धातु से निष्पन्न है, क्योंकि वह कुल की वृद्धि एवम् उन्नति करने वाला होता है।

वस्तुतः 'पुत्र' शब्द इतना प्राचीन है कि इसकी व्युत्पत्ति पर पहुँचना असम्भव ही है। निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में जो पुत्र शब्द की निरुक्तियाँ (etymologies) प्रदर्शित की गई हैं, वे भाषा-विज्ञान तथा तथ्य दोनों के प्रतिकूल हैं, क्योंकि इन निरुक्तियों का आधार केवल ध्वनि-साम्य तथा तत्कालीन धार्मिक विश्वास हैं। ऋग्वेद-काल में कदाचित् भारतीय आर्यों में 'नरक' के भाव का विकास नहीं हुआ था।[5] ऋग्वेद में कहीं भी 'पुत्' या किसी अन्य नरक का नाम नहीं मिलता। इसलिये गोपथब्राह्मण तथा निरुक्त में दी गई 'पुत्र' शब्द की यह निरुक्ति कि 'पुत्' नाम के नरक से त्राण करने के कारण पुत्र होता है ऋग्वेद-काल के लिये सत्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार

---

१. पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा। मनु० ९, १३३; पुत्तस्त्राणात्पुत्र इति श्रुतिः। महाभा० १४, २७५२ (कलकत्ता संस्करण)। रौथ ने सेण्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन में 'पुत्तस्त्राणात्' के स्थान पर 'पुतस्त्राणात्' संशोधन प्रस्तुत किया है।······नरकं पुदिति ख्यातम्। पुदस्त्राणाततः पुत्रमिच्छन्तीह परत्र च। हरिवंश १४४२०; १४४२१। पुत्रार्थं जनितश्चायम् पुन्नाम्नो बिभ्यता। मार्कण्डेय पुराण ७३, १६।

२. अमरकोशोद्घाटन, पृ० ९५।

३. *Wörterbuch zum Rigveda, S. V.* putra.

४. *Sanskrit-English Dictionary, S. V.* putra.

५. *Cf. Macdonell* : *Vedic Mythology*, p. 169.

निरुक्तकार द्वारा दी गई दूसरी निरुक्ति 'निपरणाद्वा' भी ऋग्वेद के समय के लिये सत्य नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद के समय में श्राद्धविधि इतनी विकसित नहीं हुई थी कि धर्मशास्त्रों के काल के समान पिण्डदान के अधिकारियों का विचार किया जाता हो। कोई भी गृहपति बिना इस भेदभाव के कि यह मेरा पिता, पितामह अथवा प्रपितामह है, अथवा इनसे भी पूर्व पीढ़ी का है, मृत पूर्वजों की पूजा कर सकता था। ऋग्वेदकाल में पितृ-पूजा के सम्बन्ध में पुत्र की प्राथमिकता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। निरुक्तकार द्वारा दी गई पहली निरुक्ति—'पुरु त्रायते' अर्थात् पुत्र अनेक प्रकार से रक्षा करता है—भाव की दृष्टि से ऋग्वेद-काल या उससे भी पूर्व काल के लिये सत्य हो सकती है, लेकिन यह निरुक्ति भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं हैं. यह केवल जन-प्रचलित निरुक्ति है, जिसे यास्क ने अपने ग्रन्थ में स्थान दे दिया है।[१]

क्षीरस्वामी और ग्रासमान द्वारा दी गई निरुक्तियाँ यद्यपि सम्भव हैं क्योंकि 'पू' और 'पा' दोनों धातुएँ मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में पाई जाती हैं,[२] लेकिन निश्चित नहीं हैं क्योंकि किसी भी अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषा में इन धातुओं से निष्पन्न शब्दों के अर्थ का विकास इस दिशा में नहीं हुआ है।

वस्तुतः 'पुत्र' शब्द क्षुद्र अथवा अल्प अर्थ के वाचक इण्डो यूरोपीय शब्द 'puta'[३] 'put'[४] या 'pu'[५] से सम्बद्ध प्रतीत होता है। पुत्र से सम्बद्ध 'पोत', 'पोतक' शब्दों का लौकिक संस्कृत में पशुओं के बच्चों के लिये तथा छोटे पौधों के लिये प्रयोग प्रचलित है,[६] जैसे 'मृगपोत', 'अश्वपोत' आदि। इसलिये यह सम्भव है कि 'पुत्र' शब्द का मूल अर्थ 'क्षुद्र', 'अल्प' (junges, young one) रहा हो, जैसा कि इसके समानप्रभव (cognate) शब्दों का कुछ अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में है, और बाद में पुरुष-सन्तान या पुत्र अर्थ हो गया

१. Varma (Dr.) Siddheshwar : *Etymologies of Yāska*, p. 103.

२. Cf. Fick : *Wörterbuch*, Vol. I, pp. 132 and 146.

३. वही, पृ० १४७।

४. Varma (Dr.) Siddheshwar : *Etymologies of Yāska*, p. 26.

५. वही, पृ० १०३।

६. ऋग्वेद में 'पोत', 'पोतक' शब्द नहीं पाया जाता। ऋग्वेदकाल में मनुष्येतर प्राणियों के बच्चों के लिये भी 'पुत्र' शब्द का प्रयोग होता था। देखिये आगे पृ० १६२।

हो। डा० इरावती कार्वे[1] ने 'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'pou or peu=pu=small' (छोटा) से मानी है, जो ठीक ही है।[2]

अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में 'पुत्र' शब्द का मूल अर्थ (क्षुद्र, बच्चा) सुरक्षित रह गया प्रतीत होता है :

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमान् अनु जायताम्। ३, २३, ३।

'पुरुष शिशु को उत्पन्न करो, उसके पश्चात् भी पुरुष उत्पन्न होवे।'

ऋग्वेद में जहाँ अग्नि तथा अन्य देवों को 'सहसस्पुत्र', 'ऊर्जस्पुत्र', 'शवसस्पुत्र' आदि पदों से निर्दिष्ट किया है, वहाँ भी 'पुत्र' शब्द का अर्थ 'बच्चा' हो सकता है और यह आवश्यक नहीं कि 'पुत्र' शब्द सम्बन्ध विशेष को प्रकट करे।[3] लेकिन ऋग्वेद में अधिकतर 'पुत्र' शब्द निश्चित रूप से सम्बन्ध वाचक है और पुरुष-सन्तान का ही बोध कराता है :

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः। ऋक् १,६८,५।

'लोग अग्नि के कथन का श्रवण करते हुए इस प्रकार उसकी सेवा करते हैं, जैसे पुत्र पिता की।'

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। ऋक् १०, १५९, ३।

'मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हैं और मेरी पुत्री शासन करने वाली है।'[4]

पुत्रक—ऋग्वेद में एक बार 'पुत्रक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'पुत्रक' 'पुत्र' शब्द से अल्प या दयनीय अर्थ में 'क'[5] प्रत्यय जुड़कर बना है। 'पुत्रक' का अर्थ 'अल्पवयस्क अथवा दीन अथवा प्रिय पुत्र' होता है।[6] 'पुत्रक' शब्द का प्रयोग केवल अपने पुत्र के अर्थ में ही सीमित नहीं है, अपितु किसी भी

---

१. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 83.

२. 'pou' या 'pu' लैटिन 'puer' (लड़का) में दृष्टिगोचर होने वाला प्रकृति-अंश (stem) है।

३. डा० इरावती कार्वे: ऊपर उद्धृत।

४. इस ऋक् में स्पष्ट रूप से पुरुष और स्त्री सन्तान का पृथक् निर्देश किया गया है और 'पुत्र' पुरुष-सन्तान के लिये आया है।

५. संस्कृत प्रत्यय 'क' और जर्मन प्रत्यय chon में अत्यधिक सादृश्य है। जर्मन भाषा मे chon प्रत्यय भी 'अल्प या प्रिय' का अर्थ बोध कराता है।

६. देखिये अष्टाध्यायी ५, ३, ७६ पर सिद्धान्तकौमुदी—अनुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः।

अल्पवयस्क अथवा दीन के लिये स्नेह में 'पुत्रक' सम्बोधन किया जाता है। ऋषि प्रियमेधस् अपने कुल के लोगों को इन्द्र की अर्चना करने के लिये प्रेरित करता है :

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥
ऋक् ८, ६९, ८।

'हे प्रियमेधसों, अर्चना करो, अर्चना करते रहो। छोटे बच्चे भी अर्चना करें। दुर्ग के सदृश शक्तिशाली (इन्द्र) की अर्चना करो।'

यहाँ 'पुत्रक' शब्द सम्बन्ध विशेष के अर्थ में प्रयुक्त न होकर सामान्यतया बच्चे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1]

(इ) **तुच्, तुज्, तुजि, तोक, मुतुक**—'तुच्', 'तुज्' और 'तोक' इन शब्दों का निघण्टुकार ने अपत्यार्थक शब्दों में पाठ किया है। ये शब्द सामान्यतया सन्तानमात्र के वाचक हैं और पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री सब का बोध कराते हैं। ये शब्द परस्पर सम्बद्ध हैं और किसी एक मूल धातु से निष्पन्न प्रतीत होते हैं। निरुक्त के टीकाकार देवराजयज्वा ने 'तुच्' को 'ष्टुच् प्रसादे' और 'तुज्' को 'तुज् हिंसायाम्' धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़कर सिद्ध किया है।[2] यास्काचार्य ने 'तोक' शब्द को 'तुद् व्यथने' धातु से निष्पन्न माना है।[3] रौथ ने इन तीनों शब्दों को √तुज् (प्रेरणा देना, वृद्धि करना) धातु से सम्बद्ध माना है। प्रो० ग्रासमान का विचार है कि यह शब्द √तक्ष् या त्वक्ष् (इण्डो-यूरोपीय *तक् या *त्वक्) धातु से निष्पन्न हैं और इनका मूल अर्थ 'बनाया हुआ', 'उत्पन्न' था।[4] निघण्टु में अपत्य नामों में पठित 'तक्मन्' और 'तोक्मन' शब्द भी इन्हीं धातुओं से निष्पन्न हैं। 'तुच्' और इसके समानप्रभव शब्दों का 'सन्तान' या 'बीज' अर्थ में प्रयोग भारत-ईरानी काल में भी प्रचलित था।[5]

---

१. देखिये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. III, p. 287.

२. निरुक्त, भाग १, पृ० १७१–७२ (बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण, १८८२)।

३. निरुक्त १०, ७।

४. *Wörterbuch zum Rigveda*, S.V. 'Takṣ'. Also compare, Grk—τέκνον : τίκτω 'beget, bear', τέκνα 'children' (Buck, p. 106.)

५. Sans.—tuc, toka (descendant), tuji (begetting), tokman (new sprout, new green blade) ; Zend—taokhman (germ, seed ;

इन शब्दों का मूल अर्थ कदाचित् 'क्षुद्र या अल्प' था।[1] ऋग्वेद में इन शब्दों का अर्थ सन्तान, बच्चे या पुत्र है।[2]

तुच्, तुज् और तुजि शब्दों का प्रयोग केवल ऋग्वेद में ही मिलता है, लेकिन 'तोक' शब्द उत्तरवैदिक ग्रन्थों तथा लौकिक संस्कृत में भी प्रयुक्त हुआ है।[3] इस वर्ग के शब्दों में से 'तोक' शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। तुच् शब्द का प्रयोग केवल चतुर्थी विभक्ति में ही हुआ है।[4]

'तुच्' शब्द का एक बार 'तन' शब्द के साथ भी प्रयोग हुआ है :

तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे।
आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥ ऋक् ८,१८,१८।

'हे तेजस्वी आदित्यों, हमारे पुत्र-पौत्र के जीवन के लिये दीर्घ आयु प्रदान करो।'

प्रो० ग्रासमान के कोष के अनुसार 'तुज्' शब्द का अपत्य अर्थ में ऋग्वेद में तीन बार प्रयोग हुआ है, लेकिन उनमें से एक स्थल पर 'तुज्' का अपत्य या सन्तान अर्थ संदिग्ध है।

आ नस्तुजं रयिं भरांशं न प्रतिजानते।
वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र सम्पारणं वसु ॥ ऋक् ३ ४५,४।

(ऋषि विश्वामित्र इन्द्र से प्रार्थना करता है)—'तुम हमें प्रहार करने वाला धन लाओ जैसे अनुमति देने वाले (वयस्क[5] पुत्र) को उसका भाग दिया जाता है। हे इन्द्र, जैसे लग्गीवाला (अङ्की) वृक्ष से पके फल हिलाता है, वैसे ही (हमारे लिये) विपत्तियों से निकालने वाला[6] (सम्पारण) धन लाओ।'

यहाँ यद्यपि 'प्रहार करने वाला धन' से पुत्र का ही अभिप्राय प्रतीत

---

relationship, male relation); O. Pers.—tauma (family); N. Pers.—tukhm, tokhm, tukhmah (family). Cf. Fick, Vol. I, pp. 326, 327.

१. मिलाइये, संस्कृत—तुच्छ, तुच्छ्य, स्तोक।

२. निरुक्तकार ने 'तोक' शब्द का अर्थ पुत्र किया है (१०, ७; १२, ६)।

३. अथर्व १,१३,२; २८,३; शत० ब्रा० ७,५,२,३६; भागवत पु० ६,४,१२; अमरकोश २,६,२८।

४. ऋक् ६,४८,६; ८,२७,१४।

५. Cf. Wilson : *Rigveda*, Vol. III, p. 55—'arrived at maturity.'

६. Geldner : *Der Rigveda*, Vol. I, p. 387—'aus der Not helfendes.'

होता है, लेकिन 'तुज्' का अर्थ 'हिंसा करने वाला' है और 'तुजम्' 'रयिम्' का विशेषण प्रतीत होता है।

तुजे नस्तने पर्वताः सन्तु। ऋक् ५,४१,९।

'हमारे पुत्र और पौत्र के लिये पर्वत होवें।'

यहाँ 'तुज्' और 'तन्' दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग सामान्यतया सन्तति के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है।[1]

तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि। ऋक् ४,१,३।

'हे दीप्यमान (अग्नि), हमारे पुत्र-पौत्रों को सुख दो। हे दर्शनीय हमारे लिये सुख दो।'

'तुज्' शब्द का सन्तान अर्थ में 'तन्' या 'तोक' 'शब्द के साथ ही प्रयोग हुआ है। 'तुज्-तन्' या 'तोक-तुज्' का प्रयोग हिन्दी भाषा के मुहावरे—बेटे-पोते—के समान प्रतीत होता है। वैसे इन शब्दों के प्रयोग में अव्यवस्था दिखलाई पड़ती है। सायण ने 'तुज्' का अर्थ ऋक् ५,४१ ९ में पुत्र और ऋक् ४,१,३ में पौत्र किया है।

'तुजि' शब्द का सन्तति के अर्थ में केवल एक बार प्रयोग हुआ है :

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।

ऋक् ५,४६, ७।

'देवों की पत्नियाँ इच्छापूर्वक हमारी रक्षा करें; सन्तति और धन-प्राप्ति द्वारा हमारी रक्षा करें।'

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस वर्ग के शब्दों में से 'तोक' शब्द सर्वाधिक प्रयुक्त है। 'तोक' शब्द का अकेले अनेक बार प्रयोग हुआ है।[2] 'तोक' शब्द का ऋग्वेद में एक स्थल[3] को छोड़कर सर्वत्र एकवचन में प्रयोग हुआ है, लेकिन 'बहुत्व' अर्थ भी विवक्षित हो सकता है।

'तोक' शब्द का अधिकतर 'तनय' शब्द के साथ प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों में 'तोक' की पूर्वस्थिति और 'तनय' की पश्चात् स्थिति है।[4]

---

१. मिलाइये, हिन्दी-प्रयोग – बेटे-पोते, बालक-नन्हे, बाल-बच्चे।

२. ऋक् १,८,६; ४१,६; ३,१३,७; ५,७७,४; ७,१८,२३; ६२,६; ६३,६।

३. ऋक् ७,४६,३।

४. ऋक् १,१००,११; २,२५,२; ४,१२,५; ४१,६; ५,५३,१३; ७,८४,५; ८५,५; ८,९,११।

यास्काचार्य ने और उसका अनुसरण करने वाले उत्तरवर्ती टीकाकारों ने इन स्थलों पर 'तोक' का अर्थ पुत्र और 'तनय' का अर्थ 'पुत्र का पुत्र' किया है।[1]

'तोक' का घिसा हुआ रूप (weak form) 'सुतुक' में देखा जाता है, जिसका अर्थ 'उत्तम सन्तान वाला' है :

मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश। ऋक् १, १४६,५।

'जो मनुष्य इस (अग्नि) के लिये हवि देता है, वह उत्तम सन्तान प्राप्त करता है।'

(ई) **तन्, तन, तनय, तनस्, तना, तनू, तान्व**—इस वर्ग के पुत्र के वाचक शब्द √तन् धातु से निष्पन्न हैं, जिसका अर्थ 'फैलाना, जारी रखना, स्थायी रखना, परिवार की वृद्धि करना' आदि है। क्योंकि कोई समाज या कुल अपने बच्चों से ही जीवित या स्थायी रह सकता है, इसलिये बच्चों का 'तन्' 'तनय' आदि शब्दों से निर्देश किया जाना सर्वथा स्वाभाविक है। तन्, तन, तनय, तनस् और तना इन सबका अर्थ सन्तान, शिशु या बच्चा है।[2] लेकिन प्रसंगवश ये शब्द सम्बन्ध विशेष का बोध भी कराते हैं। ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ ये शब्द निश्चित रूप से पुत्र या पौत्र के लिये आये हैं।

अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः। ऋक् ६,४६,१२।

(ऋषि शंयु इन्द्र से प्रार्थना करता है)—'हमारे लिये और हमारे पुत्रों के लिये शरण प्रदान करो, अदृष्ट शत्रुओं को दूर भगा दो।'

---

१. मैक्डानल और कीथ का मत है कि 'तोक' का अर्थ पुत्र या बच्चे और 'तनय' का अर्थ पौत्र मानने के लिये कोई आधार नहीं प्रतीत होता। (*Vedic Index*, Vol. I, p. 298)

२. सन्तान के वाचक अन्य शब्दों के समान इस वर्ग के शब्दों का सन्तान अर्थ कदाचित् 'क्षुद्र' अर्थ से ही विकसित हुआ है, क्योंकि अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में 'तन्' के समानप्रभव (cognate) शब्दों का 'अल्प', 'पतला' अर्थ होता है। लौकिक संस्कृत में तनु का अर्थ 'कृश, अल्प' भी होता है। हिन्दी की बोलियों में भी 'तनु' के समानप्रभव (cognate) शब्दों का 'अल्प' अर्थ होता है। लेकिन ऋग्वेद में पुत्र को माता पिता की वृद्धि का हेतु समझा जाने लगा था। देखिये ऋक् १०,१,७—आ हि द्यावापृथिवी अग्ने उभे सदा पुत्रो न मातरा ततन्थ।

राया मदेम तन्वा तना च । ऋक् ६,४९, १३ ।

'हम धन, शरीर और बच्चों की ओर से आनन्द करें ।'

ऋग्वेद में 'तन्' शब्द का केवल तृतीया और चतुर्थी विभक्ति में एक वचन में ही प्रयोग हुआ है ।

आ वो मक्षू तनाय कं रुद्रा अवो वृणीमहे । ऋक १,३९,७ ।

'हे रुद्र के पुत्रों (रुद्राः), हम पुत्र के लिये तुम्हारी सहायता की शीघ्र कामना करते हैं ।'

इन शब्दों का, जैसा कि ऊपर कहा गया है, तुज्, सूनु आदि अपत्यवाचक शब्दों के साथ भी प्रयोग किया गया है । ऐसे स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि एक शब्द वक्ता से अगली पीढ़ी के लिये और दूसरा शब्द उससे अगली पीढ़ी के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे । ऋक् ८,१८,१८ ।

'हमारे पुत्र-पौत्र के जीवित रहने के लिये दीर्घ आयु होवे ।'

'तन' का केवल चतुर्थी विभक्ति एक वचन में प्रयोग हुआ है । सामान्यतया 'तन' का अर्थ अपत्य मात्र है, लेकिन प्रसङ्ग के अनुसार पुत्र या पौत्र अर्थ हो सकता है ।

इस वर्ग के शब्दों में 'तनय' सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द है । लौकिक संस्कृत में 'तनय' पुँल्लिङ्ग में पुत्र का वाचक तथा स्त्रीलिङ्ग में पुत्री का वाचक शब्द है । ऋग्वेद में 'तनय' का प्रयोग विशेषण[1] और संज्ञा[2] दोनों तरह से किया गया है । 'तनय' शब्द नपुंसकलिङ्ग[3] में सामान्य रूप से अपत्य का वाचक[4] है जबकि पुँल्लिङ्ग में यह पुत्र या पौत्र का वाचक होता है । ऋग्वेद में 'तनय' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं हुआ है । जहाँ 'तनय' शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है, वहाँ इसका अर्थ 'वृद्धि करने वाला' या 'स्थायी करने वाला' है ।

एवा पुनानो अपः स्वर्गा अस्मभ्यं तोका तनयानि भूरि । ऋक् ९,९१,६ ।

---

१. ऋक् ३,१,२३; ९.९१,६; १०,४,७ ।

२. ऋक् १.११२,४; १८४,५; २,२३ १९; २४,१६; ३.१५,२; ६,६२,१०; ७,१,२१ ।

३. तोकं च तस्य तनयं च वर्धते । ऋक् २,२५,२ ।

४. लेकिन सामान्य सन्तान के वाचक शब्द से विशिष्ट अर्थ पुत्र आदि भी समझा जाता है ।

'इस प्रकार पवित्र करने वाला (सोम) हमें जल, प्रकाश, गऊ और बहुत से अपने शरीर से उत्पन्न बच्चे देवे।'[1]

रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वो अप्रयुच्छन्। ऋक् १०,४,७।

'हे अग्ने, हमारे शरीर से उत्पन्न (अथवा कुल की वृद्धि करने वाले) बच्चों (पुत्रों) की रक्षा करो और प्रमाद न करते हुए हमारे शरीरों की रक्षा करो।'

उपर्युक्त दोनों स्थलों में, 'तनय' 'तोक' का विशेषण प्रतीत होता है और 'तोक' (नपुंसक, बहुवचन) सामान्यतया सन्तान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। निम्न ऋक् में 'तनय' शब्द को सायण ने भी विशेषण माना है—

स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे। ऋक् ३,१,२३।

'हमारा पुत्र (कुल की) वृद्धि करने वाला और उत्पन्न होने वाला होवे। हे अग्नि, हमारे प्रति तुम्हारी यही सुमति (दया) होवे।'[2]

'तोक' के साथ 'तनय' शब्द का 'च' अव्यय के साथ भी प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों में 'तनय' निश्चित रूप से संज्ञा शब्द है और सन्तान के अर्थ का वाचक है। एक शब्द, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वक्ता से अगली पीढ़ी के लिये और दूसरा शब्द उससे अगली पीढ़ी के लिये प्रयुक्त होता है। इस लिये उनमें से पूर्व प्रयुक्त शब्द का अर्थ पुत्र या पुत्री और पश्चात् प्रयुक्त शब्द का अर्थ पौत्र या पौत्री होता है।[3]

---

१. यह भाषान्तर गेल्डनर के अनुसार किया गया है। गेल्डनर ने 'तनय' को तोक का विशेषण मानकर leibliche (शरीर से उत्पन्न) अर्थ किया है। लेकिन 'वृद्धि करने वाला' अर्थ भी उपयुक्त हो सकता है। सायण ने यहाँ 'तोक' का अर्थ पुत्र और 'तनय' का अर्थ पौत्र किया है, परन्तु ऋक् १०,४,७ में 'तोक' का अर्थ पौत्र और 'तनय' का अर्थ पुत्र किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सायण ने तोक और तनय दोनों शब्दों को अपत्य के अर्थ में समझा है, इसलिये वह पहले आने वाले शब्द का अर्थ पुत्र और बाद में आने वाले शब्द का अर्थ पौत्र करता है।

२. तनयः संतानस्य विस्तारयिता विजावा पुत्रपौत्रादिरूपेण स्वयं विजायत इति विजावा स्यात्। (पूना संस्करण)।

३. क्योंकि वैदिक आर्य पुरुष-प्रधान जाति थी, इसलिए जहाँ सन्तान की कामना की गई है, वहाँ सन्तान का अभिप्राय पुरुष-सन्तान ही समझना चाहिए। अतः 'तोक' और 'तनय' का अर्थ पुत्र या पौत्र ही अधिक सम्भव है।

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति । येन तोकं च तनयं च धामहे ।
ऋक् १,६२,१३ ।

'हे वाजिनीवती उषस्, हमारे लिए वह अद्भुत उपहार लाओ जिससे हम पुत्र और पौत्र प्राप्त कर सकें ।'

'तनस्' शब्द का ऋग्वेद में केवल तृतीया एक वचन में एक बार प्रयोग हुआ है और वह भी अपत्य के वाचक 'शेषस्' शब्द के साथ । इसलिए जैसे 'तन' या 'तनय' शब्द 'तुच्' या 'तोक' शब्द के साथ में प्रयुक्त होने पर वक्ता से आगे की एक पीढ़ी छोड़कर दूसरी पीढ़ी की सन्तान के वाचक होते हैं, वैसे ही 'तनस्' शब्द भी 'शेषस्' के साथ प्रयुक्त होने पर वक्ता से आगे की एक पीढ़ी छोड़ कर दूसरी पीढ़ी की सन्तान का वाचक है ।

मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः । मा शेषसा मा तनसा ।।
ऋक् ५,७०,४ ।

'हे अद्भुत शक्तिशाली (मित्र और वरुण), हम अपने शरीरों से अर्थात् स्वयं किसी अन्य के अन्न का उपभोग न करें । हम अपने पुत्रों अथवा पौत्रों द्वारा भी (अन्य के अन्न का उपभोग न करें) ।'

'तना' 'तन' से ही सम्बद्ध[1] स्त्रीलिङ्गशब्द है, जिसका अर्थ पुत्र (शिशु) है । ऋग्वेद में इस शब्द का दो बार अग्नि के प्रसङ्ग में प्रयोग हुआ है ।[2]

अग्ने दिवः सूनुरसि प्रेचतास्तना पृथिव्या उत विश्ववेदाः ।
ऋधग्देवाँ इह यजा चिकित्वः ।। ऋक्, ३,२५,१ ।

हे अग्नि, तुम दिव् के ज्ञानी पुत्र हो और तुम पृथिवी के सर्ववेत्ता पुत्र (तना) हो[3] । हे ज्ञानवान् (अग्नि), तुम देवों को यहाँ पूजा के लिये ले आओ ।'

'तनु' अथवा 'तनू' शब्द ऋग्वेद में शरीर अथवा स्वयं (आपा, आत्मा) के अर्थ में आया है । लेकिन एक स्थल पर 'तनू' सन्तान या पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है :

ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम् ।
ऋक् ८,८६,१–३ ।

---

१. Grassmann : *Worterbuch z m Rigveda*, p 519.

२. ऋक् ३,२५,१; २७,६ ।

३. सायण— तना=तनयः (पूना संस्करण) ।

'विश्वक ऋषि पुत्रों के लिए तुम दोनों (अश्विनौ) को बुलाता है।[1] हमारी मित्रता को समाप्त न करो। (अपने घोड़े) छोड़ दो।'

ऋग्वेद १,१६५,१५ में भी 'तनू' शब्द पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।[2]

'तान्व' शब्द 'तनू' (शरीर) से निष्पन्न है, इसलिए 'तान्व' का अर्थ 'शरीर सम्बन्धी' अथवा 'अपने शरीर से उत्पन्न' है। अतः 'तान्व' वैध या औरस पुत्र का वाचक है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग केवल एक ऋक् में हुआ है जो कि अत्यन्त अस्पष्ट है।[3]

न जामये तान्वो रिक्थमारैक्। ऋक् ३,३१,२।

'तान्व (औरस पुत्र) जामि[4] (बहिन अथवा भाई) के लिए पित्र्य धन नहीं छोड़ता।'

(उ) **वीर**—वीर शब्द की व्युत्पत्ति √वीर् (प्रतिशोध करना, पराजित करना) या √वी (जाना) धातु से मानी जाती है।[5] लेकिन यह शब्द मूल इण्डो यूरोपीय भाषा में भी पाया जाता है जहाँ इसका अर्थ पुरुष (man) है।[6] ऋग्वेद में वीर शब्द का अर्थ शूर या पुरुष सन्तान है। अथर्ववेद में भी यह शब्द इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। लौकिक संस्कृत में कुछ अपवादों

१. सायण—तनोति कुलमिति तनूः पुत्रः। (पूना संस्करण)। गेल्डनर—"Euch ruft Viśvaka um der Nachkommenschaft willen" (विश्वक तुम्हें सन्तान की कामना से बुलाता है)।

२. एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्। देखिये, ग्रिफिथ कृत ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृ० २९९।

३. *Vedic Index*, 1,306.

४. 'जामि' का विवेचन आगे किया जायगा।

सायण और यास्काचार्य ने यहाँ जामि का अर्थ बहिन किया है। प्रो० मैक्डानल और कीथ ने भी यहाँ जामि को बहिन अर्थ में ही स्वीकार किया है। (ऊपर उद्धृत)। परन्तु लुडविग और ग्रिफिथ ने जामि का अर्थ भाई माना है। (ग्रिफिथ, पू० नि०, ३,३१)।

५. निरुक्त १.७।

६. I. E.—vīro-s, viro-s; Lith.—vyras 'man'; Goth.—vaira; Lat.—vir.

को छोड़कर 'वीर' शब्द प्रायः शूर (पराक्रमी) अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[१] लेकिन आधुनिक बोलियों में वीर भाई के लिए भी आता है।[२] ऋग्वेद में 'वीरसू' समासयुक्त पद में 'वीर' का अर्थ पुत्र ही समझना चाहिए।[३]

वीरसूर्देवकामा[४] स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋक् १०,८५,४४।

(वधू को आशीर्वाद दिया जाता था)—'तू पुत्र उत्पन्न कर, देवों की कामना कर, कल्याणी हो और हमारे दो-पैर वालों तथा चार-पैर वालों के लिए सुखकारी हो।'

(ऊ) **अपत्य**—यह शब्द सामान्यतया सन्तान का वाचक है। यास्काचार्य ने इसे 'अप' उपसर्ग पूर्वक √तन् धातु से अथवा नञ्पूर्वक √पत् धातु से निष्पन्न माना हैं।[५] परन्तु ये निरुक्तियाँ आधुनिक भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों के विपरीत हैं।[६] कदाचित् यह शब्द 'अप' अव्यय से त्य प्रत्यय जुड़कर बना है[७] और इसका अर्थ 'आगे रहना', 'बाद में रहना' है और इससे 'कुल की वृद्धि' अर्थ की व्यञ्जना होती है।[८] ऋग्वेद में अपत्य शब्द का सन्तान अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है।

होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पती रयीणाम्। ऋक् १,६८,४।

'(अग्नि) मनु की सन्तान के मध्य में स्थित होता (पुरोहित) है। वह ही इन सब धनों का स्वामी है।'

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम। ऋक् १,१७९,६।

'उग्र ऋषि अगस्त्य ने खनित्रों से खोदते हुए और सन्तान, सन्तान की सन्तान (?) तथा बल की इच्छा करते हुए दोनों वर्णों को पुष्ट किया और देवों से सत्य आशीर्वाद प्राप्त किया।'

---

१. अपवाद के लिये देखिये, ऊपर पृ० १३८, पा० टि० १।
२. देखिये, ऊपर पृष्ठ १३८ पा० टि० १।
३. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 82.
४. इसका पाठान्तर 'देवृकामा' भी है।
५. अपत्यं कस्मादपततं भवति, नानेन पततीति वा। निरुक्त ३,१।
६. Varma (Dr.) Siddheshwar : *Etymologies of Yāska*, pp. 101, 115.
७. Grassmann : *Wörterbuch zum Rigveda*, p. 71.
८. Varma (Dr.) Siddheshwar : *Etymologies of Yāska*, p. 115.

सन्तान के वाचक अन्य शब्दों के समान 'अपत्य' भी जब सन्तान के वाचक किसी अन्य शब्द के पश्चात् प्रयुक्त होता है तो कदाचित् वक्ता से आगे की दूसरी पीढ़ी की सन्तान के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

(ए) **जा, जात, प्रजा**—जा और प्रजा शब्द √जन् (उत्पन्न होना) धातु से निष्पन्न है। सामान्यतया इनका भी अर्थ सन्तान होता है। अधिकतर इन का प्रयोग वक्ता से अगली पीढ़ी के लिए होता है।

परि पाहि नो जाः। ऋक् १,१४३,८।

'हमारी सन्तान की अच्छी प्रकार रक्षा करो।'

प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः। ऋक् २,३३,१।

'हे रुद्र, हम सन्तान के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होवें।'

ग्रिफिथ[१] ने निम्न मन्त्र में 'प्रजा' का अर्थ पुत्र किया है—

प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे।

ऋक् १०,९५,१८।

'तेरा पुत्र हवि से देवों की पूजा करेगा और तू भी स्वर्ग में आनन्दित होगा।'

√जन् धातु से निष्पन्न पुत्र का वाचक एक अन्य शब्द 'जात' है।[२]

आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे।

ऋक् १,८३,५।

'कवि के पुत्र (काव्य) उशना ने अपने साथ गायें हाँकी। हम यम के अमृत पुत्र की पूजा करते हैं।'

(ऐ) **नपात्, नप्तर् (नप्तृ), नप्त्य**—'नपात्' की परम्परा-प्राप्त व्युत्पत्ति नञ्पूर्वक णिच्प्रत्ययान्त 'पत्' धातु से मानी गई है[३]—न पातयति, न तेन पतति[४] अर्थात् वह 'पितरों' को (नरक में) नहीं गिरने देता अथवा उसके कारण 'पितर' नरक में नहीं गिरते।

---

१. *Hymns of the Rigveda, Vol. IV*, p. 308.

२. संस्कृत नाटकों में प्रायः सम्बोधन में बच्चों के लिए प्राकृत भाषा में 'जाद', 'जादे' का प्रयोग किया गया है।

३. अष्टाध्यायी २,३,७५ में नपात् की व्युत्पत्ति 'न+पात्' मानी गई है। 'पात्' √पा (रक्षा करना) धातु से निष्पन्न माना है। देखिए, Monier-Williams : *Sanskrit-English Dictionary*, नपात्।

४. देवराजयज्वा : निघण्टुटीका २,२ (बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण, भाग १, पृष्ठ १७५)।

परन्तु नपात् शब्द, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, इण्डो यूरोपीय शब्द *nepot से सम्बद्ध है।[१] मानेर विलियम्स का सुझाव है कि 'नपात्' शब्द की निष्पत्ति कदाचित् √नभ् (उत्तरवर्ती, √नह्, बाँधना, जोड़ना) धातु से है।[२] यास्काचार्य ने 'नपात्' शब्द को पौत्र के अर्थ में लिया है—नपादित्यननन्तरायाः प्रजाया नामधेयं निर्णततमा भवति।[३] अर्थात् पौत्र को 'नपात्' इसलिए कहा जाता है क्योंकि पुत्र पिता से एक सीढ़ी नीचे होता है और पौत्र उससे भी एक सीढ़ी और नीचे।[४] कदाचित् यास्क ने 'नपात्' शब्द की निरुक्ति 'निर्+√नम्+तम' स्वीकार की है।

ऋग्वेद में 'नपात्' शब्द सामान्य सन्तान, पुत्र और पौत्र अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'नपात्' और 'नप्तर्' में से प्राचीन शब्द नपात् ही है, नप्तर् (नप्तृ) कदाचित् 'पितर्' के सादृश्य पर बना लिया गया है। ऋग्वेद में 'नप्तर्' की अपेक्षा 'नपात्' का ही प्रयोग अधिकतर हुआ :

इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुर्मनोर्नपातो अपसो दधन्विरे। ऋक ३,६०,३।

'ऋभुओं ने इन्द्र की मित्रता प्राप्त कर ली। मनु की सन्तान (ऋभुओं) ने चतुरता से कार्य किया।'

यहाँ 'नपातः' सन्तान (descendents) के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ऋभुओं का पिता सुधन्वन् माना जाता है, जैसा कि ऋभुओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'सौधन्वनासः'[५] पद से प्रकट है।

नपातो दुर्गहस्य मे सहस्रेण सुराधसः। श्रवो देवेष्वक्रत ॥ ऋक् ८,६५,१२।

'दुर्गह के दानी वंशजों ने मुझे सहस्र (गौ) देकर देवों में कीर्ति प्राप्त की।'[६]

यहाँ भी 'नपात्' सामान्य सन्तान के अर्थ में आया है। 'नपात्' बहुवचन के प्रयोग से प्रकट है कि दुर्गह के अनेक वंशजों की ओर संकेत किया गया है।

---

१. देखिये ऊपर पृ० ५२–५३।

२. Monier-Williams : *Sanskrit-English Dictionary*, *S. V.* Napāt.

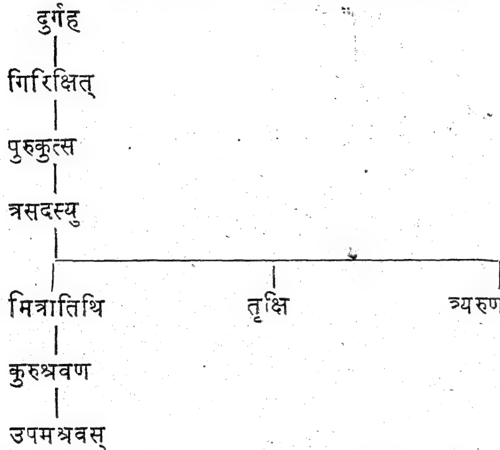
३. निरुक्त ८, ५।

४. देखिये, निरुक्त ८,५ पर देवराजयज्वाकृत टीका (बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण, भाग ३, पृ० ४६३)।

५. ऋक् १,११०,२; ८; ३,६०,३।

६. सायण ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। उसने 'नपातः' और 'दुर्गहस्य' को 'मे' का विशेषण माना है।

लेकिन ऋग्वेद में 'दौर्गह'[1] (अर्थात् दुर्गह का अपत्य) से केवल पुरुकुत्स का और 'पौरुकुत्स्य' या 'पौरुकुत्सि' से केवल त्रसदस्यु का उल्लेख हुआ है। त्रसदस्यु का पैतृक नाम (patronymic) 'गैरिक्षित' भी आता है। प्रो० मैक्डानल और कीथ का विचार है[2] कि त्रसदस्यु की वंशावलि निम्न प्रकार थी—



पुरुकुत्स और त्रसदस्यु का ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख हुआ है। कदाचित् 'नपातो दुर्गहस्य' से पुरुकुत्स और उसके परवर्ती त्रसदस्यु आदि की ओर संकेत है।

द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन्॥ ऋक् ७,१८,२२।

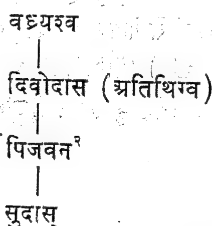
(ऋषि वसिष्ठ सुदास् पैजवन के दान की स्तुति करता है)—'मैं देववान् के (देववतः) वंशज सुदास् पैजवन के दान—दो सौ गाय और घोड़ियों (वधू) से युक्त दो रथ—के योग्य हूँ और होता (पुरोहित) के सदृश उसके दान की प्रशंसा करता हुआ घर जाता हूँ।

यहाँ 'नप्तर्' शब्द भी सामान्य सन्तान या वंशज के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पुत्र या पौत्र विशिष्ट अर्थ में नहीं। क्योंकि ऋग्वेद में आये उल्लेखों के आधार पर कल्पित वंश-वृक्ष के अनुसार सुदास् के निकटवर्ती पूर्वज निम्न

१. दुर्गह का पुत्र पुरुकुत्स और पौत्र त्रसदस्यु था। पुरुकुत्स के कैद हो जाने (अथवा मारे जाने) पर पुरुकुत्स की पत्नी ने त्रसदस्यु को सात ऋषियों के माध्यम से इन्द्रावरुण से प्राप्त किया था। (ऋग्वेद ४,४२,८; ९)।

२. *Vedic Index*, I, 321.

प्रकार हैं[1] :—



इस वंशवृक्ष में कहीं देववान् नहीं आता। देववान् कदाचित् सुदास् का वध्र्यश्व से पूर्ववर्ती पूर्वज था।

ऋग्वेद में कुछ स्थलों[3] पर 'नपात्' का पुत्र के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

एवा नपातो मम तस्य धीभिर्भरद्वाजा अभ्यर्चन्त्यर्कैः। ६,५०,१५।

(ऋजिश्वा ऋषि कहता है)—'इस प्रकार मेरे पुत्र[4] भरद्वाज स्तोत्रों से (धीभिः) और अर्चन विधि से पूजा करते हैं।'

ऋग्वेद में 'नपात्' और 'नप्तर्' शब्द का पौत्र अर्थ में भी प्रयोग हुआ है—
अधि पुत्रोपमश्रवो नपान्मित्रातिथेरिहि। पितुष्टे अस्मि वन्दिता ॥

ऋक् १०,३३,७।

(ऋषि कवष ऐलूष कुरुश्रवण त्रासदस्यव के दान की प्रशंसा करता हुआ कहता है)—'हे पुत्र[5] उपमश्रवस्, तू मित्रातिथि का पौत्र (नपात्) है, मेरी ओर ध्यान दे। मैं तेरे पिता का प्रशंसक (वन्दिता) हूँ।'

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ऋक् १०,८५,४२।

'पुत्रों और पौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए अपने घर में आनन्द करते रहें।'

---

१. *Vedic Index*, I, 363.

२. कदाचित् पिजवन भी सुदास् का पिता न होकर कोई दूरवर्ती पूर्वज था। ऋक् ७,१८,२५ में सुदास् का पिता दिवोदास कहा गया है।

३. देखिये, ऋक् ६,२०,११; ६,५०,१५; १०,१०,१; १०,१५,३ पर सायणभाष्य।

४. सायण, नपातः=पुत्राः; ग्रासमान ने भी *Wörterbuch zum Rigveda* में इस मन्त्र में 'नपात्' का अर्थ पुत्र माना है।

५. इस मन्त्र में 'पुत्र' शब्द का 'बच्चे' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। उपमश्रवस् के वंशवृक्ष के लिये पृष्ठ १५७ देखिये।

यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः । न्यस्मिन् दध्र आ मनः ॥

ऋक् ८,१७,१३ ।

'हे शृङ्गवृष् के पौत्र, जो कुण्डपाय्य तेरा प्रपौत्र है, इसमें अपना मन रख ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में 'नपात्' और 'नप्तर्' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है और ऋग्वेद में इनका अर्थ सन्तान, वंशज, पुत्र और पौत्र होता है। लौकिक संस्कृत में 'नपात्' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और 'नप्तर्' (नप्तृ) शब्द का अर्थ केवल पुत्र का पुत्र (अर्थात् पौत्र) रह गया है। 'पुत्री के पुत्र' के लिए भी 'दुहितर्' से 'दौहित्र' नया शब्द बना लिया गया है।

'नप्त्य' (नपुं०) शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है, जहाँ इसका अर्थ सन्तान या पौत्र है। यूरोपीय विद्वानों ने इसे 'नप्ती' का द्वितीया एकवचन का रूप माना है।

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात् । ऋक् ३,३१,१ ।

'प्रशास्ता पुत्रहीन पिता ने पुत्री से पौत्र प्राप्त किया ।'[1]

'नप्त्य' का प्रयोग अथर्ववेद में भी हुआ है।[2] लेकिन लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

(ओ) शेषस्—'शेषस्' शब्द √शिष् (शेष रहना) धातु से निष्पन्न है। सन्तान या पुत्र को शेषस् इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह माता पिता की मृत्यु के पश्चात् रह जाता है।[3] ऋग्वेद में शेषस् शब्द का प्रयोग सन्तान के अर्थ में हुआ है, इसलिए उसका अर्थ पुत्र भी हो सकता है।

मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा ।

ऋक् ७,१,११ ।

'हे अग्नि, हम नरों के अभाव में न बैठें (अर्थात् हमें नरों का अभाव न हो)। हमें सन्तान का अभाव न हो। अवीरता (वीर पुत्रों का अभाव) तुम्हारे चारों ओर न हो।'

---

१. यह मन्त्र अत्यधिक अस्पष्ट है। सायण ने 'वह्नि' का अर्थ 'पुत्र-हीन पिता' किया है, परन्तु यहाँ वह्नि का अर्थ पुरोहित भी हो सकता है। ग्रासमान ने यहाँ 'वह्नि' का अर्थ ऊर्ध्व अरणी और 'दुहितृ' का अर्थ निम्न अरणी किया है। (देखिये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. III, p. 31)

२. पुत्रमत्तु यातुधानी स्वसारमुत नप्त्यम् । अथर्व० १,२८,४ ।

३. शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः । निरुक्त ३,२ ।

न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः । ऋक् ७,४,७ ।

(औरस पुत्र की कामना करता हुआ वसिष्ठ ऋषि अग्नि से प्रार्थना करता है)—'हे अग्नि, अन्य द्वारा उत्पन्न (अपना) पुत्र नहीं होता । हमारे लिए मूर्खों के मार्ग को विस्तृत न करो ।'

अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः । ऋक् १,९३,४ ।

'हे अग्निषोम, तुमने बृसय के पुत्र (वृत्र) का वध किया और अनेक के लिए अद्वितीय प्रकाश (सूर्य) प्राप्त किया ।'

एतत्त्यत्त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेषः । ऋक् ६,२७,४ ।

'(हे इन्द्र) हम केवल तुम्हारे उसी बल को जानते हैं, जिससे तुमने वरशिख (नामक असुर) के पुत्रों का वध किया था ।'

आयुर्वसान उप वेतु शेषः । ऋक् १०,१६,५ ।

'नया जीवन प्राप्त करके वह (मृत व्यक्ति) अपनी सन्तान की वृद्धि करे ।'[1]

मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः । मा शेषसा मा तनसा ॥
ऋक् ५,७०,४ ।

'हे अद्भुत शक्तिसम्पन्न (मित्र एवं वरुण) हम स्वयं किसी अन्य का अन्न न खायें । हमारे पुत्र (शेषस्) और पौत्र भी पराया अन्न न खायें ।'[2]

(औ) वत्स—उणादिसूत्रों के अनुसार 'वत्स' शब्द √वद् (बोलना) धातु से निष्पन्न है ।[3] परन्तु कदाचित् 'वत्स' का सम्बन्ध मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द *vatas (वर्ष) से है । फ़िक (Fick) के अनुसार 'वत्स' (vatsa) का मूल रूप 'vatasa' है और इसका मूल अर्थ 'एक वर्ष का' है ।[4] लेकिन इण्डो-

---

१. ऋग्वैदिक लोगों का विश्वास था कि मृत व्यक्ति पितृ लोक में जाकर देवों के समान अपनी सन्तान का हित-साधन करता था और द्यावा-पृथिवी में प्रजनन शक्ति पितरों द्वारा ही आहित की जाती थी । देखिये, ऋक् १०,६४,१४ ।

२. देखिये ऊपर पृ० १५२ ।

३. वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः ३,६२ ।

४. Fick, p. 207 : 'Sskr. vatsa (für vatasa) und vatsala m. Kalb, eigentlich Jährling+Lat. vetus- oder vetero- in veter-înu-s zum Zugvieh gehörig, veter—îna f. Zugvieh (eigentlich das mindestens ein Jahr alte)'.

यूरोपीय काल में ही इस शब्द का प्रयोग बछड़े, बैल या भारवाहक पशु के लिये होने लगा था। ऋग्वेद में 'वत्स' शब्द के प्रयोग का बाहुल्य है और इस का अर्थ प्रायः बछड़ा है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में 'वत्स' शब्द स्नेह का सूचक हो गया था और स्नेह में किसी भी बच्चे को वत्स शब्द से सम्बोधित किया जा सकता था। लौकिक संस्कृत में 'वत्स' शब्द का सम्बोधन में अत्यधिक प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में मनुष्य के प्रसङ्ग में वत्स शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है, जहाँ इसका प्रिय' के अर्थ में प्रयोग हुआ प्रतीत होता है :

आवो यद्दस्युहत्ये कुत्सपुत्रं प्रावो यद्दस्युहत्ये कुत्सवत्सम्।

ऋक् १०,१०५,११।

'(हे इन्द्र) जब दस्युओं के वध के समय तुमने कुत्स के पुत्र की रक्षा की, जब दस्युओं के नाश के समय तुमने कुत्स के प्रिय की रक्षा की।'

इस मन्त्र में वत्स का अर्थ पुत्र भी हो सकता है। क्योंकि दूसरा चरण प्रथम चरण की आवृत्तिमात्र है, और कुत्सवत्स कुत्सपुत्र के स्थान पर शब्द परिवर्तनमात्र है, इसलिये पुत्र=वत्स। लौकिक संस्कृत में 'वत्स' का पुत्र के लिये प्रयोग हुआ है। आर्य-भाषा की आधुनिक बोलियों में 'वत्स' के समान-प्रभव शब्दों का बच्चे या पुत्र के अर्थ में प्रयोग होता है।

(क) **यहु, यह्व**—पुत्र के वाचक ये शब्द √यह् धातु से निष्पन्न हैं, जो कदाचित् इण्डो-यूरोपीय मूल धातु *yagon से सम्बद्ध है।[1] एक स्थल पर पुत्र अर्थ भी है जहाँ अग्नि[2] को अदिति का पुत्र कहा गया है।

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।

ऋक् १०,११,१।

'बलवान् (अग्नि) ने बलवान् के लिये द्यौ से जलों का दोहन किया। अदिति के पुत्र को धोखा नहीं दिया जा सकता है।'

'यहु' शब्द का पुत्र के अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है,[3] जहाँ अग्नि को 'सहसः यहुः' कहा गया है।

---

१. Grassmann : *Wörterbuch zum Rigveda*, S. V., मिलाइये जर्मन—jagen (पीछा करना, शीघ्रता करना)।

२. ग्रिफिथ के अनुसार 'यह्वो अदितेः' वरुण के लिए प्रयुक्त हुआ है, लेकिन ग्रासमान तथा सायण के अनुसार अग्नि के लिये।

३. ऋक् १,२६,१०; ७४,५; ७६,४; ७,१५,११।

तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिधृषे सुजम्भः सहसो यहुः । ऋक् ८,६०,१३ ।

'इस (अग्नि) के हनु तीक्ष्ण हैं, जिन्हें सहा नहीं जा सकता । सहस् का पुत्र सुन्दर दाँतों वाला है ।'

(ख) **अन्य शब्द**—पुत्र अथवा सन्तान के वाचक उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनका अर्थ अल्प, अल्पायु, बालक आदि हाता है । ऐसे शब्द अर्भ, अर्भक, अर्भग (अल्प, ह्रस्व, अनाथ, दुर्बल या छोटा बच्चा); कुमार, कुमारक (बालक या किशोर); शिशु (छोटा बालक) आदि हैं । प्रसङ्गवश माता और पिता आदि सम्बन्ध वाचक शब्दों के साथ प्रयुक्त होने पर इनका अर्थ पुत्र या सन्तान भी माना जाता है ।

'छोटा' या 'छोटा बालक' आदि अर्थ में प्रयुक्त होने वाला एक अन्य शब्द 'कन' भी है । यद्यपि 'कन' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती साहित्य में नहीं पाया जाता, लेकिन इससे निष्पन्न (derived) कनीन, कनीनक शब्दों का अल्प, नवजात, बाल, कुमार, अल्पायु आदि अर्थ में प्रयोग मिलता है । ऋग्वेद में इन शब्दों का जहाँ पुँल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ है, वहाँ इन्हें पुत्र आदि सम्बन्ध के वाचक सिद्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में इनका सम्बन्ध वाचक पदों के रूप में भी प्रयोग हुआ है ।[1]

२. पुत्र के वाचक शब्दों का मनुष्येतर के प्रसंग में प्रयोग

ऊपर अनुच्छेद (१) में यह दिखलाया जा चुका है कि पुत्र के वाचक शब्दों का देवों के प्रसंग में प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों में पशु तथा पक्षियों के बच्चों के लिए भी पुत्र शब्द का प्रयोग किया गया है ।[2] ऋक् ५,६,४ में सर्प के बच्चे का 'पुत्र' शब्द से निर्देश किया गया है । ऋक् १०,१४४,४ में सोम को लाने वाले सुपर्ण को श्येन का 'पुत्र' कहा गया है । ऋक् ६,७५,५ में इषुधि को पिता तथा बाणों को उसके पुत्र कहा गया है ।

३. सन्तान की, विशेषतः, पुत्र की कामना

जैसा कि पहले कहा जा चुका है ऋग्वैदिक आर्यों का दृष्टिकोण सांसारिक था । सांसारिक समृद्धि और सुरक्षा का हेतु वीर पुत्र समझा जाता था । ऋग्वेद-संहिता के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी भागों में ऐसी ऋचाओं

---

१. देखिये, आगे अध्याय ६ ।

२. ऋक् ३,५७,३; ५८,१; १०,११६,४ ।

की बहुलता है जिनमें अग्नि[1], इन्द्र[2], सोम[3], मरुत्[4], अश्विनौ[5], बृहस्पति[6], सविता[7], सूर्य[8], सरस्वान्[9], विश्वेदेव[10], मित्रावरुण[11], त्वष्टा[12], प्रजापति[13], ऋभु[14] आदि देवों, पितरों[15], देवपत्नियों[16] एवम् उषस्[17] आदि स्त्री-देवों से गौ, अश्व तथा अन्न के साथ साथ अपत्य (सन्तान) की, विशेषतः वीर अथवा पुमान् सन्तान (पुत्र, पौत्र) की कामना की गई है।

ऋषि अथवा स्तुतिकर्ता केवल अपने लिये ही सन्तान की कामना नहीं करता था, अपितु अपने धनी और राजा यजमानों के लिये भी देवों से सन्तान की कामना करता था और यजमानों को उनकी उदारतापूर्वक दी गई महती

---

१. ऋक् १,१२,११; १६२,२२; २,२,११; ४,८; ९,५; १२; ३,१, २३; ५,११; ६,११; ७,११; १३,७; १५,७; १६,३; ५; ४,२,११; ६,१३,६; १६,२९; ३६; ७,४,६; ८,७१,६; १३; १०,३५,१२; ८०,१ इत्यादि।

२. ऋक् १,१०,६; २,३०,५; ११; ३,३६,१०; ६,१८,६; १९,१२; ८,९८,१०; १०,१२८,८ इत्यादि।

३. ऋक् ९,९,९; ३०,३; ४२,६; ५९,१; ६०,४; ६८,१०; ६९,८; ९७,२१; १०,१२८,५ इत्यादि।

४. ऋक् १,६४,१५; ५,५३,१५; ७,५६,२०; ५७,६; ९२,३।

५. ऋक् १,११६,२५; ११७,२३; २५; ११८,२; ५,४२,१८; ४३,१७; ७६,५; ७७,५।

६. ऋक् २,२३,१९; २४,१५; ४,५०,६।

७. ऋक् ४, ३,७; ५,८२,४।

८. ऋक् १०,३७,७।

९. ऋक् ७,९६,६।

१०. ऋक् ३,५४,८; ९,६८,१०; १०,३६,३।

११. ऋक् ५,६९,३।

१२. ऋक् ७,३४,२०।

१३. ऋक् १०,८५,४३।

१४. ऋक् १,१११,२; ४,३६,९।

१५. ऋक् १०,१५,११।

१६. ऋक् ५,४६,७।

१७. ऋक् ७,४१,७; ७५,८।

दक्षिणा के प्रतिदान-स्वरूप सन्तान-प्राप्ति का आशीर्वाद देता था।[1] ऋषि वसिष्ठ इन्द्र से प्रार्थना करता है :

इषं पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

ऋक् ७, २४, ६; २५, ६।

'हमारे मघवाओं के लिये उत्तम वीरों वाला अन्न लाओ और तुम हमारी कल्याणों द्वारा रक्षा करो।'

ऋषि वसूयव आत्रेय अग्नि की स्तुति करता हुआ कहता है :

अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे। ऋक् ५, २५, ५।

'अग्नि दानी यजमान को पराजित न होने वाला, यशस्वियों का स्वामी पुत्र देता है।'

सोमाहुति भार्गव ऋषि भी अग्नि से अपने लिये तथा अपने यजमानों के लिये ऐसे अन्न की कामना करता है जिससे वे उत्तम वीरों से युक्त होवें तथा शत्रुओं को जीत सकें :

सुवीरासो अभिमातिषाहः स्मत्सूरिभ्यो गृणते तद्वयो धाः।

ऋक् २, ४, ९।

ऋग्वेद-काल में विवाह का मुख्य उद्देश्य वैध पुत्रों की प्राप्ति था। इसलिये नव-वधू को 'वीरसू' होने का आशीर्वाद दिया जाता था।[2] इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि इन्द्र नववधू को सुपुत्रा तथा सुभगा बनावे और उसमें १० पुत्रों को जन्म देवे।[3] नवदम्पती के लिये भी यही कामना की गई है कि वे पुत्र पौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए अपने घर में प्रसन्न रहें और कभी वियुक्त

---

१. उत्तरकाल में भी पुत्र-प्राप्ति के आशीर्वाद की प्रवृत्ति देखी गई है। देखिये, रघुवंश (५, ३४); अभिज्ञानशकुन्तल (४, ७)। उत्तररामचरित नाटक में वसिष्ठ और ऋष्यश्रृङ्ग ने सीता को पुत्रवती होने का ही आशीर्वाद दिया है (अङ्क १)। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ वधुओं को चरण-स्पर्श करने पर अब भी 'दूधो नहाओ, पूतों फलो' शब्दों से आशीर्वाद देती हैं।

२. वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।

ऋक् १०, ८५, ४४।

३. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि। ऋक् १०,८५,४५।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति। ऋक् १०,८५,२५।

न होवें।[1] यजमान और यजमान-पत्नी को भी सन्तान द्वारा वृद्धि करने का आशीर्वाद दिया जाता था।[2] पत्नियों के समीप आने का फल सन्तान-प्राप्ति ही समझा जाता था, इसलिये त्वष्टा से प्रार्थना की गई है: 'जब पत्नियाँ हमारे समीप आवें तो शोभन करों से युक्त त्वष्टा वीर पुत्र धारण करे।[3]

४. सन्तान की कामना के कारण

ऋग्वेद में आये सन्तान-कामना के प्रसङ्गों का निर्देश किया जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि सन्तान की कामना की प्रबल इच्छा का कारण क्या है? ऋग्वेद में ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, जिनसे ऋग्वैदिक आर्य लोगों की सन्तान-कामना के कारणों पर प्रकाश पड़ता है।

यह निर्विवाद है कि जिन प्राकृतिक एवम् मनोवैज्ञानिक कारणों से अन्य जातियों में सन्तान-प्राप्ति के लिये उत्कट अभिलाषा एवम् आतुरता पाई जाती है, ऋग्वैदिक आर्य भी उन कारणों से सन्तान के लिये आतुर रहे होंगे। सन्तान, और विशेष कर पुत्र, की तीव्र अभिलाषा के मुख्य कारण जीवशास्त्रीय तथा मनोवज्ञानिक भावनायें, सामाजिक एवम् आर्थिक सुरक्षा तथा पुत्र द्वारा ऋण-मुक्ति, अमरत्व-प्राप्ति आदि धार्मिक विश्वास हैं।

(अ) **जीवशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक**—प्रजनन और जाति संरक्षण की भावना सभी प्राणियों तथा सभी जातियों में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। यह भावना ऋग्वैदिक आर्यों में भी अवश्य रही होगी। इसीलिये तो ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर सन्तान की कामना की गई है और देवताओं से सन्तान की प्रार्थना की गई है।

आत्म-संरक्षण तथा मातृत्व-पितृत्व की भावना भी सन्तान की अभिलाषा उत्पन्न करती है। ऋग्वैदिक आर्यों को यह विश्वास था कि मनुष्य सन्तान द्वारा फिर से नया जन्म धारण कर लेता है और अनेक रूप हो जाता है।

---

१. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ऋक् १०, ८५, ४२।

२. इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे।
ऋक १०, १८३, १।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे।
ऋक् १०, १८३, २।

३. आ यन्नः पत्नीर्गमन्त्यच्छा त्वष्टा सुपाणिर्दधातु वीरान्।
ऋक् ७, ३४, २०।

उत्तर-कालीन वैदिक साहित्य में तो यह विश्वास बहुत ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है,[1] यहाँ तक कि पुत्र को आत्मरूप माना गया है।[2] ऋग्वेद २, ३३, १ में रुद्र से कामना की गई है कि हम प्रजा द्वारा अनेक हो जायें।[3] इसी प्रकार, यह विश्वास प्रकट किया गया है कि जो हवि प्रदान करके देवों को अनुकूल कर लेता है अथवा देव जिस पर अनुग्रह करते हैं, वह मनुष्य धर्मानुसार उत्पादित सन्तान द्वारा अनेक-रूप हो जाता है अथवा नूतन जन्म धारण कर लेता है।[4]

सम्पत्ति भी सन्तान की कामना का एक कारण है। मनुष्य अपने परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति का स्वयं उपभोग करना चाहता है और उस पर अपना एकाधिकार बनाये रखना चाहता है। वह चाहता है कि उसके द्वारा उपार्जित सम्पत्ति का उपभोग अन्य न करें। वह सन्तान को आत्मरूप समझता है, इसलिये अपना उत्तराधिकारी पाने के लिये मनुष्य उतावला बना रहता है। सन्तान के द्वारा कुल की वृद्धि भी होती है,[5] कोई मनुष्य अपने कुल को नष्ट हुआ नहीं देखना चाहता, इसलिये भी सन्तान की उत्कट अभिलाषा देखी जाती है। पितृपक्षीय परिवार वाले समाजों में क्योंकि सम्पत्ति का उत्तराधि-कारी पुत्र होता है और कुल का नाम भी केवल पुत्र ही चलाता है, इसलिये ऐसे समाजों में विशेषतः पुत्र की प्रबल इच्छा होना स्वाभाविक है।

नन्हें बच्चों की भोली क्रीडा, अबोध शरारतों तथा तोतली बोली में माता-पिता तथा प्रेक्षकों को जो सुख मिलता है और जिसका महाकवि

---

१. पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। ऐत० ब्रा० ७, १३।
तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। गो० ब्रा० १, २।

२. आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्। शत० ब्रा० १४, ६, ४, २६; आत्मासि पुत्र मा मृथाः। सा० म० ब्रा० १, ५, १८।

३. प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः। ऋक् २, ३३, १।

४. प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
ऋक् ६,७०,३; ८,२७,१६; १०,६३,१३।

५. सन्तान के लिये प्रयुक्त 'तनय' शब्द की प्रवृत्ति का हेतु यही भावना है।

कालिदास ने अपने नाटक में संकेत किया है,[1] वह सुख भी सन्तान की प्रबल कामना का एक महान् कारण है। भवभूति ने सन्तान को आनन्द की ग्रन्थि कहा है।[2] बच्चों के प्रति प्रेम की भावना आदिम और असभ्य जातियों में भी पाई जाती है,[3] यद्यपि कुछ मानव-समाज-शास्त्रियों का विचार है कि जंगली जातियों में बच्चों के प्रति उस प्रेम-भावना की कल्पना नहीं की जा सकती, जो सभ्य जातियों में पाई जाती है। कुछ भी हो, ऋग्वेद-काल में बच्चे विशेषकर पुत्र एक अलौकिक एवम् उदात्त सुख के स्रोत समझे जाते थे। ऋषि पराशर प्रज्वलित हुए यज्ञ-अग्नि को देखकर ऐसे हर्षित हो उठता है, जैसे घर में जन्म लेने वाले आनन्दित करने वाले पुत्र को देखकर :

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।

ऋक् १, ६९, ३।

'घर में उत्पन्न, आनन्दित करने वाले पुत्र के समान, तथा प्रसन्न बलवान् अश्व के समान, अग्नि प्रजा (विशः) को धारण करता है।'

ऋग्वेद १, १६६, २ में औरस पुत्र को मधु के समान कहा गया है। ऋषि अगस्त्य मैत्रावरुण मरुतों की स्तुति में कहता है कि रुद्र के पुत्र मरुत यज्ञ में मधु को धारण करके ऐसे प्रसन्न होकर क्रीडा कर रहे हैं, मानो उन्होंने अपना पुत्र (नित्य सूनु) अङ्क में धारण किया हुआ हो।[4]

ऋषि उत्कील कात्य अग्नि से प्रार्थना करता है कि अग्नि उसके द्वारा विरचित स्तोम (स्तुति) का इस प्रकार आनन्द लेवे जैसे मनुष्य अपने औरस पुत्र में आनन्द लेता है :

जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात।[5]

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में अग्नि की स्तुति करते हुए उसे औरस पुत्र

१. आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचोप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति॥
अभिज्ञानशाकुन्तल ७, १७।

२. अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥ उत्तररामचरित ३, १७।

३. *E. R. E.*, Vol. 3, S. V. Children (American).

४. नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उपक्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः।

५. ऋक् ३, १५, २।

के समान कहा गया है ।[1] इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों में पुत्र महान् आनन्द और सन्तोष का स्रोत था । ऋग्वेद-काल में पुत्र और विशेष कर गुणशाली पुत्र का पिता होना बड़े गर्व की बात समझी जाती थी । किसी को नाम लेकर सम्बोधन करने की अपेक्षा 'अमुक का पिता' सम्बोधन करना अधिक प्रिय तथा आदरपूर्ण सम्बोधन समझा जाता था ।[2] ऋषि कौत्स आङ्गिरस ने रुद्र की स्तुति में रुद्र को इसी प्रकार निर्दिष्ट किया है :

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् ।

ऋक् १, ११४, ६ ।

'मैं मरुतों के पिता रुद्र के लिये स्वादु से स्वादुतर और वृद्धि करने वाला वचन कहता हूँ ।'

पुत्र के सद्गुणों और उत्तम कार्यों से पिता के अहम्भाव की सन्तुष्टि होती थी, इसलिये भी पुत्र की कामना की जाती थी । ऋषि दीर्घतमा ने इसी दृष्टि से द्यावा-पृथ्वी की स्तुति उनके पुत्र सूर्य के गुणों एवम् कार्यों का वर्णन करके की है :

स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान्पुनाति धीरो भुवनानि मायया ।

ऋक् १, १६०, ३ ।

'इन माता-पिता (द्यावा-पृथ्वी) का वह प्रशंसनीय, पावन, बुद्धिमान् पुत्र अपनी माया से भुवनों को पवित्र करता है ।'

इसी प्रकार ऋक् १, १५९, १ में द्यावा-पृथिवी की 'देवपुत्रे' (देव जिनके पुत्र हैं अर्थात् जो देवों के माता-पिता हैं) कहकर स्तुति की गई है ।[3] इसी तरह बलवान् इन्द्र को जन्म देने के कारण इन्द्र के माता-पिता का प्रशंसा के रूप में उल्लेख किया गया है ।[4]

(आ) सामाजिक तथा राजनैतिक— ऋग्वेद-कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ भी ऐसी थीं जिनमें केवल उसी मनुष्य का जीवन तथा सम्पत्ति सुरक्षित रह सकती थी, जिसके अपनी वीर सन्तानें थीं । उस

---

१. रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः ।

ऋक् १, ६६, १ ।

२. स्त्रियाँ आजकल भी अपनी पीढ़ी की स्त्रियों और पुरुषों को 'अमुक की माता' या 'अमुक के पिता' आदि शब्दों से सम्बोधन करती हैं ।

३. देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंससेत्था धिया वार्याणि प्रभूषतः ।

४. वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव । ऋक् ७,२०,५ ।

समय प्रत्येक परिवार को अपनी तथा अपने धन, गौ, अश्व तथा कृषिभूमि की रक्षा स्वयं करनी होती थी। उस समय सांस्कृतिक दृष्टि से ऋग्वैदिक आर्य शासन-तन्त्र (State) की अवस्था तक नहीं पहुँचे थे। 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने लिखा है कि (वैदिक-काल में) राजा अथवा प्रजा में निहित संगठित दण्ड-व्यवस्था का कोई चिह्न नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी वीर-शुल्क (wergeld) की प्रथा प्रचलित थी, जिससे प्रकट होता है कि दण्ड-व्यवस्था उनके हाथों में थी, जिनके प्रति अपराध किया जाता था।[१] वसिष्ठधर्मसूत्र ३, १५ के अनुसार आततायी को मारकर मारने वाले को पाप नहीं लगता।[२] आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं का प्रतिरोध करने के लिये समान रक्त वाले अथवा समीपवर्ती परिवार परस्पर संघ बना लेते थे। वेतन-भोगी सैनिक संस्था का उस समय तक प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। इसलिये संकट के समय, जिनकी प्रायः बहुलता रहती थी, वीर सन्तान ही एकमात्र आश्रय हो सकती थी।[३] वृद्धावस्था में अपने आश्रित स्त्रियों—पत्नी, पुत्री आदि—तथा धन-सम्पति की रक्षा करने में अशक्त तथा भोजन सामग्री जुटाने में असमर्थ पिता केवल शक्तिशाली पुत्रों पर ही आश्रित रह सकता था। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक असुरक्षा और वृद्धावस्था का विचार भी पुत्र की प्रबल कामना का एक मुख्य कारण था।[४] ऋग्वेद में ऐसे अनेक संकेत आये हैं जिनसे पुत्र की इस दृष्टि से महत्ता प्रकट होती है। शत्रुओं का प्रतिरोध करने तथा उन्हें पराजित करने में पुत्र महान् संबल थे। इन्द्र की स्तुति में कहा गया है : 'अपने पुत्रों के समान, रुद्र के पुत्रों (मरुतों) से शक्तिशाली इन्द्र पराक्रमपूर्ण युद्धों में शत्रुओं को जीत लेता है।'[५] वीर पुत्रों की अजेय शक्ति पर सर्वदा विश्वास रखा जा सकता था। ऋग्वेद ५ ४४,६ में वीर पुत्रों से प्राप्त होने वाले बल को कभी असफल न होने

---

१. *Vedic Index*, I, 391.

२. आततायिनं हत्वा नात्र प्राणच्छेत्तुः किञ्चित् किल्विषमाहुः।

३. ऋग्वेद १०,४५,१० में कहा गया है कि जो यज्ञ करता है वह अग्नि और सूर्य का प्रिय हो जाता है और वह पुत्र द्वारा तथा उत्पन्न होने वाले पुत्रों द्वारा शत्रु को जीत लेता है। (देखिये सायणभाष्य तथा गेल्डनर कृत ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद। ग्रिफिथ ने इसकी तनिक भिन्न प्रकार से व्याख्या की है)।

४. Cf. Mayne, J. D. : *A Treatise on Hindu Law and Usage* (2nd ed., 1880) p. 58.

५. स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान्। ऋक् १,१०० ५,।

वाला कहा गया है।[१] ऋग्वेद में यज्ञ-अग्नि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए अग्नि को माता-पिता से उत्पन्न ऐसा पुत्र कहा गया है जो रक्षा तथा कामना करने योग्य है और पिता की वृद्धि करने वाला है।[२] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ऋग्वैदिक पिता अपने पुत्रों को रक्षा तथा कामना करने योग्य समझते थे और उन्हें विश्वास था कि पुत्र उनकी वृद्धि के कारण हैं।

(ई) **आर्थिक**—पुत्र केवल वंश की वृद्धि तथा शत्रुओं से रक्षा करने वाला ही नहीं था। उसकी आर्थिक महत्ता भी थी। पुत्र सम्पत्ति के उपार्जन में भी पिता की सहायता करता था। वह कृषि के लिये नई भूमि तोड़ने तथा शत्रुओं की कृषि-भूमि को हस्तगत करने में भी अपने पिता की सहायता करता था और जो शत्रु उसके पिता तथा कबीले की कृषिभूमि तथा पशुओं का अपहरण करने का प्रयत्न करते थे, उन्हें नष्ट करने में भी सहायता करता था। ऋग्वेद ६,२०,१ में अग्नि से ऐसा धन देने की प्रार्थना की गई है जो सहस्रों कृषि-भूमियों को लाने वाला तथा शत्रु का संहार करने वाला होवे।[३] यह स्पष्ट है कि ऐसा धन पुत्र ही हो सकता था। ऋग्वैदिक आर्य केवल विजय या रक्षा के लिये ही युद्ध नहीं करते थे, अपितु पार्श्ववर्ती प्रदेशों में लूटमार करने के लिये भी बहुत अधिक आक्रमण करते रहते थे।[४] ऋग्वेद ७,५६,२४ में मरुतों से ऐसा बलवान् पुत्र देने की प्रार्थना की गई है जो शत्रुओं का संहारक (विधर्ता) हो और जिसकी सहायता से निवासार्थ सुन्दर भूमि प्राप्त करने के लिये जलों को पार कर सकें और मरुतों के सम्मुख अपने घर में (स्वमोकः) रह सकें।[५] एक अन्य स्थान पर सोम से प्रार्थना की गई है कि उत्तम वीर पुत्रों से युक्त हम धन जीतें।[६]

ऋग्वैदिक आर्य शरीर से बलिष्ठ, खाने पीने के शौकीन और युद्ध में

---

१. बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः।

२. आ साच्यं कुपय वर्धनं पितुः। ऋक् १,१४०,३।

३. तं नः सहस्रभरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम्।

४. *Vedic Index*, II, 417; Majumdar (Dr.) B. K. : *The Military System in Ancient India*, p. 24.

५. अस्मे वीरो मरुतः शुष्म्यस्तु जनानां यो असुरो विधर्ता।
अपो येन सुक्षितये तरेमाध स्वमोको अभि वः स्याम॥

६. सुवीरासो वयं धना जयेम सोम मीढ्वः। ऋक् ९,६१,२३।

उत्साही तथा प्रवीण थे और गौ आदि पशु विजय करने की उनके हृदय में प्रबल कामना थी।[1] वे सर्वदा युद्धों में विजय प्राप्त करके ही धन प्राप्त करना चाहते थे। जिस धन को वह युद्ध करके जीत न लेते थे, उसे वह पराया समझते थे और पराये धन से उन्हें बड़ी घृणा थी।[2] वह देवों से ऐसी सहायता की अपेक्षा करते थे जिससे वीर पुत्रों द्वारा उत्पन्न धन प्राप्त कर सकें। ऋग्वेद १०,३६ ११ में ऋषि लुश धानाक ने विश्वेदेवों (विश्वेदेवाः) से ऐसी ही प्रार्थना की है :

महदद्य महतामा वृणीमहेऽवो देवानां बृहतामनर्वणाम् ।
यथा वसु वीरजातं नशामहै तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ।।

'हम आज महान्, उदात्त तथा शत्रुरहित देवों के महान् प्रसाद की आकांक्षा करते हैं। आज हम देवों के उस अनुग्रह की कामना करते हैं जिससे वीर पुत्रों से उत्पन्न धन को प्राप्त कर सकें।'[3]

(उ) **धार्मिक विश्वास**—पुत्र की प्रबल कामना का एक अन्य कारण कुछ धार्मिक विश्वास थे। उत्तर वैदिक काल में तो पुत्र को नरक से बचाने वाला माना जाने लगा था और पुत्र को अनेक प्रकार से रक्षा करने वाला समझा जाता था।[4] ऋग्वेद के प्राचीन माने जाने वाले भाग में भी पत्र को 'ऋणच्युत्' (ऋण से मुक्त करने वाला) कहा गया है। ऋषि भारद्वाज बार्हस्पत्य सरस्वती की स्तुति में कहता है :

इयमददाद्रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे। ऋक् ६,६१,१।

'इस (सरस्वती) ने दाता वध्र्यश्व को शक्तिशाली और ऋण-मोचक दिवोदास प्रदान किया।'

इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार के लोग अति प्राचीन काल से वीर-पूजक तथा पितृ-पूजक थे। ऋग्वैदिक आर्य भी अपने पूर्वजों (पितरः) की देवों के समान पूजा करते थे और उन्हें देवों के सदृश ही कल्याणकारी तथा दिव्य-शक्ति-सम्पन्न समझते थे। इसलिए पितृ-पूजा करना तथा उसे आगे जारी रखना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। कदाचित् पुत्र को 'ऋणच्युत्' कहने का

---

१. Will Durant : *The Story of Civilization*, Vol. I, p. 397.

२. ऋक् ५,७०,४।

३. Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. IV, p. 175.

४. गो० ब्रा० १,२; निरुक्त ३,११ (ऊपर पृ० १४२ पर उद्धृत)।

अभिप्राय 'पितृ-ऋण से मुक्ति दिलाने वाला' भी रहा हो,[1] जैसा कि उत्तर काल में पाया जाता है।[2] इतना निश्चित है कि पति द्वारा पत्नी के आलिङ्गन से प्रसूत फल पितरों के लिए सुन्दर उपहार समझा जाता था। ऋषि घोषा काक्षीवती[3] अश्विनौ की स्तुति करते हुए कहती है :

वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे।

ऋक् १०,४०,१०।

'जब पत्नियों ने पतियों को आलिङ्गन का सुख दिया तो पतियों ने पितरों को कामना करने योग्य उपहार (पुत्र) दिया।'[4]

सम्भवतया ऋग्वेद के अर्वाचीन भाग में सन्तानोत्पादन को 'तृतीय कर्म' अर्थात् तृतीय आवश्यक धार्मिक कृत्य के रूप में समझा जाने लगा था। सायण के अनुसार प्रथम और द्वितीय कर्म ब्रह्मचर्य और यज्ञ थे।[5]

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्॥

ऋक् १०,५६,६।

'पितरों ने (पूर्व पीढ़ी या देवों की दृष्टि से पुत्रों ने) प्रकाश को प्राप्त करने वाले असुर (अग्नि) को दो प्रकार स्थापित किया। पितरों ने तृतीय कर्म (सन्तानोत्पादन) द्वारा अपनी सन्तान के रूप में पैतृक दाय पृथिवी पर रखा और तन्तु (सन्तान परम्परा) को अविच्छिन्न किया।'[6]

---

१. लेकिन ऋग्वेद में ऋण का यह अभिप्राय निश्चित नहीं है।

२. तैत्ति० सं० ६,३,१० (ऊपर पृ० १३६ पा० टि० १ में उद्धृत); मनुस्मृ० ६,३५ इत्यादि।

३. परम्परा के अनुसार घोषा राजकन्या थी (ऋक् १०,४०,५), जो किसी पापरोग से पीडित होने के कारण विवाह योग्य अवस्था हो जाने पर भी अविवाहित रही। घोषा ने २ सूक्तों (ऋक् १०,३९;४०) द्वारा अश्विनौ की स्तुति करके पति प्राप्त किया था और सुहस्त्य नामक पुत्र को जन्म दिया था जो ऋक् १०,४१ का ऋषि कहा जाता है। (बृहद्देवता, ७,४२--४८)।

४. मिलाइये, सायणभाष्य तथा ग्रिफ़िथकृत ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद।

५. सायणभाष्य, ऋक् १०,५६,६।

६. यह भाषान्तर ग्रिफिथ के आधार पर किया गया है। सायण ने 'सूनवः' का अर्थ 'आदित्यस्य पुत्रा देवा अङ्गिरसः' किया है। लेकिन 'तृतीयेन कर्मणा' के अर्थ के विषय में सायण भी सहमत है।

ऋग्वेद ९,७५,२ में सोम की स्तुति में कहा गया है कि पुत्र द्यौ के दीप्यमान स्थान में माता-पिता का तृतीय गुप्त नाम धारण करता है।[1] सम्भवतया ऋग्वैदिक आर्यों को यह विश्वास था कि पुत्र माता-पिता के लिये गुप्त नाम से द्यौ में स्थान सुरक्षित कर देता है। ऋग्वेद १,१५५,३ में भी लगभग इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है।[2]

पुत्रों की कामना का एक अन्य कारण यह विश्वास था कि सन्तान के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति होती है। यह विश्वास ऋग्वेद में कई ऋचाओं में अभिव्यक्त हुआ है। गार्हपत्य अग्नि को, जो कि घर में सर्वदा प्रज्वलित रहता था, मनु की सन्तान का होता और उनकी सम्पत्ति का स्वामी कहा गया है और यह विश्वास प्रकट किया गया है कि अग्नि के अनुग्रह से सब लोग अपने शरीर में पुत्र को उत्पन्न करने वाला वीर्य प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार प्रजोत्पादन रूप कर्म द्वारा चिरकाल तक जीवित रहते हैं।[3] ऋग्वेद ५,४,१० में अग्नि जातवेदस् से यश तथा प्रजा द्वारा 'अमृतत्व' प्राप्त करने की कामना की गई है :

'हे जातवेदस्, हमारे में यश का आधान कर। हे अग्नि, मैं सन्तान द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करूँ।'[4]

५. पुत्री की अपेक्षा पुत्र की अधिक आकांक्षा

ऋग्वेद में सामान्यतया प्रजा या अपत्य की कामना की गई है। प्रजा या अपत्य से पुत्र और पुत्री दोनों का ग्रहण होता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्य पुत्री की अपेक्षा पुत्र की अधिक कामना करते थे। क्योंकि पितृ-सत्ताक समाजों में वंश को चलाने वाला तथा कुल की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है। फिर, ऋग्वैदिक आर्य योद्धा थे, उन्हें निरन्तर युद्ध करने पड़ते थे। इन युद्धों में पुत्रियों की अपेक्षा पुत्र अधिक उपयोगी होते थे। पुत्र का धनोपार्जन की दृष्टि से भी अधिक महत्त्व था। यद्यपि ऋग्वेद में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है जिससे पुत्रियों के प्रति घृणा या कृपणता का भाव प्रकट हो, साथ ही कोई ऐसा भी उदाहरण नहीं है जिसमें विशेषकर पुत्री की कामना की गई हो।

---

१. दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं नाम तृतीयमधि रोचने दिवः।

२. दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः।

३. होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पती रयीणाम्।
इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु सं जानत स्वैर्दक्षैरमूराः॥ ऋक् १,६८,४।

४. जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।

परन्तु ऋग्वेद में ऐसे प्रसंगों का बाहुल्य है जिनमें 'पुत्र'[1] या 'वीर'[2] की कामना की गई है अथवा पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया गया है। ऋग्वेद में 'वीर' शब्द पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह पूर्व प्रदर्शित किया जा चुका है। उत्तर वैदिक युग में तो स्पष्ट रूप से कन्या को कृपण (कष्ट) कहा गया है।[3] अथर्ववेद में पुरुष गर्भ के स्त्री गर्भ में परिवर्तित न होने की कामना की गई है।[4]

६. पुत्र-प्राप्ति के उपाय

ऊपर यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि ऋग्वैदिक आर्य सन्तान, विशेषकर पुत्र के लिए कितने लालायित रहते थे। पुत्र-लालसा के कारणों पर भी विचार किया जा चुका है। ऋग्वैदिक आर्य 'अवीरता' (पुत्र रहित होने) को महान् दुःख समझते थे और अग्नि से प्रार्थना करते थे कि उन्हें यह दुःख न दे।[5] वह 'नित्य सूनु'[6] 'तनू-तोक'[7] या 'नित्य तनय'[8] अर्थात् अपने शरीर से उत्पादित (औरस) पुत्र की अभिलाषा रखते थे। लेकिन यदि उनकी यह अभिलाषा सामान्य विधि से पूर्ण न होती थी तो स्तुति तथा पूजा द्वारा देवों को अनुकूल करके अपनी कामना पूर्ण करने का प्रयत्न करते थे। उनका यह विश्वास था कि देवों की अप्रसन्नता के कारण ही धन तथा सन्तान का अभाव होता है। जो देवों की पूजा नहीं करते हैं, उनके वीर सन्तान नहीं होती हैं।[9] उन्हें देवों की दिव्य और अद्भुत शक्ति में अगाध विश्वास था, इसलिए वे पुत्रों की प्राप्ति के लिए देवों की स्तुति करते थे। अश्विनौ के अनुग्रह से वध्रि (नपुंसक) की पत्नी ने भी हिरण्यहस्त नाम का

---

१. ऋक् १,१६२,२२; ५,२५,५; ६; १०,८५,४५; इत्यादि।

२. ऋक् ६,१६,२६; ७,४,६; ८,६८,१०; ६,६७,४४; १०,८५,४४ इत्यादि।

३. कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्। ऐत० ब्रा० ७,१३।

४. पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्। अथर्व० ८,६,२५।

५. मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः। ऋक् ३,१६,५।

६. आयुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः। ऋक् १,६६,१।

७. त्वं सोम सूर एषस्तोकस्य साता तनूनाम्। ऋक् ६,६६,१८।

८. मा त्वे सचा तनये नित्य आ धक्। ऋक् ७,१,२१।

९. अयन्मासा अयज्वनामवीराः। ऋक् ७,६१,४।

पुत्र प्राप्त किया था, जिसका ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों में उल्लेख हुआ है।[1]

कदाचित् ऋग्वैदिक आर्यों को सन्तान के प्रजनन में भोजन की पोषण-शक्ति के सम्बन्ध का भी ज्ञान था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर देवों से 'वीरवती इष्' (अर्थात् पुत्रों वाले अन्न) की कामना की गई है।[2] इसी प्रकार मरुतों की स्तुति में कहा गया है :

'(मरुत्) प्रजा की कामना से स्तुति करने वाले को अन्न देवें।'[3]

ऋग्वैदिक आर्य पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म भी करते थे। उन्हें विश्वास था कि यज्ञ न करने वाले वीर पुत्रों के बिना ही अपना समय व्यतीत करते हैं और जो यज्ञ से प्रेम करता है वह अपने वृजन (गृह) को स्थायी कर लेता है।[4] पुत्र की कामना करने वाले लोग बहुत दान पुण्य करते थे और पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद प्राप्त करते थे।[5]

ऋग्वैदिक आर्य पुत्र-प्राप्ति के लिए औषधोपचार तथा जादू और टोना-टोटका अवश्य करते होंगे, यद्यपि ऋग्वेद में इसके स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं।

यदि देव-पूजा, यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म तथा मन्त्र और टोने-टोटके करने पर भी किसी को सन्तान का दर्शन न होता था, तो वह कानूनी कृत्रिमता (legal fiction) द्वारा पुत्र का पिता बन सकता था।

७. पुत्रों के अनेक प्रकार और समाज में उनका स्थान

ऊपर यह देखा गया है कि ऋग्वैदिक आर्य अपने से उत्पन्न पुत्र की कामना करते थे परन्तु उनमें पुत्र का पिता होने की भावना इतनी प्रबल थी कि यदि वे स्वाभाविक रीति से पुत्र के पिता नहीं बन पाते थे तो पुत्र का पिता बनने के लिये कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करते थे। इसलिए यह आवश्यक नहीं

---

१. श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्।
ऋक् १,११६,१३।

अश्विनौ के इस आश्चर्य कर्म का ऋक् १,११७,२४; ६,६२,७ तथा १०,३९,७ में भी उल्लेख हुआ है।

२. उदाहरणार्थ, स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम्॥ ऋक् १,१२,११।

३. उत प्रजायै गृणते वयो धुः। ऋक् ७,३६,९।

४. देखिए, पाद टिप्पणी ९ (पूर्व पृष्ठ पर)।

५. पुत्रीयन्तः सुदानवः। ऋक् ७,९६,४।

था कि पुत्र अपने पिता से ही उत्पन्न हो[1] अथवा अपने पिता की पत्नी में उत्पन्न हुआ हो।[2] कानूनी कृत्रिमता द्वारा कोई पुत्र उसके जनक-जनयित्री का न होकर किसी ऐसे अन्य पुरुष का हो सकता था, जिसके अधिकार में उसे कर दिया जाता था, अथवा, यदि वह स्वतन्त्र हुआ तो वह स्वयं जिसके अधिकार में रहना चाहता था।[3] इसलिए यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक-काल में तथा उत्तरवर्ती काल में भी पुत्रत्व का विवाह से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं था।[4]

ऋग्वैदिक आर्यों में पुत्र अनेक प्रकार से प्राप्त किये जाते थे। कुछ पुत्र अपने पिता द्वारा पिता की विवाहित पत्नी में उत्पन्न होते थे। कुछ पिता द्वारा या उसके अभाव में निकट सम्बन्धी या गुरु द्वारा नियुक्त पुरुष से उसकी पत्नी में उत्पन्न किये जाते थे और कुछ पुत्र ऐसे होते थे जो न स्वयं पिता द्वारा उत्पन्न होते थे और न ही पिता की पत्नी में उत्पन्न होते थे। धर्मसूत्रों में तथा स्मृतिग्रन्थों में पुत्रों के प्रकार का अति सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हम यहाँ धर्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित पुत्रों के प्रकार का अति संक्षिप्त कथन करके यह प्रदर्शित करेंगे कि ऋग्वेद-काल में सामाजिक परिस्थितियों के भिन्न होने के कारण पुत्रों के धर्मशास्त्र में प्रतिपादित कौन-कौन प्रकार प्रचलित नहीं थे और किन प्रकारों का किसमें समावेश हो जाता है। ऋग्वेद में पुत्रों के जिन प्रकारों का कोई संकेत है, उनका विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

धर्मशास्त्रों में बारह प्रकार के पुत्र माने गये हैं।[5] मनुस्मृति में भी बारह

---

१. जैसे क्षेत्रज पुत्र किसी पुरुष की पत्नी में उसके छोटे भाई अथवा किसी अन्य पुरुष द्वारा उत्पन्न होता था, वह पुरुष ऐसी सन्तान का पिता केवल इसलिये होता था, क्योंकि वह उसकी स्त्री (क्षेत्र) में उत्पन्न हुई है, जिसका वह स्वामी है।

२ दत्तक या क्रीत पुत्र न स्वयं पिता द्वारा उत्पन्न होता था, न उसकी पत्नी में उत्पन्न होता था, प्रत्युत अन्य युगल के पुत्र को उनके सौजन्य अथवा धन द्वारा प्राप्त करके अपना पुत्र बना लिया जाता था।

३. वसिष्ठधर्मसूत्र (१७,३४;३५) में शुनःशेप को विश्वामित्र का 'स्वयंदत्तक पुत्र' कहा गया है।

४. मेन (Mayne) का विचार है कि धर्मशास्त्रों के काल में पुत्रत्व और विवाह में कोई सम्बन्ध नहीं था। (*A Treatise on Hindu Law and Usage*, p. 56)।

५. द्वादश इत्येव पुत्राः पराणदष्टाः। वसिष्ठधर्मसूत्र १७,१२।

प्रकार के पुत्र कहे गये हैं[1], परन्तु मनु ने पुत्रिका-पुत्र का अलग से विवेचन किया है[2], इसलिए मनुस्मृति के अनुसार वस्तुतः पुत्र तेरह प्रकार के होते हैं।[3] जॉन डी० मेन ने प्राचीन लेखकों द्वारा स्वीकृत पुत्रों के भेद निम्न प्रकार दिये हैं[4] :—

(१) औरस (२) पुत्रिका-पुत्र (३) क्षेत्रज (४) गूढज (५) कानीन (६) सहोढ (७) पौनर्भव (८) निषाद या पारशव (९) दत्तक, दत्रिम (१०) कृत्रिम (११) क्रीतक (१२) अपविद्ध (१३) स्वयंदत्त।

ऋग्वेद-काल में पुत्रों के इन भेदों में से केवल (१) औरस (२) पुत्रिका-पुत्र (३) क्षेत्रज (४) गूढज (५) कानीन (९) दत्तक और (१२) अपविद्ध ये सात भेद ही स्वीकार किये जा सकते हैं। ऋग्वेद-कालीन समाज में धर्मशास्त्रों के पौनर्भव और निषाद या पारशव पुत्र वस्तुतः औरस पुत्र थे। पौनर्भव पुत्र का पृथक् भेद समाज में उस समय प्रचलित हुआ होगा जबकि विधवा स्त्री के पुनर्विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। पिशल (*Vedische Studien* 1,27) के अनुसार ऋक् ६,४९,८ में इस बात का कुछ-कुछ प्रमाण है कि पति के लुप्त हो जाने पर यदि वह मिलता नहीं था और उसके विषय में कोई समाचार ज्ञात नहीं होता था तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी।[5] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह ऋक् बहुत ही अस्पष्ट है। परन्तु इसमें पूषा के काम से प्रेरित होने पर सूर्य के समीप जाने की बात अवश्य कही गई है। इस बात का स्पष्ट संकेत ऋक् ६,५८,३; ४ में भी किया गया है। लेकिन ऋग्वेद के काल में विधवा का पति के छोटे भाई से विवाह होना सम्भवतः सामान्य प्रथा थी, जैसा कि ऋक् १०,१८,८ और १०,४०,२ से अनुमान किया जा सकता है। यास्क द्वारा की गई 'देवर' शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही प्रकट होता है।[6] धर्मसूत्रों में ब्राह्मण से शूद्रा में अनुलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र को निषाद तथा रखैल शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को

---

१. मनु० ९, १५८—६०।

२. मनु० ९, १२०।

३. धर्मशास्त्रों में गौण पुत्रों के स्वरूप, संख्या, क्रम तथा स्वत्वों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। देखिए, हरिदत्त वेदालङ्कार : हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ४६१—६५।

४. *A Treatise on Hindu Law and Usage*, p. 56.

५. *Vedic Index*, I, 478.

६. देवरः कस्माद् द्वितीयो वरो भवतीति। निरुक्त ३,१५।

पारशव कहा गया है।[१] परन्तु यह सर्वविदित है कि ऋग्वेद-काल में आर्य लोग उत्तर काल के समान भिन्न-भिन्न वर्णों में विभक्त नहीं थे और विवाह के विषय में वर्ण का विचार नहीं किया जाता था। बृहद्देवता[२] के अनुसार कक्षीवान् दासी से उत्पन्न हुआ था, लेकिन वह ऋग्वेद के सूक्तों का ऋषि माना गया है,[३] और अंगदेश के राजा से सम्बन्ध होने के कारण उसे राजर्षि भी माना गया है।[४] तैत्तिरीय तथा काठक संहिता में वह पूर्वकाल के प्रसिद्ध महान् पुरुषों में गिना गया है, जिन्होंने यज्ञ करके अनेक पुत्र प्राप्त किये थे।[५] ऋग्वेद में आर्यों का चार वर्णों में विभाजन केवल पुरुष-सूक्त (ऋक् १०,९०) में पाया जाता है जो कि ऋग्वेद के अर्वाचीनतम भागों में माना जाता है।[६] डा० म्यूर का मत है कि पुरुष-सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद के किसी भी सूक्त में कोई ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिसमें चार वर्णों की प्रथा स्वीकार की गई हो।[७]

धर्मसूत्रों के दत्तक, कृत्रिम, क्रीतक और स्वयंदत्त वस्तुतः दत्तक पुत्र के भेद में ही आ जाते हैं। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इन चारों में जो सूक्ष्म भेद किया गया है, उसके लिये ऋग्वेद में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ये चारों प्रकार के पुत्र वस्तुतः ऋग्वेद में 'अन्यजात' या 'अन्योदर्य' हैं। सहोढ का ऋग्वेद में कोई संकेत नहीं है। धर्मसूत्रों के अनुसार यदि वधू गर्भवती हो

---

१. द्विजातिप्रवराच्छूद्रायां जातो निषादः। कामात्पारशव इति पुत्राः।
बौ० धर्मसूत्र २,३,२९—३०।

२. ४, २४—२५।

३. नासत्याभ्यां पञ्चाधिका कक्षीवान्दैर्घतमस उशिक्पुत्र आश्विनं वै।
(सायण द्वारा ऋक् १,११६ की अवतरणिका में उद्धृत)।

४. परम्परा के अनुसार घोषा काक्षीवती (कक्षीवान् की पुत्री) कही गई है और ऋग्वेद (१०,४०,५) में उसे 'राज्ञः दुहिता' कहा गया है।

५. *Vedic Index*, I, 132.

६. म्यूर *O. S. T.*, I, 13—14, जहाँ इस विषय में कोलब्रूक और मैक्समूलर की सम्मति उद्धृत की गई हैं। लेकिन हॉग ऋग्वेद के पुरुषसूक्त को इतना अर्वाचीन स्वीकार नहीं करता है। (देखिये, वहीं पृ० १४—१५)।

७. 'The result of this examination is that in none of the hymns of the Rigveda, except the Purusha Sūkta, is there any distinct reference to a recognized system of four castes,......'
(Preface to *O. S. T.* Vol. I, second ed., p. X)

और वह गर्भ पुरुष सन्तान हो तो वह बालक उस वधू के पति का होगा और उसका सहोढ पुत्र कहलायेगा।[1] ऐसे पुत्र को पति का माना जाने का कारण यह है कि उसकी माता पर उसके पिता का अधिकार है, भले ही उसका असली पिता (जनक) कोई अन्य पुरुष रहा हो। यद्यपि ऋग्वेद में ऐसी किसी स्थिति का उल्लेख नहीं हुआ है जिससे इस प्रकार के पुत्र के विषय में कोई प्रकाश पड़ता हो, फिर भी यह विश्वास किया जा सकता है कि ऐसा पुत्र वधू के पति का माना जाता होगा।

(१) **औरस**—ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती साहित्य में औरस पुत्र का बड़ा गुणगान किया गया है तथा सम्पूर्ण साहित्य औरस पुत्र की कामना से व्याप्त है। औरस को ही प्रधान माना गया है, अन्य गौण या प्रतिनिधि माने गये हैं।[2] आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में तो केवल औरस पुत्र ही स्वीकार किया गया है, इसलिये पुत्रों के भेद नहीं किये गये हैं। सवर्ण, पूर्व अविवाहित और शास्त्रोक्त विधि से संस्कार की गई पत्नी में उत्पन्न पुत्र ही ऐसे पुत्र हैं जो विहित कर्म कर सकते हैं।[3] अन्य स्त्री में उत्पन्न पुत्र दोषवान् होता है। पुत्र केवल उत्पन्न करने वाले का होता।[4] बौधायन-धर्मसूत्र में औपजङ्घनि आचार्य के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि केवल प्रथम (औरस) ही पुत्र होता है।[5]

धर्मशास्त्रों के अनुसार केवल पुरुष द्वारा स्वयं उत्पादित पुत्र ही औरस पुत्र नहीं होता, बल्कि यह भी आवश्यक है कि वह उसके द्वारा सवर्ण, पूर्व अविवाहित और शास्त्रोक्त विधि से कन्या अवस्था में मन्त्रों द्वारा विवाह संस्कार की गई पत्नी में उत्पन्न होना चाहिये।[6]

औरस शब्द का इस पारिभाषिक अर्थ में ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में

---

१. या गर्भिणी संस्क्रियते विज्ञाता वाऽविज्ञाता वा तस्यां यो जातः स सहोढः। बौ० ध० सू० २,३,२५।

२. मनुस्मृति ६,१८०।

३. सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिस्सम्बन्धः। आप० ध० सू० २,६,१।

४. तत्रापि दोषवान् पुत्र एव। उत्पादयितुः पुत्र इति ब्राह्मणम्। वही, २,६,४–५।

५. तेषां प्रथम एवेत्याहौपजङ्घनिः। २,३,३३।

६. सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्रं विद्यात्। वही २,३,१४।

प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में पुरुष द्वारा स्वयं उत्पादित पुत्र को 'नित्य सूनु' या 'नित्य तनय' कहा गया है।[1] ऋग्वेद में बल 'स्वयं उत्पादित' पर प्रतीत होता है, 'सवर्णा' या 'संस्कृता'[2] पर नहीं। लेकिन यह विश्वास किया जा सकता है कि 'नित्य सूनु' विवाहित पत्नी में उत्पन्न ही माना जाता होगा, अन्यथा 'अग्रू-पुत्र' मानने की आवश्यकता न पड़ती। ऋग्वेद में सोम से ऐसा पुत्र देने की कामना की गई है जो अपने शरीर से उत्पन्न हो : 'हे सोम, तू सूर अन्न और शरीर से उत्पन्न पुत्र (तनूनां तोकस्य) की प्राप्ति में (सहायक हो)।'[3]

इसी प्रकार मान के पुत्र मान्दार्य ऋषि ने भी अन्न के साथ शरीर से उत्पन्न होने वाले पुत्र (तनू) के लिये मरुद्देवों की स्तुति की है:[4] 'हे मरुतों, अन्न सहित शरीर से उत्पन्न पुत्र (तनू) के लिये मान के पुत्र कवि मान्दार्य का यह स्तोम और यह वाणी (स्तुति) तुम्हारे समीप पहुँचे। हम अन्न और बहते हुए जल वाले (जीरदानु) स्थान (वृजन) को प्राप्त करें।''[5]

ऋग्वेद में औरस पुत्र का भाव पुत्रवाचक शब्द के साथ 'त्मना' का प्रयोग करके व्यक्त किया गया है।[6]

ऋग्वेद में प्रायः स्वयं उत्पादित पुत्र की कामना की गई है, इससे यही प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज में भी औरस (नित्य) पुत्र को ही प्रधान पुत्र समझा जाता था। वसिष्ठ ने तो अन्य प्रकार के पुत्रों की विशेष करके

---

१. नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः। ऋक् १,१६६,२।

मा त्वे सचा तनये नित्य आ धक्। वही ७,१,२१।

२. 'सवर्णा' पर अनेक धर्मशास्त्रों ने बल नहीं दिया है। उदाहरणार्थ, देखिये मनु० ६,११६।

३. त्वं सोम सूर एषस्तोकस्य साता तनूनाम्। ६,६६,१८।

४. एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥
ऋक् १, १६५,१५।

५. यह भाषान्तर ग्रिफिथ के अनुसार किया गया है। सायण ने 'मान्दार्य' और 'मान्य' शब्दों को विशेषण के रूप में लिया है, व्यक्तियों के नाम नहीं।

६. स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुत त्मना।
अच्छा गच्छत्यस्तृतः॥ ऋक् १,४१,६।

निन्दा की है और अग्नि से 'नित्य रै' की कामना की है। अन्य के पुत्र को अपना समझना मूर्खों का मार्ग कहा है।[1] इससे प्रकट है कि 'नित्य' से अतिरिक्त पुत्र हीन दृष्टि से देखे जाते थे।

(२) **पुत्रिका-पुत्र**—धर्मशास्त्रों के अनुसार औरस पुत्र के अभाव में जब पिता वंश चलाने के लिये पुत्री के पुत्र को अपना पुत्र बना लेता था तो वह पुत्रिकापुत्र कहलाता था। कुछ धर्मशास्त्रकार पुत्री को 'पुत्रिका' रूप में नियुक्त करने के लिये विशेष विधि का विधान करते हैं।[2] कुछ के अनुसार पुत्री को विवाह में देने से पूर्व घोषणा कर देना पर्याप्त था।[3] कुछ के अनुसार भावी जामाता से कोई समझौता करना या घोषणा करना आवश्यक न था, केवल मन में संकल्प कर लेने मात्र से पुत्रहीन पिता का पुत्री के पुत्र पर अधिकार हो जाता था।[4]

ऋग्वेद में 'पुत्रिका' या 'पुत्रिकापुत्र' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। 'पुत्रिका' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम निरुक्त में किया गया है।[5] पुत्री से 'नप्त्य' प्राप्त करने का ऋग्वेद की निम्न ऋक् में उल्लेख हुआ है :

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वान् ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।

पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ ऋक् ३,३१,१।

निरुक्तकार के अनुसार इस ऋक् का अर्थ यह है : 'वोढा (विवाह करने वाला) सन्तान कर्म के लिये (अपनी स्त्री में उत्पन्न) पुत्री के पुत्रभाव को प्रसिद्ध कर देता है, क्योंकि वह 'नप्ता' को प्राप्त करता है। (पुत्री को पुत्र मानने का कारण यह है कि) वह दौहित्र को पौत्र रूप मानकर ऋत (प्रजनन-यज्ञ अथवा रेतस्) के विधान का आदर करता है। जब पिता विवाह में न दी हुई पुत्री के वीर्य का सिंचन करने वाले अर्थात् जामाता का स्वागत करता

---

१. परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम्।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः॥
ऋक् ७,४,७।

२. पितोत्सृजेत् पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य। गौ०ध०सू० २८,१८।

३. अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति। वसिष्ठ १७,१८।

४. अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम्। गौ० ध० सू० २८,२९।

५. ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके। निरुक्त ३,५।

है तो सुखी चित्त से स्वयं को आश्वस्त कर लेता है।"[१]

निरुक्त के टीकाकार देवराजयज्वा और दुर्गाचार्य के अनुसार इस ऋक् का अभिप्राय यह है: "किसी स्त्री का उद्वहन करने वाला सन्तानकर्म रूप प्रयोजन के लिये उस स्त्री में उत्पन्न पुत्री को पुत्र रूप में प्रसिद्ध कर देता है, क्योंकि वह उस स्त्री से उत्पन्न पुत्री के पुत्र अर्थात् अपने दौहित्र को अपने मन में पौत्र मान लेता है। पुत्रहीन के पौत्र नहीं हो सकता, लेकिन पुत्री का पिता दौहित्र को अपना पौत्र समझता है, इसलिए यह प्रकट है कि वह अपने मन में पुत्री को पुत्र मान लेता है जिसके पुत्र को वह अपने मन में पौत्र समझता है। पुत्री को पुत्र मानने का दूसरा कारण यह है कि वह जानता है कि जिस प्रजनन-यज्ञ अथवा वीर्य से पुत्र उत्पन्न होता है उसी से पुत्री होती है, इसलिए प्रजनन-यज्ञ अथवा वीर्य के विधान का समान रूप से आदर करता हुआ वोढा दौहित्र को अपना पौत्र समझता है। पिता जिस समय पुत्री को विवाह में देने से पूर्व जामाता (रेतःसेकम्=रेतसः सेक्तारं) का स्वागत करता है (अथवा प्रसाधन करता है) तो उसे पुत्री देते हुए अपने मन में यह संकल्प करता है कि इसमें जो 'अपत्य' होगा वह मेरा पुत्र होगा। अनपत्यता की चिन्ता से उन्मुक्त चित्त से—'मैं अपुत्र नहीं हूँ, यह पुत्रिका ही मेरा पुत्र है, जो इसमें उत्पन्न होगा वह मेरा पौत्र होगा', इस प्रकार सुखी मन से—वह उस पुत्रिका में अपने को रखता है।"

यदि निरुक्तकार की व्याख्या पर यह विश्वास किया जा सके कि उसने ऋक् के मूल अर्थ को ग्रहण कर लिया है तो इस ऋक् में स्पष्ट ही दौहित्र को पौत्र रूप में ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है। निरुक्तकार के अनुसार ऋग्वेद की अन्य ऋक् १,१२४,७ में भी पुत्री के पितृवंश में जाने और पितृवंश की वृद्धि करने का संकेत है।[२]

कदाचित् 'नित्य सूनु' (औरस) के पश्चात् पुत्री से प्राप्त होने वाले पुत्र का समाज में सर्वोच्च स्थान था, क्योंकि ऋग्वेद में इस प्रकार के पुत्र के प्रति

---

१. प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावं ······ नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा·········विधानं पूजयन् ·········।·········पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतःसेकं प्राज्र्जयति सन्दधात्या-त्मानं संगमेन मनसेति·········। निरुक्त ३,४–५।

२. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।

ऋक् १,१२४,७।

कोई घृणा का भाव लक्षित नहीं होता। मनुस्मृति में 'पुत्रिकापुत्र' को गौण अथवा प्रतिनिधि पुत्रों से अलग रखा गया है। अधिकतर धर्मशास्त्रकारों ने पुत्रिकापुत्र को पुत्रों में दूसरा या तीसरा स्थान दिया है, केवल गौतम ने पुत्रिकापुत्र को दसवाँ स्थान दिया है।[1]

लेकिन यह प्रथा कदाचित् समाज में अत्यधिक प्रचलित नहीं हुई, क्योंकि इस प्रथा से भ्रातृहीन कन्याओं के लिए पति प्राप्त होना कठिन हो जाता था। यास्क ने भ्रातृहीन कन्या के साथ विवाह के निषेध के विषय में एक अति प्राचीन वचन उद्धृत किया है[2] और अथर्ववेद के एक मन्त्र[3] को अभ्रातृमती के विवाह-निषेध के विषय में प्रच्छन्न संकेत माना है।[4]

(३) **क्षेत्रज**—यह पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद (१०,४०,२) में विधवा और देवर के यौन सम्बन्धों का संकेत मिलता है। पति के मरने पर विधवा पत्नी देवर के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करके अपने पति के लिये पुत्र प्राप्त करती थी। पुरुकुत्सानी ने अपने पति के मारे जाने अथवा शत्रु द्वारा पकड़े जाने पर इन्द्र और वरुण की स्तुति करके सात ऋषियों की सहायता से त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य (अथवा पौरुकुत्सि) पुत्र प्राप्त किया था। ऋग्वेद ४,४२,८-९ में कहा गया है : 'दुर्गह के पुत्र (दौर्गह) के मारे जाने पर वे सात ऋषि हमारे पिता थे, उन्होंने यज्ञ करके इस (पुरुकुत्सानी) के लिये इन्द्र के सदृश शत्रुओं का संहारक और अर्धदेव पुत्र प्राप्त किया। हे इन्द्र वरुण, पुरुकुत्सानी ने हवियों तथा नमस्कृतियों से तुम्हारी पूजा की, और तुमने इसे शत्रुनाशक (वृत्रहन्) और अर्धदेव राजा त्रसदस्यु दिया।'[5]

---

१. देखिये, हरिदत्त वेदालङ्कार : हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ४८१।

२. नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्तोकं ह्यस्य तद् भवति। निरुक्त ३,५।

३. अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥
अथर्व० १,१७,१ कुछ पाठान्तर के साथ।

४. अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मानि इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः। निरुक्त ३,४ (Bombay Sanskrit Prākrit Series)।

५. अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम्॥
पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
अथा राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम्॥ ऋक् ४,४२,८; ९।

(अगले पृष्ठ पर द्रष्टव्य)

ऋग्वेद में अन्य पुरुष द्वारा अपनी पत्नी में उत्पन्न पुत्र को कदाचित् 'अन्यजात' शब्द से कहा गया है। औरस पुत्र की कामना करते हुए वसिष्ठ ने औरस से भिन्न पुत्रों को, 'अरण, अन्यजात, और अन्योदर्य' कहा है।[१] यद्यपि सायण ने तथा निरुक्त के टीकाकार देवराजयज्वा और दुर्गाचार्य ने 'अन्यजात' का अर्थ सामान्य रूप से 'अनौरस' किया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'अन्योदर्य' (अन्योदर से उत्पन्न) के विरोध में 'अन्यजात' शब्द ऐसे पुत्र के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो 'अन्योदर्य' तो नहीं है, लेकिन 'अन्येन जातः' अर्थात् अपनी पत्नी में अन्य में उत्पन्न है।

ऋग्वेद में क्षेत्रज पुत्र के उत्पादन की विधि के विषय में कोई उल्लेख नहीं हुआ है। धर्मशास्त्रों के अनुसार 'नियोग' में कामुकता की भावना के लिये कोई स्थान नहीं है। उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रों में कामुकता की भावना के भय से ही कलियुग में 'नियोग' को निषिद्ध कहा गया है।[२] 'नियोग' के लिये यह आवश्यक था कि स्त्री को किसी पुरुष-विशेष द्वारा सन्तान उत्पन्न करने के लिये नियुक्त किया जाये। यह नियुक्ति सन्तानहीन पुरुष स्वयं या उसके अभाव में कोई निकट सम्बन्धी अथवा गुरु करता था और नियुक्त पुरुष शास्त्र-प्रोक्त विधि से नियुक्त स्त्री के समीप जाता था। यदि कोई स्त्री काम-भावना से किसी पुरुष के समीप जाती थी तो ऐसे सहवास से उत्पन्न पुत्र स्त्री के पति का नहीं माना जाता था। वह जारज अर्थात् अवैध होता था, इसलिये स्त्री के पति की सम्पत्ति में भागीदार नहीं होता था।[३] धर्मशास्त्रकारों ने केवल विधवा ही नहीं, अपितु नपुंसक और व्याधि पीडित की पत्नी को भी पति के जीवित रहते गुरुजनों की अनुमति से सन्तान उत्पन्न करने की

त्रसदस्यु का ऋग्वेद में अन्यत्र भी उल्लेख हुआ है। लेकिन त्रसदस्यु की ऐतिहासिकता में सन्देह है, क्योंकि ऊपर ऋक् में भी त्रसदस्यु को अर्धदेव (semi-divine) कहा गया है।

१. ऋक् ७,४,७; ८।

२. उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता॥ कुल्लूक की टीका में मनुस्मृति ९, ६८ पर बृहस्पति के नाम से उद्धृत।

३. देखिये मनुस्मृति ९, १४३-४४।

अनुमति दी है।[1] यह बात सम्भवतः ऋग्वेद के काल के लिये भी सही है। क्योंकि यदि ऋक् ७, ४, ७ में आये 'अन्यजात' शब्द का अर्थ विशेषतः 'क्षेत्रज' हो तो इस ऋक् में 'अन्यजात' से ऐसे पुत्र का संकेत किया गया है जिसे कोई पिता अपने जीवन काल में ही अपनी पत्नी में किसी अन्य पुरुष द्वारा प्राप्त कर सकता था।

नियोग के विशेष करके दो भेद किये जा सकते हैं: (१) जहाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिये नियुक्त पुरुष स्त्री के पति का भाई या निकट सम्बन्धी है। ऋग्वेद-काल में विधवा में सन्तान उत्पन्न करने वाला देवर होता था। धर्म-शास्त्रों में भी देवर को ही प्राथमिकता दी गई है।[2] उसके अभाव में अन्य सपिण्ड या सगोत्र को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार दिया गया है। देवर द्वारा सन्तान प्राप्त करने की प्रथा को वस्तुतः 'देवृप्रथा' (levirate) कहना उपयुक्त होगा। (२) जहाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिये नियुक्त पुरुष स्त्री के पति का सजातीय अथवा सम्बन्धी नहीं है। महाभारत तथा पुराणों में नियोग के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें राजाओं की पत्नियों में पुत्र उत्पन्न करने के लिये तपस्वी और ज्ञानी ब्राह्मण नियुक्त किये गये हैं।[3] कदाचित् ऋग्वेद में त्रसदस्यु का उदाहरण भी ऐसा ही है।

नियोग की प्रथा अन्य सभ्य और असभ्य जातियों में भी पाई गई है।[4] यद्यपि स्मृति ग्रन्थों में नियोग को निषिद्ध कर दिया गया है, लेकिन यह प्रथा भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में अनेक जातियों में इस रूप में अब भी प्रचलित है कि विधवा का देवर मृत भाई की स्त्री को अपनी पत्नी बना लेता है और उसमें उत्पन्न बच्चे उसके अपने होते हैं।[5] परन्तु यह एक प्रकार से नियोग से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि नियोग में विधवा से उत्पन्न सन्तान मृत पति

---

१. बौधायनधर्मसूत्र २, ३, १७।

२. गौतमधर्मसूत्र २८, २३।

३. देखिये, Meyer, J. J. : *Sexual Life in Ancient India*, p. 160–61.

मेयर के मत में ऐसे दृष्टान्तों का उद्देश्य ब्राह्मणों की तपस्या के गौरव को बढ़ाना है, इनमें ऐतिहासिकता का अंश बहुत कम है। (वही पृ० १६६)।

४. उदाहरणों के लिये देखिये, मेयर: वही, पादटिप्पणी पृ० १७२–७४।

५. Mayne : *A Treatise on Hindu Law and Usage*, p. 62; Crook : *The North-Western Provinces*, p. 229.

की मानी जाती थी, देवर की नहीं। पंजाब में ऐसे विवाह को कुछ हीन माना जाता है और ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को दाय का पूर्ण अधिकार नहीं मिलता है।[१]

ऋग्वेद में 'अन्यजात' (क्षेत्रज) पुत्र के प्रति असन्तोष प्रकट किया गया है और अन्य द्वारा पुत्र-प्राप्ति को मूर्खों का मार्ग कहा गया है।[२] इससे स्पष्ट है कि क्षेत्रज पुत्र को तत्कालीन समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। परन्तु औरस पुत्र के अभाव में उनसे काम चलाया जाता था। धर्मसूत्रों में प्रतिनिधि पुत्रों में क्षेत्रज का उच्च स्थान है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने उसे औरस पुत्र के बाद प्रथम स्थान दिया है और कुछ ने द्वितीय। केवल बृहस्पति ने उसे सातवाँ स्थान दिया है।[३]

(४) **गूढज**—वसिष्ठ-धर्मसूत्र में घर में गुप्त रूप में उत्पन्न हुए पुत्र को गूढज कहा गया है।[४] लेकिन इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि गूढज पुत्र विवाहित स्त्री में होता था या अविवाहित में। गूढज पुत्र सम्भवतया विवाहित पत्नी में पिता की अनुमति के विना उसकी अनुपस्थिति में अन्य पुरुष से उत्पन्न होता था। उसको स्त्री के पति का पुत्र मानने का कारण यह था कि वह अपनी माता के पति के तल्प पर उत्पन्न हुआ है।[५] यह एक प्रकार से अवैध पुत्र था, लेकिन स्वामित्व के सिद्धान्त के अनुसार वह अपनी माता के पति का माना जाता था। यदि अवैध सहवास के द्वारा कोई बच्चा उपपति के घर में उत्पन्न होता था तो वह उपपति का माना जाता था।[६]

ऋग्वेद में गूढज पुत्र का अस्पष्ट निर्देश है। एकान्त में बच्चा उत्पन्न करने वाली को 'रहसू' कहा गया है। भक्त आदित्यों से प्रार्थना करता है :-

धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः।
शृण्वतो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वाँ अवसे हुवे वः ॥

ऋक् २, २६, १।

'हे व्रत को धारण करने वाले, बलवान् आदित्यों, तुम एकान्त में प्रसव

१. मेन : वही, पृष्ठ ६२।
२. ऋक् ७, ४, ७।
३. पुत्रों के तुलनात्मक स्थान के विषय में देखिये, मेन : वही, पृ० ५७।
४. गृहे च गूढोत्पन्नः षष्ठः। १७, २४।
५. स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद् यस्य तल्पजः। मनुस्मृति ९, १७०।
६. देखिये, पा० टि० ५।

करने वाली माता के समान पाप को मुझसे दूर फेंक दो। (मेरी प्रार्थना को) सुनने वाले वरुण, मित्र तथा अन्य देवों, तुम्हारे शुभ कार्यों को जानने वाला मैं रक्षा के लिये तुम्हारा आह्वान करता हूँ।[1]

यहाँ भक्त के पापों को दूर करने की उपमा छिपकर प्रसव करने वाली स्त्री से दी गई है। 'रहसूरिव' की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है: 'जो अन्य द्वारा अज्ञात देश में प्रसव करती है, वह 'रहसू' व्यभिचारिणी होती है। वह जैसे गर्भ को गिराकर दूर स्थान में छोड़ देती है उस प्रकार।'[1] इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ व्यभिचारिणी स्त्री के द्वारा अवैध सन्तान को दूर फेंक देने का संकेत है।

ऋग्वेद-काल में व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान अवैध समझी जाती थी और उसे जीवित नहीं रहने दिया जाता था। ऐसी अवैध सन्तान के प्रति दया का भाव धर्मशास्त्रों के काल में ही उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। धर्मशास्त्रों में गूढज पुत्र को गोत्रदाय के अधिकारी बान्धवों में गिना गया है।[2]

ऋग्वेद के ऊपर उद्धृत सन्दर्भ से यह भी स्पष्ट नहीं है कि 'रहसू' विवाहित स्त्री है अथवा अविवाहित। प्रो० मैक्डानल और प्रो० कीथ ने इसे अविवाहित माता समझा है।[3] ग्रिफिथ ने भी यहाँ अविवाहित माता का ही उल्लेख माना है।[4]

(५) **कानीन**—अविवाहित (असंस्कृता) लड़की पिता के घर में जो पुत्र उत्पन्न करती है, वह कानीन होता है। वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार ऐसा पुत्र अपने नाना का होता है।[5] परन्तु मनुस्मृति में उसे उस लड़की से विवाह करने

---

१. रहस्यन्यैरज्ञाते प्रदेशे सूयत इति रहसूर्व्यभिचारिणी। सा यथा गर्भं पातयित्वा दूरदेशे त्यजति तद्वत्। (पूना संस्करण)।

२. औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥ मनुस्मृति ९, १५९;
बौधायन ने भी गूढज को 'रिक्थभाक्' पुत्रों में गिना है। २,३,३१।

३. "Raha-sū, 'bearing in secret', is a term applied in one passage of the Rigveda (ii, 29, 1) to an unmarried mother." *Vedic Index*, I, 209.

४. *Hymns of the Rigved*, Vol. I, p. 380, f.n. 1 : "as an unwedded mother abandons her secretly born child in some distant place."

५. या पितृगृहेऽसंस्कृता कामादुत्पादयेन्मातामहस्य पुत्रो भवतीत्याहुः। १७, २२।

वाले पति का माना गया है।[1] अथर्ववेद (५, ५, ८) में कानीन शब्द का प्रयोग हुआ है,[2] जहाँ इसका अर्थ 'कन्या का पुत्र है।[3] शुक्लयजुर्वेद (३०, ६) में सम्भवतः कुमारीपुत्र के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में अविवाहित लड़की के पुत्र को 'अग्रुवः पुत्र' अर्थात् 'अग्रू (अविवाहित) का पुत्र' कहा गया है। ऋग्वेद के काल में विवाह बड़ी अवस्था में होता था और लड़कियों को सामान्यतया इधर-उधर जाने की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता थी, इसलिये यदि अविवाहित युवती कन्यायें अपने युवा प्रेमियों के सहवास से गर्भिणी हो जाती हों तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन ऋग्वेद-काल में भी ऐसी घटनाओं को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और इस प्रकार के अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान प्रायः जीवित नहीं रहने दी जाती थी। 'अग्रुवः पुत्र' का ऋग्वेद के सबसे प्राचीन माने जाने वाले भाग में दो बार उल्लेख हुआ है, जहाँ उसकी इन्द्र द्वारा रक्षा किये जाने का वर्णन किया गया है और उसकी रक्षा करने के कारण इन्द्र की प्रशंसा की गई है। दोनों स्थलों में एक ही घटना की ओर संकेत किया जान पड़ता है :

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।
व्यन्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व ।। ऋक् ४,१९,९।

'हे बभ्रुवर्ण अश्व वाले इन्द्र, तुम दीमकों द्वारा खाये जाते हुए अविवाहित स्त्री के पुत्र को बम्बी से लाये। सर्प को पकड़ते हुए अन्धे (अग्रूपुत्र) ने (सर्प को) देखा। वह पात्र को तोड़कर बाहर निकला और उसकी सन्धियाँ पुनः जुड़ गईं।'[4]

इस ऋक् में जैसा वर्णन किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि किसी अविवाहित लड़की ने लोकलज्जा के भय से अपने नवजात शिशु को कहीं

---

१ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ।। मनुस्मृति ९, १७२।

२. सिलाची नाम कानीनोजबभ्रु पिता तव।

३. *Vedic Index*, I, 147.

४. सायण ने 'अग्रू' व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द माना है। लुडविग ने 'अग्रुवः पुत्र' का अभिप्राय 'मेघ से उत्पन्न होने वाला विद्युत्' किया है। (देखिये, ग्रिफिथ २,१२६, पादटिप्पणी)। लेकिन 'अग्रु' (पुँल्लिङ्ग) 'अग्रू' (स्त्रीलिङ्ग) का अर्थ अविवाहित होता है, यह निश्चित है। देखिये, ऋक् १,१४०,८; १९१,१४; ५,४४,७; ७,९६,४। अग्रु शब्द का बहुवचन में प्रयोग सिद्ध करता है कि अग्रु व्यक्ति का नाम नहीं है।

बीहड़ स्थान में फेंक दिया था, जहाँ उसे दीमकों ने खाकर जर्जर कर दिया था और उसकी दृष्टि भी जाती रही थी। लेकिन इन्द्र ने अनुग्रह करके उसकी प्राणरक्षा की तथा उसे दृष्टिदान दिया। ऋक् ४,३०,१६ में स्पष्ट रूप से 'अग्रूपुत्र' को 'दूर फेंका हुआ' कहा है :[1] 'शतक्रतु इन्द्र ने उस त्यागे हुए अविवाहिता के पुत्र को स्तोत्र का भागी बनाया।'[2]

ऊपर के साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि कुमारी लड़कियों की अवैध सन्तान का समाज में कोई स्थान नहीं था। ऐसी सन्तान के जीवित रहने के अवसर अत्यन्त विरल होते थे। यदि ऐसी सन्तान जीवित रह जाती थी तो उसे देवों का ही अनुग्रह समझा जाता था। अवैध सन्तान का समाज में कोई स्थान नहीं था, यह इस बात से भी प्रकट है कि ऊपर उद्धृत ऋक् में यद्यपि अग्रू के पुत्र को इन्द्र के अनुग्रह से उक्थ का भागी कहा है, फिर भी उसका कोई पिता आरोपित नहीं किया गया है। पितृवंशीय परिवार वाले समाज में, जहाँ सम्पत्ति तथा पद का उत्तराधिकार पिता से प्राप्त होता है, ऐसी सन्तान की जिसका कोई पिता नहीं है, क्या अवस्था होती होगी, इसकी सहज और निश्चित रूप से कल्पना की जा सकती है।

(६) **अपविद्ध**—माता पिता द्वारा छोड़ दिये गये पुत्र को यदि कोई ले लेवे उसे 'अपविद्ध' कहा गया है और उसे अदायाद बान्धवों में पाँचवाँ स्थान दिया गया है।[3] ऋग्वेद में फेंक दिये गये बच्चे के लिये 'परावृक्त' और 'परावृज्' शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऊपर ऋक् ४,३०,१६ में अविवाहिता लड़की के पुत्र को 'परावृक्त' कहा गया है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि यहाँ 'परावृक्त' शब्द सम्भवतया किसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, केवल सामान्यतया विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। 'परावृज्' शब्द का ऋग्वेद में चार स्थलों पर प्रयोग हुआ है[4] और किसी परित्यक्त पुरुष के लिये प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। सायण ने 'परावृज्' एक पुरुष का नाम माना है, लेकिन यह सम्भव नहीं है।[5] जिमर के अनुसार ऋक् १,११२,८; २,१३,

---

१. सायण ने यहाँ भी 'अग्रू' और 'परावृक्त' व्यक्तियों के नाम माने हैं।

२. उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः।
उक्थेष्विन्द्र आभजत्॥ ऋक् ४,३०,१६।

३. अपविद्धः पञ्चमः। यं मातापितृभ्यामपास्तं प्रतिगृह्णीयात्।
वसिष्ठ ध० सू० १७,३६–३७।

४. ऋक् १,११२,८; २,१३,१२; १५,७; १०,६१,८,।

५. देखिये, *Vedic Index*, I, 492.

१२; १५,७ में 'परावृज्' अविवाहित लड़की के परित्यक्त पुत्र के लिये आया है। जिमर के इस मत को इस तथ्य से पुष्टि मिलती है कि ऊपर उद्धृत ऋक् ४,३०,१६ में आया 'परावृक्त' शब्द 'परावृज्' का समानार्थक प्रतीत होता है। यह मत ओल्डनबर्ग को भी स्वीकार्य है। रौथ ने 'परावृज्' का अर्थ 'निष्कासित' किया है। ऋक् १०,६१,८ में 'परावृज्' का अर्थ 'निष्कासित' बिल्कुल संगत है जहाँ परावृज् के दक्षिण की ओर जाने की बात कही गई है। इस ऋक् के लिये रौथ के मत को जिमर ने भी स्वीकार किया है।[१]

ऋक् १०,६१,८ से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल अवैध सन्तान को ही मरने के लिए नहीं छोड़ दिया जाता था, अपितु किसी अपराध के होने पर वैध पुत्रों को भी देश और परिवार के निकाल दिया जाता था। भुज्यु को उसके पिता ने क्रुद्ध होकर जल में प्रवाहित कर दिया था, जिसकी अश्विनौ ने रक्षा की थी।

ऋक् ४,३०,१९ में त्यागे गये पुरुषों को 'जहित' शब्द से भी निर्दिष्ट किया गया है जिन्हें इन्द्र ने बचाया था।[२]

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि धर्मशास्त्रों के अनुसार 'अपविद्ध' पुत्र उसका होता है जो माता अथवा पिता द्वारा त्याग दिये गये पुत्र को स्वीकार करता है, परन्तु ऋग्वेद में 'परावृक्त', 'परावृज्' अथवा 'जहित' की रक्षा करने वाले इन्द्र अथवा अश्विनौ देव हैं।[३] इससे ऋग्वेद-काल में अवैध तथा पिता को रुष्ट करने वाली सन्तान के प्रति कठोर दृष्टि की स्पष्ट प्रतीति होती है।

(७) **दत्तक**—धर्मशास्त्रों में दत्तक पुत्र वह है जिसे असली माता-पिता किसी कारण अन्य पुरुष को दे देवें।[४] परन्तु हम यहाँ दत्तक पुत्र से उन सबका

१. वही, १,४९३।

२. अनु द्वा जहिता नयोऽन्धं श्रोणं च वृत्रहन्। न तत्ते सुम्नमष्टवे॥

३. ऋक् २,१३,१२; १५,७; ४,३०,१६ तथा १९ में त्यक्त की रक्षा करने वाला तथा उसे दृष्टि और गति देने वाला इन्द्र देव कहा गया है, परन्तु ऋक् १,११२,८ में त्यक्त अन्धे और लंगड़े को दृष्टि तथा गति देने वाले अश्विनौ कहे गये हैं।

४. दत्तको द्वितीयः। यं मातापितरौ दद्याताम्।

वसिष्ठधर्मसूत्र १७, २८–२९।

मातापितृभ्यां दत्तोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते स दत्तः।

बौ० धर्मसूत्र २,३,२०।

यहाँ बल इस बात पर है कि वह उत्पन्न करने वाले माता-पिता द्वारा दिया जाना चाहिये।

ग्रहण करेंगे जिन्हें धर्मशास्त्रों में दत्तक (दत्रिम), कृत्रिम, क्रीत और स्वयंदत्त कहा गया है। ये वस्तुतः ऐसे पुत्र हैं, जिन्हें न स्वयं ग्रहण करने वाला पिता उत्पन्न करता है और न जो उसकी पत्नी में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये इन चारों प्रकार के पुत्रों को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है। इनका कानीन, गूढज तथा अपविद्ध से यह भेद है कि पिछले तीन प्रायः अवैध सन्तान हैं, परन्तु दत्तक आदि वैध सन्तान हैं।

ऋग्वेद में अन्य युग्म से उत्पन्न पुत्र को 'अरण', 'अन्योदर्य' कहा गया है। यद्यपि ऋग्वेद में ऐसे पुत्र को ग्रहण न करने योग्य कहा गया है, परन्तु यह उल्लेख ही इस बात को सिद्ध करता है कि ऋग्वेद-काल में भी औरस पुत्र के अभाव में 'अन्योदर्य' से भी काम चलाया जाता था। 'अन्योदर्य' पुत्र के प्रति घृणा का कारण एक ऋक् में स्पष्ट बता दिया गया है : 'अरण चाहे जितना सुखकारी हो, वह लेने योग्य नहीं होता, अन्योदर्य का मन में भी विचार नहीं लाना चाहिये, क्योंकि वह फिर अपने पुराने घर में ही चला जाता है। हमारे लिये बलवान्, शत्रुओं का विजेता नया पुत्र आवे।'[1]

अन्योदर्य को अपना पुत्र किस प्रकार बनाया जाता था, कौन पुत्र ले सकता था, और किस पुत्र को लिया जा सकता था, या कौन अपना पुत्र दूसरे को दे सकता था, इस विषय में ऋग्वेद से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। तैत्तिरीय-संहिता में अत्रि का और्व को अपना पुत्र देने का कथन किया गया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि अत्रि का एक ही पुत्र था, क्योंकि पुत्र देने के पश्चात् उसने स्वयं को रिक्त, निर्वीर्य, अशक्त तथा श्रान्त अनुभव किया तो 'चतूरात्र' द्वारा यज्ञ करके चार पुत्र प्राप्त किये।[3] वसिष्ठधर्मसूत्र में पुत्र पर माता-पिता का प्रभुत्व माना गया है, इसलिए उन्हें पुत्र बेचने, दान देने तथा छोड़ देने का अधिकार दिया है। लेकिन एक पुत्र को न देना चाहिये और न लेना ही चाहिये, क्योंकि वह अपने जनक के कुल को चलाने वाला होता है। स्त्री केवल पति की अनुमति से ही पुत्र का दान या ग्रहण कर सकती है।[4] वसिष्ठधर्मसूत्र

१. नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभिषाळेतु नव्यः॥ ऋक् ७,४,८।

२. अत्रिरददादौर्वाय प्रजां पुत्रकामाय स रिरिचानोऽमन्यत निर्वीर्यः शिथिलो यातयामा। तैत्ति० सं० ७,१८,१।

३. एतं चतूरात्रमपश्यत् तमाहरत् तेनायजत ततो वै तस्य चत्वारो वीरा आऽजायन्त। वही।

४. वसिष्ठधर्मसूत्र, १५,१–५।

के अनुसार पुत्र लेने वाले को चाहिये कि वह बन्धुओं को बुलाकर राजा को सूचित करके गृह के मध्य में व्याहृतियों से हवन करके किसी 'अदूरबान्धव' तथा 'बन्धु-सन्निकृष्ट' को ही लेवे। धर्मशास्त्रों में केवल औरस पुत्र के अभाव में ही दत्तक पुत्र लेने का अधिकार है। परन्तु ऐतरेयब्राह्मण[1] के शुनःशेप के आख्यान से प्रतीत होता है कि पुत्रवान् होते हुए भी कोई पुरुष दत्तक पुत्र बना सकता था और दत्तक बनने वाले पुत्र का निकट-बान्धव होना आवश्यक नहीं था।

मध्यकाल में तथा आधुनिक काल में औरस पुत्र के अभाव में केवल दत्तक पुत्र का ही प्रचलन रह गया है। इसलिए 'दत्तक' पुत्र के विषय में हिन्दू-धर्मशास्त्रों में विशाल साहित्य है, जिससे 'दत्तक' प्रथा बड़ी जटिल हो गई है। लेकिन दत्तक के आधुनिक स्वरूप का विवेचन वर्तमान अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है।

८. पुत्र के गुण

ऋग्वैदिक काल में सामाजिक असुरक्षा तथा नये प्रदेशों की विजय की कामना होने के कारण बलवान् और शत्रु-विजेता पुत्र की कामना की जाती थी। ऋक् ७,४,८ में वसिष्ठ ने अग्नि से ऐसा ही पुत्र देने की कामना की है: 'हमारे लिए बलवान् (वाजी) और शत्रुसंहारक (अभिषाड्) नवीन पुत्र आवे।' ऋक् १,६१,२० में कहा गया है: 'जो सोम की पूजा करता है, सोम उसे कर्मनिष्ठ, गृह-कार्य-परायण, यज्ञानुष्ठान-तत्पर, सभा के योग्य और पिता की कीर्ति को बढ़ाने वाला पुत्र देता है।'[2] ऋक् २,३२,४ में एक देवी से धनी (शतदाय) और प्रशंसनीय वीर की कामना की गई है।[3] 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने 'शतदाय' का अर्थ 'वह जिसका वीर-शुल्क[4] सौ है' किया है।[5] लेकिन यह अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पुत्र की कामना के समय उसके वीर-शुल्क का विचार मन में उदित नहीं हो

---

१. ऐत० ब्रा० ७,१७।

२. ....सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥

३. ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्।

४. वीर-शल्क से अभिप्राय उस धन से है जो किसी वीर या पुरुष की क्षतिपूर्ति के लिए दिया जाता था और जिसे जर्मन भाषा में wergeld कहा गया है।

५. *Vedic Index*, I, 331.

सकता। ऋक् ५,२५,५ में कहा गया है कि अग्नि उपासक को सर्वोत्तम, विशाल-कीर्ति-सम्पन्न, महान् भक्त, अजेय और पिता के यश की वृद्धि करने वाला पुत्र देता है।[1] ऋक् ६,१४,४ में कहा गया है कि अग्नि जलों को प्राप्त करने वाला (अप्सा), आक्रमण का प्रतिरोध करने वाला अथवा शत्रुविजयी (ऋतीषह्), सज्जनों का स्वामी पुत्र देता है, जिसे देखकर शत्रु (उसके) बल के भय से कम्पित हो जाते हैं।[2] ऋक् ८,१०३,४ में कहा गया है कि अग्नि का उपासक मन्त्र गान करने वाला तथा स्वयं सहस्र का पोषण करने वाला पुत्र प्राप्त करता है।[3]

पुत्र के गुण ऋक् ६,२०,१ में सहस्र क्षेत्र जीतना और शत्रुओं का संहार करना, ऋक् ८,९८,१० में सेना का प्रतिरोध करना (पृतनाषह्) और ऋक् १०,८०,१ में यशस्वी और कर्मनिष्ठ होना कहे गये हैं।

ऋग्वेद-काल में पुत्र का सर्वाधिक काम्य गुण वीर, बलवान्, शक्तिशाली शत्रुविजेता और कर्त्तव्यपरायण होना था, क्योंकि प्रायः देवों से ऐसे ही पुत्र की कामना की जाती थी।

९. पिता और पुत्र के परस्पर कर्त्तव्य तथा अधिकार

(अ) पुत्र के प्रति पिता के कर्त्तव्य तथा अधिकार—पहले परिवार के प्रति पिता के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का विवेचन करते हुए पुत्र के प्रति पिता के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का उल्लेख किया जा चुका है।[4] यहाँ केवल उस साक्ष्य का प्रदर्शन किया जायेगा जिससे पिता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों पर प्रकाश पड़ता है।

(आ) पिता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्य—ऋग्वैदिक पुत्र सामान्यतया पिता का आज्ञाकारी तथा वशवर्ती होता था। पिता की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने वाले पुत्र विरल ही होते थे। पुत्र पिता को नमस्कार करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते थे। रुद्र की स्तुति में ऋषि ने कहा है: 'जैसे आशीर्वाद देते समय पिता को पुत्र नमस्कार करता है, वैसे ही, हे रुद्रों, तुम्हारे आने

---

१. अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥
२. अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम्।
यस्य त्रसन्ति शवसः सञ्चक्षि शत्रवो भिया॥
३. स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्।
४. देखिये, ऊपर पृष्ठ ११३ तथा आगे।

के समय हम तुम्हें नमस्कार करते हैं।"[१] पुत्र पिता का आदेश पालन करने के लिए सर्वदा उत्सुक रहते थे।[२] पिता के यश की वृद्धि करने वाले पुत्र प्रशंसा के पात्र होते थे और ऐसे ही पुत्रों की कामना की जाती थी।[३] जो पुत्र पिता का उपकार करते थे, वे प्रशंसनीय होते थे और समाज में उनके शुभ कार्यों का गुण-गान होता था। सुधन्वा के पुत्र ऋभुओं की अनेक बार यह कहकर स्तुति की गई है कि उन्होंने अपनी कुशलता से अपने वृद्ध माता-पिता को पुनः युवा कर दिया।[४] वृद्ध माता पिता को युवा कर देने के कारण ऋभुओं की देवों में भी महान् ख्याति हुई (ऋक् ४,३६,३)।

पुत्र अपने पिता की प्रत्येक कार्य में सहायता करते थे। अग्नि की स्तुति में कहा गया है: '(अग्नि) अपने माता-पिता 'रोदसी' के समीप जाकर पुत्र के समान उनकी सहायता करता है।'[५] पुत्र पिता के लिये गृह का निर्माण करते थे।[६] ऋक् २,१,९ में कहा गया है कि जो अग्नि की पूजा करता है, अग्नि उसके लिए पुत्र के समान हो जाता है और सुखकारी मित्र बनकर उसकी विपत्तियों से रक्षा करता है।[७] इससे प्रतीत होता है कि पिता की रक्षा करना और सेवा करके सुखी रखना पुत्र का कर्त्तव्य था। पितृ-सेवा का ऋग्वेद-काल में अति महत्त्व था। लोगों का विश्वास था कि पितृ-सेवी लोगों से अग्नि प्रसन्न होता है: 'हे अग्नि, जिन पितृ-हितैषी लोगों ने तुम्हारे दीप्तिमान् मुख को प्राप्त किया, उनके साथ हमारे लिये यहाँ अनुकूल बनो।'[८]

पिता के अपमान अथवा वध का प्रतिशोध भी पुत्र का कर्त्तव्य था।

---

१. कुमारश्चित् पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम्।
ऋक् २,३३,१२।

२. ऋक् १,६८,५। ऊपर पृ० ९२ भी देखिये।

३. ऋक् १,९१,२०।

४. ऋक् १,२०,४; ११०,८; १११,१; ४,३३,२; ३५,५। ऋभुओं के माता-पिता से कदाचित् द्यावा-पृथिवी का अभिप्राय है। देखिये, *Vedic Mythology*, p. 133.

५. ऋक् १०,१४०,२।

६. ऋक् ३,३१,१२।

७. त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत्त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः।

८. वि ये ते अग्ने भेजिरे अनीकं मर्ता नरः पित्र्यासः पुरुत्रा।
उतो न एभिः सुमना इह स्याः। ऋक् ७,१,९।

पिता का शत्रु पुत्र का भी शत्रु होता था। ऋक् ५,३४,४ में कहा गया है कि शक्तिशाली इन्द्र जिसके पिता, जिसकी माता और जिसके भाई का वध करता है, उससे भी भय नहीं खाता।[१]

पुत्र पिता के ऋणों के लिए उत्तरदायी होता था। ऋक् ६,६१,१ में वध्यश्व के पुत्र दिवोदास का विशेषण 'ऋणच्युत्' दिया गया है। ऋग्वैदिक लोगों का विश्वास था कि पुत्र पिता के पाप-कर्मों के लिए भी उत्तरदायी होता था। ऋग्वेद में अपने द्वारा किये गये पापों के साथ पिता द्वारा किये गये पापों से भी मुक्ति की प्रार्थना की गई है: 'हमारे जो पाप (द्रुग्ध) पिता से प्राप्त हैं, उनको दूर करो तथा जो हमने स्वयं किये हैं, उनको दूर करो।'[२] ऐतरेयब्राह्मण में स्पष्ट रूप से कथन किया गया है कि पिता अपना ऋण पुत्र को देकर अमृत को प्राप्त कर लेता है।[३]

पैतृक परम्पराओं का पालन करना भी ऋग्वैदिक पुत्र का कर्त्तव्य प्रतीत होता है। ऋक् ८,३०,३ में एक ऋषि ने देवों से प्रार्थना की है: 'देव हमें पिता और मनु के मार्ग से दूर न ले जायें।'[४]

पुत्र का पिता के प्रति एक अन्य मुख्य तथा पवित्र कर्त्तव्य वंश को चलाना था। पहले यह कहा जा चुका है[५] कि कदाचित् ऋग्वेद-काल में ही पुत्रों का पिता होना पुरुषों के लिए धार्मिक कर्त्तव्य हो गया था और 'ऋण' शब्द से उत्तर काल में द्विज के लिये स्वीकार किये गये तीन ऋणों में सम्मिलित 'पितृ-ऋण' का बोध होता था। ऋक् १०,३२,३ में कहा गया है: 'यह मुझे सुन्दर से भी सुन्दरतर प्रतीत होता है कि जो पुत्र (विवाह करके तथा पिता बनकर)[६] माता-पिता के वंश का उचित रूप में ध्यान रखता है।'[७]

---

१. यस्यावधीत् पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते।

२. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
ऋक् ७,८६,५।

३. ऋणमस्मिंत्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्। ऐत० ब्रा० ७,१३।

४. मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः।

५. देखिये, ऊपर पृष्ठ १३५—१३७।

६. देखिये, Griffith : *The Hymns of the Rigveda*, f. n. on 10, 32, 3.

७. तदिन्मे छन्त्सद् वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति।

(इ) **पुत्र के अधिकार**—परिवार में पिता के अधिकार उसकी शारीरिक तथा आर्थिक प्रबलता के कारण थे। इसलिये पीडित तथा क्रूर पत्र अपने अत्याचारी और पीडक पिता से वृद्धावस्था में उसकी अशक्तता के कारण उसके अधिकारों का अपहरण कर लेता हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। शतपथ-ब्राह्मण[१] तथा गोपथब्राह्मण[२] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पूर्व वय में पुत्र पिता के आश्रित होते हैं और उत्तर वय में (अर्थात् वृद्धावस्था) में पिता पुत्र के आश्रित होता है। ऋक् १०,८५,४६ में नववधू को श्वशुर, सास (श्वश्रू), ननद (ननान्दर्) तथा देवर (देवर्) की सम्राज्ञी (शासयित्री) होने का आशीर्वाद दिया गया है, इसलिये यह विश्वास किया जा सकता है कि विवाहित पुत्र का परिवार में लगभग वही स्थान हो जाता था, जो पहले पिता का था। ऋग्वेद में वृद्ध पिता के 'उद्धित' किए जाने का भी उल्लेख हुआ है जो सम्भवतया अपने पुत्रों द्वारा मरने के लिये छोड़ दिया गया था।[३] लेकिन वृद्ध पिता के परासन के उदाहरण विरल और अपवादस्वरूप ही हैं, इसलिए ऋग्वेद-काल में वृद्धों के परासन को सामान्य प्रचलित प्रथा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।[४]

ऋग्वेद में इस बात का भी संकेत मिलता है कि वृद्धावस्था में जीवित पिता से पुत्र सम्पत्ति प्राप्त कर लेते थे। ऋषि पराशर अग्नि की स्तुति में कहता है : 'तेरी पूजा करके मनुष्य तुझ से, वृद्ध पिता से जैसे, धन प्राप्त करते हैं।'[५]

पिता जीवित रहते ही अपने पुत्रों में सम्पत्ति का बँटवारा कर देता था, यह बात तैत्तिरीयसंहिता से भी प्रकट होती है। मनु ने स्वयं पुत्रों में दाय का बँटवारा किया था।[६] ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार मनु के पुत्रों ने सम्पत्ति का

---

१. उत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीवत्युप ह वा एनं पूर्ववयसे पुत्रा जीवन्ति।
शत० ब्रा० १२,२,३,४।

२. गो० ब्रा० ४,१७।

३. पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम्।
ऋक् ८,५१,२।
ऊपर पृ० १३२ भी देखिए।

४. देखिये, ऊपर पृ० १३४।

५. वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त।
ऋक् १,७०,५।

६. तैत्ति० सं० ३,१,९,४।

बँटवारा स्वयं कर लिया था और छोटे भाई नाभानेदिष्ठ को कोई भाग नहीं दिया था।[1] जैमिनीयब्राह्मण की अभिप्रतारण की कथा के अनुसार तो वृद्ध एवं रुग्ण पिता की उपेक्षा करके उसकी अनिच्छा होते हुए भी पुत्रों ने दाय का विभाग कर लिया था।[2]

१०. पिता-पुत्र का परस्पर व्यवहार

ऋग्वेद में उपलब्ध साक्ष्य से पिता और पुत्र का सम्बन्ध एवम् परस्पर व्यवहार प्रायेण अत्यन्त स्पृहणीय तथा मधुर लक्षित होता है। अनेक स्थलों में देवों तथा उपासक के मध्य पिता और पुत्र के सम्बन्ध की स्थापना की गई है। ऋषि नृमेध इन्द्र की स्तुति करते हुए कहता है: 'हे वसु शतक्रतु, तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है; हम तेरे अनुग्रह की कामना करते हैं।'[3] ऋषि विरूप अग्नि की स्तुति में कहता है: 'हे अग्नि, हम तुम्हारी सहायताओं को पिता की सहायताओं के समान जानते हैं; इसलिये तेरे अनुग्रह की कामना करते हैं।'[4]

पिता पुत्र की सत्तामात्र से अत्यधिक आनन्द, सुख तथा सन्तोष का अनुभव करता था। एक ऋषि ने अग्नि से प्रार्थना की है कि वह उसके स्तोम से उसी प्रकार प्रसन्न होवे, जैसे मनुष्य अपने औरस पुत्र से प्रसन्न होता है।[5] ऋषि वसिष्ठ ने भी वास्तोष्पति से प्रार्थना की है कि हम तेरी मित्रता में शिथिल न होवें; तू हम से, पिता पुत्र से जैसे, प्रसन्न हो।[6] ऋग्वैदिक पिता भी अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह रखता था और उसे अङ्क में बैठाकर क्रीडा करने में अपना अहोभाग्य समझता था। पुत्र भी पिता के अङ्क में बैठने की तीव्र इच्छा रखते थे। ऋग्वेद में पिता और पुत्र की इस इच्छा का अनेक

---

१. ऐतरेयब्राह्मण ५,१४।

२. जै० ब्रा० ३,१५६ (नागपुर, १९५४)।

३. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ ऋक् ८,९८,११।

४. विद्मा हि ते पुरा वयमग्ने पितुर्यथावसः।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ ऋक् ८,७५,१६।

५. जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात।
ऋक् ३,१५,२।

६. अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व।
ऋक् ७,५४,२।

बार संकेत किया गया है । ऋषि कण्व घौर ने मरुतों से प्रार्थना की है : 'कब तुम मुझे अपने हाथों में धारण करोगे, जैसे प्रिय पिता पुत्र को हाथों में धारण करता है ।'[१] अत्रि ऋषि ने अग्नि के ऊपर स्थापित हव्यपात्र की उपमा पिता की गोद में बैठे प्रिय पुत्र से दी है ।[२] ऋक् में ९,१०१,१४ में वस्त्र से आच्छादित सोम की उपमा माता-पिता की भुजाओं में आच्छादित पुत्र से दी गई है । ऋक् १०,२२,३ में इन्द्र की स्तुति में कहा गया है कि इन्द्र शक्तिशाली वज्र को ऐसे धारण करता है, जैसे पिता प्रिय पुत्र को धारण करता है । इसी प्रकार अग्नि की स्तुति में कहा गया है : 'हे अग्नि, पूजा करते हुए वध्र्यश्व ने तुम्हें इस प्रकार धारण किया, जैसे पिता अपने अङ्क में पुत्र को धारण करता है ।'[३]

पिता पुत्र के बाल-सुलभ अनुनयपूर्ण आग्रहों और इच्छाओं का ध्यान रखता था । ऋक् ३,५३,२ में ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है : 'हे मघवन्, ठहरो, दूर न जाओ । मैं तुम्हारे लिये भलीभाँति सवन किये हुये सोम का यजन करता हूँ । हे शक्तिशाली इन्द्र, मैं स्वादिष्ट वाणी से तुम्हारे वस्त्र का आँचल पकड़ता हूँ, जैसे पुत्र पिता का आँचल पकड़ लेता है ।'[४] ऋक् १,१०४,९ में कुत्स आङ्गिरस ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि आह्वान करने पर इन्द्र हमारे वचन को पिता के समान सुने ।[५] पिता और पुत्र के बीच में कोई भय अथवा आतङ्क का व्यवधान नहीं था । पुत्र पिता के पास निस्संकोच आ जा सकता था । अग्नि की स्तुति में कहा गया है : 'हे अग्नि, तुम हमारे लिये ऐसे सुगम बनो, जैसे पिता पुत्र के लिये सुगम होता है ।'[६] अनेक स्थलों में देवों को पिता के समान 'सुहव' और 'सुशंस' कहा गया है ।[७] ऋक् ८,४८,४ में ऋषि प्रगाथ काण्व ने सोम से पुत्र के प्रति पिता के समान सुशेव (सुखकारी) होने की

१. कद्ध नूनं कधप्रियः पिता पुत्रं न हस्तयोः ।
दधिध्वे वृक्तबर्हिषः ॥ ऋक् १,३८,१ ।

२. पितुर्न पुत्र उपसि प्रेष्ठ आ घर्मो अग्निमृतयन्नसादि । ऋक् ५,४३,७ ।

३. पितेव पुत्रमबिभरुपस्थे त्वामग्ने वध्र्यश्वः सपर्यन् । ऋक् १०,६९,१० ।

४. तिष्ठा सु कं मघवन्मा परा गाः सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि ।
पितुर्न पुत्रः सिचमा रभे त इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः ॥

५. पितेव नः शृणुहि हूयमानः ।

६. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । ऋक् १,१,९ ।

७. ऋक् ६,५२,६; १०,३९,१; ४८,१ ।

प्रार्थना की है।[1]

पुत्र के प्रति पिता की उदारता का इस बात से भी स्पष्ट बोध होता है कि इन्द्र की स्तुति करते हुए उसकी उदारता की पिता की उदारता से तुलना की गई है। ऋषि प्रगाथ इन्द्र की स्तुति में कहता है : 'हे इन्द्र, तू मेरे पिता और कंजूस भाई से अधिक उदार है।'[2] ऋषि वसिष्ठ ने भी इन्द्र के प्रति ऐसा ही उद्गार प्रकट किया है : 'हे मघवन्, तुम्हारे अतिरिक्त हमारा कोई बन्धु नहीं है, पिता भी तुमसे अधिक उदार नहीं है।'[3] यहाँ पिता से इन्द्र की उदारता की तुलना से ही यह प्रकट होता है कि पिता का पुत्र के प्रति व्यवहार उदार तथा सहायक होता था। ऋक् ८,८६,४ में इन्द्र के अनुग्रह को पिता के अनुग्रह के समान कहा गया है।[4] यदि पुत्र मूर्खतावश कोई त्रुटि भी कर देता था, तो पिता उसका ध्यान नहीं करता था। ऋक् १०,२५,३ में ऋषि सोम से प्रार्थना करता है : 'हे सोम, यदि मैं मूर्खता के कारण तेरे नियमों का उल्लङ्घन भी करूँ, तो भी तुम मुझे अपने मद के समय ऐसे आनन्दित करो, जैसे पिता पुत्र को करता है।'[5] ऋक् १०,३३,३ में ऋषि कवष ऐलूष ने इन्द्र से पिता के समान होने तथा आनन्दित करने की प्रार्थना की है।[6]

पुत्र भी पिता के स्नेह तथा पालन-पोषण आदि उपकारों के कारण कृतज्ञता के भाव से पिता का सदा सम्मान करता था और उसका कभी निरादर नहीं करता था। ऋग्वेद के मण्डूक-सूक्त में कहा गया है कि एक मेंढक दूसरे शब्द करते हुए मेंढक के समीप इस प्रकार जाता है, जैसे पुत्र निरादर न करके आशीर्वाद देते हुए पिता के पास जाता है।[7] पुत्र के लिये माता तथा पिता

---

१. पितेव सोम सूनवे सुशेवः।

२. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः। ऋक् ८,१,६।

३. न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन।
ऋक् ७,३२,१६।

४. यस्य स्वादिष्ठा सुमतिः पितुर्यथा।

५. उत व्रतानि सोम ते प्राहं मिनामि पाक्या।
अधा पितेव सूनवे वि वो मदे मृळा नो अभि चिद् वधाद् विवक्षसे॥
यह ऋक् अश्विनौ के सूक्त में है। ग्रासमान का विचार है कि इसका देवता इन्द्र है। देखिये, ग्रिफिथ, भाग ३, पृ० ३१३, पादटिप्पणी ४।

६. सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव।

७. अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति। ऋक् ७,१०३,३।

महान् अवलम्बन थे, इसलिये वह उनके चिरायुष्य की कामना करता था। ऋषि ने रुद्र से प्रार्थना की है कि रुद्र हमारे पिता का वध न करे।[1] पुत्र को पिता से अत्यधिक अनुराग होता था। ऋक् १०,६५,१२ में पुरुरवस् उर्वशी से कहता है: 'कब पुत्र उत्पन्न होकर पिता को जानने की इच्छा करेगा? और जब वह मुझे जान लेगा तो उसके अश्रु बह निकलेंगे।'[2] पुरुरवस् का उर्वशी से कहने का अभिप्राय यह है कि जब उनका पुत्र उत्पन्न होगा और यह पूछेगा कि मेरा पिता कौन है और वह कहाँ है, और उसे यह ज्ञात होगा कि उसका पिता त्याग दिया गया है तो उसे दुःख होगा और वह अपने पिता की दयनीय दशा पर आँसू बहायेगा, इसलिए उर्वशी को उसके समीप लौट आना चाहिये। यहाँ उर्वशी के लौट आने के लिये पिता के प्रति पुत्र के अनुराग को हेतु रूप में उपस्थित किया गया है।

पुत्र वृद्ध पिता की उत्तम भोजन खिलाकर सेवा करते थे। ऋक् १,१३०, १ में इन्द्र की स्तुति करते हुए ऋषि परुच्छेप कहता है: 'सोम के साथ उत्तम अन्न वाले हम तुम्हें बल-वृद्धि के लिये बुलाते हैं, जैसे पुत्र पिता को।'[3]

ऋग्वेद में पिता और पुत्र के पारस्परिक वैमनस्य तथा कलह का भी संकेत मिलता है, लेकिन वैमनस्य के उदाहरण केवल सामान्य नियम को सिद्ध करने वाले अपवाद ही हैं। पिता द्वारा दण्डित ऋज्राश्व तथा भुज्यु और पुत्रों के द्वारा त्यागे गये वृद्धों च्यवान और प्रस्कण्व का पहले उल्लेख हो चुका है। ऋग्वेद के प्राचीन भाग में इन्द्र और उसके पिता के कलह का भी उल्लेख हुआ है।[4] ऋक् ४,१८,१२ में इन्द्र विष्णु से वृत्र के वध में सहायता की याचना करता प्रतीत है, परन्तु विष्णु उत्तर देता है: 'जब तुमने अपने पिता को पैर पकड़

१. मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्। ऋक् १,११४,७।

२. कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन्।

३. हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा।
पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये॥

४. ग्रिफिथ के अनुसार इन्द्र का पिता व्यंस था, जिसका ऋक् ४,१८,९ में उल्लेख हुआ है और जिसने इन्द्र को मारने का प्रयत्न किया था। (देखिये, भाग २, पृ० १२४ पादटिप्पणी, ऋक् ४,१८,१२)। परन्तु मैक्डानल के अनुसार इन्द्र का पिता त्वष्टा था जिसको उसने सोम प्राप्त करने के लिये मारा था। (*Vedic Mythology*, pp. 57 and 117)

कर मारा था तब किस देव ने तुम्हारी सहायता की थी।'[1] ऋक् ६,४४,२२ में इन्द्र द्वारा अहितकारी पिता के शस्त्र चुराने तथा उसकी माया को नष्ट करने का उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने त्वष्टा को अभिभूत करके और सोम को चुराकर चमू में पान किया था।[2] परन्तु पूर्ववर्ती ऋक् में इन्द्र का पिता के गृह में सोमपान का कथन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्र ने अपने पिता त्वष्टा के सोम को उसकी इच्छा के विरुद्ध पिया था।[3] इससे प्रतीत होता है कि बलवान् पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध उसकी सम्पत्ति का अपहरण कर लेते थे।

यहाँ यह स्मरणीय है कि पिता और पुत्र के कलह का स्पष्ट रूप से संकेत केवल देवों के प्रसङ्ग में ही किया गया है। इन स्थलों में इष्टदेव के बल पराक्रम का वर्णन करके उसे प्रसन्न करना उपासक का मुख्य प्रयोजन रहा है। इन उल्लेखों से विपरीत सामान्यतया पुत्र पर पिता का प्रभाव ही सिद्ध होता है क्योंकि जब सामान्यतया कोई पुत्र पिता के विरुद्ध आचरण न कर सकता हो, तब ही यह कहने का कोई अभिप्राय हो सकता है कि अमुक देव अपने पिता को भी कुछ नहीं समझता, जैसा कि इन्द्र की स्तुति में कहा गया है: कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत् पितुर्जनितुर्यो जजान।[4]

११. पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार

ऋग्वैदिक आर्यों के परिवार पितृवंशीय थे, इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार केवल पुरुषों तक सीमित हो। यद्यपि ऋग्वेद में सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी सम्भव यही है कि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र हों। यदि ऋक् ३,३१,२ की यास्क और सायण की व्याख्या वस्तुतः ऋग्वैदिक काल की अवस्था का चित्रण करती है[5] तो स्पष्ट ही पैतृक-सम्पत्ति पर पुत्र

---

१. कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य। ऋक् ४,१८,१२।

विष्णु के कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे इन्द्र ने अकेले ही पिता का वध कर दिया था, उसी प्रकार अब भी अकेले ही शत्रुओं का वध कर सकता है।

२. त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूयामुष्या सोममपिबच्चमूषु। ऋक् ३,४८,४।

३. *Vedic Mythology*, p. 57.

४. ऋक् ४,१७,१२।

५. देखिये, ऊपर पृष्ठ १५३ पा० टि० ४।

का अधिकार होता था, पुत्री का पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। वह अपने भाई से केवल भरण-पोषण प्राप्त कर सकती थी और भाई विवाह योग्य अवस्था हो जाने पर उसके विवाह के लिए उत्तरदायी होता था। पिता से प्राप्त हुए धन का ऋग्वेद में अन्यत्र भी उल्लेख हुआ है। ऋक् १,७३,१ में अग्नि को पिता से प्राप्त होने वाले धन के समान बलदायक कहा गया है।[१] ऋक् १,७३,९ में उपासक अग्नि से प्रार्थना करता है : 'हम पिता से प्राप्त धन के स्वामी होवें और हमारे यजमान १०० वर्ष की आयु प्राप्त करें।'[२] ऋक् ६,७०,५ में इन्द्र और सोम की पुत्रों को पहुँचने वाला प्रशंसनीय धन देने के कारण प्रशंसा की गई है।[३] ऋक् ८,४८,७ में उपासक ने सोम की स्तुति में कहा है कि हम इच्छुक मन से पैतृक धन के समान सोम का पान करें।[४]

पुत्र पिता की मृत्यु के उपरान्त ही पैतृक सम्पत्ति नहीं प्राप्त करते थे, बल्कि कभी-कभी पिता की जीवितावस्था में भी सम्पत्ति का विभाग हो जाता था। ऋक् १,७०,५ में अग्नि की स्तुति में कहा गया है कि लोग तेरी पूजा करते हैं और, वृद्ध पिता से जैसे, धन को प्राप्त करते हैं। पुत्र पिता से सम्पत्ति में 'अंश' पाने का अधिकारी वयस्क होने पर ही होता था, जैसा कि ऋक् ३,४५,४ के सायणकृत भाष्य से प्रतीत होता है।[५] तैत्तिरीयसंहिता में नाभानेदिष्ठ को अपना भाग न मिलने का कारण 'ब्रह्मचर्यवास' कहा है।[६]

उत्तरवर्ती साहित्य में पिता से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को 'दाय' कहा गया है। ऋग्वेद में 'दाय' शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है।[७] लेकिन वहाँ इसका अर्थ श्रम का प्रतिफल है। 'दाय' शब्द का पारिभाषिक अर्थ—

---

१. रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः।

२. ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः।

३. इन्द्रासोमा युवमङ्ग तरुत्रमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथे।

४. इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।

५. 'भरांशं न प्रतिजानते' का भाष्य करते हुए सायण ने लिखा है : यथा पिता प्रतिजानते व्यवहारज्ञाय पुत्राय स्वकीयस्य धनस्य भागं ददाति तद्वत्।

६. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्स नाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत्।
तैत्ति० सं० ३,१,९,४।

७. श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः।
ऋक् १०,११४,१०।

सम्पत्ति के स्वामी के जीवनकाल में अथवा मृत्यु होने पर उत्तराधिकारियों में विभक्त होने वाली सम्पत्ति—में सर्वप्रथम प्रयोग तैत्तिरीयसंहिता में हुआ है, जहाँ मनु द्वारा पुत्रों में सम्पत्ति के बँटवारे का उल्लेख किया गया है।[1] ऋग्वेद में पिता से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को 'रिक्थ' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है।[2] यद्यपि निघण्टु में 'रिक्थ' शब्द सामान्यतया धन का पर्यायवाची कहा गया है, लेकिन निरुक्तकार को 'रिक्थ' का अर्थ 'दाय' इष्ट प्रतीत होता है।[3] ऐतरेयब्राह्मण में भी 'रिक्थ' 'दाय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] ऋग्वेद में दाय के लिए दूसरा शब्द 'रेक्णस्' है, जो सामान्यतया धन का पर्यायवाची भी है।[5] ये दोनों शब्द √रिच् 'शेष रहना' धातु से निष्पन्न हैं। ऋक् ८,५६,२ से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्जित सम्पत्ति से पैतृक सम्पत्ति का भेद किया जाता था; पैतृक सम्पत्ति को 'नित्य' धन समझा जाता था।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पिता के अनुग्रह से होता था, पिता की सम्पत्ति में उसका जन्म से स्वत्व नहीं था। यदि पिता सशक्त होता था तो वह किसी भी पुत्र को उत्तराधिकार से वञ्चित कर सकता था[6] और अपनी इच्छानुसार किसी भिन्न कुलोत्पन्न को भी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बना सकता था।[7] वैदिक युग में

१. तैत्तिरीयसंहिता ३,१,९,४ (ऊपर पृ० २०२ पा० टि० ६ में उद्धृत)।

२. न जामये तान्वो रिक्थमारैक्। ऋक् ३,३१,२।

३. मिलाइये, निरुक्त ३, ५।

४. ऐत० ब्रा० ७, १८।

५. *Vedic Index*, II, 225.

६. मनु ने अपने छोटे पुत्र नाभानेदिष्ठ को अपनी सम्पत्ति का भाग नहीं दिया, परन्तु कुछ सूक्तों का ज्ञान दिया, जिनके द्वारा स्वर्ग की कामना से यज्ञ करने वाले आङ्गिरसों को यजन कराकर नाभानेदिष्ठ ने उनके सहस्र पशु प्राप्त किये। प्रो० रौथ का विचार है कि नाभानेदिष्ठ और मनु कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं, इसलिए तैत्तिरीयसंहिता तथा ऐतरेयब्राह्मण के नाभानेदिष्ठ-उपाख्यान का कोई महत्त्व नहीं है। परन्तु प्रो० रौथ का यह मत समुचित प्रतीत नहीं होता। चाहे नाभानेदिष्ठ कोई ऐतिहासिक पुरुष न रहा हो, फिर भी इस उपाख्यान का वैदिक आर्यों के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

७. विश्वामित्र ने शुनःशेप आजिगर्ति को कृत्रिम पुत्र बनाकर अपना उत्तराधिकारी बनाया था। देखिये, ऐत० ब्रा० ७,१८।

पारिवारिक सम्पत्ति पर स्वत्व के विषय में प्रो० मैक्डानल और कीथ का मत है कि पारिवारिक सम्पत्ति घर के मुखिया की होती थी, जो प्रायः पिता होता था। परिवार के अन्य सदस्यों के इस पर केवल नैतिक अधिकार (moral claims) थे, जिनकी पिता उपेक्षा कर सकता था। लेकिन यदि पुत्र बलवान् होते थे, तो वे पिता को सम्पत्ति के बँटवारे के लिए विवश कर सकते थे।[१]

पुत्र को पिता से मिलने वाली सम्पत्ति क्या होती थी, इस विषय में ऋग्वेद में कोई स्पष्ट संकेत नहीं है। लेकिन यह सम्भव प्रतीत होता है कि जो भी पिता की वैयक्तिक सम्पत्ति होती होगी, वह पुत्र को मिलती होगी। ऋक् १,३०,९ से प्रतीत होता है कि पुत्र को पिता से घर विरासत में मिलता था। उपासक इन्द्र की स्तुति करता है: 'मैं शक्तिशाली वीर (इन्द्र) को प्राचीन घर की ओर बुलाता हूँ, जिसको पहले तेरे पिता ने बुलाया था।'[२] यहाँ पुरोहित यजमान से यह कहता प्रतीत होता है कि मैं इन्द्र को तेरे उस प्राचीन घर में बुलाता हूँ, जहाँ तेरा पिता बुलाया करता था। तैत्तिरीयसंहिता और ऐतरेय-ब्राह्मण के मनु-नाभानेदिष्ठ उपाख्यान से प्रतीत होता है कि विरासत में मिलने वाली सम्पत्ति में पशु भी होते थे, क्योंकि मनु ने नाभानेदिष्ठ को उसके भाग की क्षति-पूर्ति के लिये आङ्गिरसों के सहस्र पशु प्राप्त करने का उपाय बतलाया था। प्राचीन ऋग्वेद-काल में पशु-धन ही महत्त्वपूर्ण धन था। लेकिन ऋग्वेद के अर्वाचीन भाग में कृषि की प्रधानता लक्षित होती है।[३] ऋग्वैदिक साक्ष्य से कृषि-भूमि पर भी पिता का वैयक्तिक स्वत्व प्रतीत होता है। ऋग्वेद में क्षेत्रों की पैमाइश का उल्लेख हुआ है,[४] जिससे कम से कम खेती के लिए भूमि पर वैयक्तिक स्वत्व का संकेत होता है।[५] ऋग्वेद में उर्वरासा[६], उर्वराजित्[७] तथा क्षेत्रसा[८] आदि शब्दों के प्रयोग से भी क्षेत्रों पर वैयक्तिक स्वत्व का संकेत मिलता है। ऋक् ८,२१,३ में इन्द्र का विशेषण उर्वरा-पति दिया गया है,

१. *Vedic Index*, I, 351.

२. देखिये, गेल्डनर : *Der Rigveda* S. V.; सायण ने 'प्रत्नस्यौकसः' का अर्थ स्वर्ग किया है।

३. देखिये ऋक् १०,३४,१३; १०,१०१,४; ५।

४. ऋक् १,११०,५।

५. *Vedic Index*, I, 99; *Vedic Age*, *p*. 358.

६. ऋक् ४,३८,१; ६,२०,१।

७. ऋक् २,२१,१।

८. ऋक् ४,३८,१।

जो कदाचित् मनुष्य के लिए प्रयुक्त होने वाले विशेषण का स्थानान्तरण है।[1] ऋग्वेद में खेतों को बच्चों के साथ गिना गया है।[2] ऋग्वेद ८,९१, ५–६ में अपाला ने उर्वरा का अपने पिता के सिर के साथ वैयक्तिक वस्तु के रूप में उल्लेख किया है।[3] ऋग्वेद में पुत्रों की सहायता से खेतों के जीते जाने का भी उल्लेख हुआ है।[4] इससे ऋग्वेद-काल में कृषि-भूमि पर वैयक्तिक अधिकार प्रमाणित हो जाता है। सर हेनरी मेन[5] तथा बाडन पावेल[6] का यह मत कि पहले भूमि के रूप में स्थावर सम्पत्ति पर पंचायतों का सामूहिक अधिकार होता था; बाद में इन सामूहिक अधिकारों में से वैयक्तिक अधिकारों की उत्पत्ति हुई, ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं के काल के लिए सत्य नहीं है। उनका भारतवर्ष में भूमि पर सामुदायिक स्वत्व सम्बन्धी विचार पँजाब तथा मद्रास में पट्टीदारी, भाईचारी और मिरासीदारी रूपों में पाये जाने वाले भूमि पर संयुक्त स्वामित्व के ऊपर आधारित है। हावेल का विचार है कि भारतीय आर्यों की ग्राम संस्था का विकास शताब्दियों तक चलने वाली आदान-प्रदान की प्रक्रिया से हुआ है, जिसकी आधार-शिला संस्कृति की आदिम अवस्था में वर्तमान द्रविड़ों की सामुदायिक स्वत्व प्रणाली है और जिसका ऊपरी भाग आर्यों की उन्नत संस्कृति तथा आर्यों की प्रतिभा से निर्मित संगठन है।[7] हावेल का मत है कि आर्यों में केवल चरागाह-भूमि को छोड़कर अन्य कृषि-भूमि अथवा पशु-सम्पत्ति में सामुदायिक स्वत्वों की कोई मान्यता नहीं थी।[8] *Vedic Index* के लेखकों का यह कथन सर्वथा सत्य है कि वैदिक वाङ्मय में सम्पत्ति पर ग्राम या किसी अन्य समुदाय के सामूहिक स्वामित्व का कोई संकेत नहीं है और न ही सामूहिक कृषि का कोई

---

१. *Vedic Index*, I, 99.

२. तोके हि ते तनय उर्वरासु। ऋक् ४,४१,६।

३. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय। शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम। अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि॥ ऋक् ८,९१, ५—६।

४. ऋक् ६,२०,१; देखिये ऊपर पृ० १७०।

५. Maine (Sir) H. S.: *Village communities in the East and West* (1883); *Early Law and Custom* (1890).

६. *Indian Village Community* (1899).

७. *Aryan Rule in India, p. 15.*

८. वही, पृ० १४।

उल्लेख है ।[१]

पिता से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति कदाचित् पिता के हथियार भी थे । ऋक् १०,८,८ में आप्त्य के विषय में कहा गया है कि पिता के आयुधों के प्रयोग को जानने वाले आप्त्य ने इन्द्र द्वारा प्रेरित होकर युद्ध किया । ऋक १०,१८,९ में भी मृत व्यक्ति के हाथ से धनुष ले लेने का उल्लेख हुआ है ।[२]

ऋग्वेद-काल में सम्पत्ति का बँटवारा किस प्रकार होता था, इसके विषय में भी जानकारी का कोई साधन नहीं है । सम्पत्ति किसी एक पुत्र को मिलती थी या सब पुत्रों में सम या विषम भागों में बाँटी जाती थी, इस विषय का कोई स्पष्ट और निर्णायक संकेत नहीं मिलता । सम्पत्ति के बँटवारे के नियमों का सर्वप्रथम विवेचन धर्मसूत्रों में किया गया है । इससे पूर्व के साहित्य में सम्पत्ति के बँटवारे या पुत्रों के अधिकारों का केवल आनुषङ्गिक संकेत हुआ है । ऋक् १,७०,५ से प्रतीत होता है कि सम्पत्ति सब पुत्रों में बँटती थी । शतपथ-ब्राह्मण १,७,२,२२ तथा ३,२,१,८ में कहा गया है कि देव और असुरों ने अपने पिता प्रजापति की सम्पत्ति को बराबर भागों में बाँटा था । परन्तु परवर्ती वैदिक साहित्य में, साथ ही, ऐसे भी उल्लेख हैं, जिनमें पिता द्वारा प्रिय पुत्रों के साथ पक्षपात दिखलाया गया है ।[३] लेकिन यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि पिता कौन-से पुत्र के प्रति अधिकतर पक्षपात करता था । सम्भव यह है कि ज्येष्ठता के कारण ज्येष्ठ पुत्र पिता का सबसे प्रिय और अनुग्रह का पात्र रहता हो । विश्वामित्र ने देवरात को ज्येष्ठ पुत्र के रूप में गोद लिया था और इसलिए वह विश्वामित्र की सम्पत्ति का अधिकारी बना ।[४] तैत्तिरीयसंहिता २,५,२,७ म ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का अधिकारी बनाने का उल्लेख हुआ है ।[५] ऐतरेयब्राह्मण में बृहस्पति द्वारा इन्द्र का द्वादशाह यज्ञ से

---

१. *Vedic Index*, *I*, 100.

२. ऋग्वैदिक आर्यों में कदाचित् मृत व्यक्ति की नित्यप्रति के प्रयोग की वस्तुओं को उसके साथ जलाने अथवा गाड़ने की प्रथा प्रचलित नहीं थी । लेकिन आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार क्षत्रिय के साथ उसका धनुष तोड़ कर चिता में रखा जाता था (४,२,२२) । यज्ञपात्र भी मृतक के साथ रक्खे जाते थे । (वहीं, ४,३,१—१६) ।

३. शत० ब्रा० ५,४,२,८; ९; का० सं० ११, ३; आश्व० श्रौ० सू० २,३,१३; पञ्च० ब्रा० १६,४,४ ।

४. ऐतरेयब्राह्मण ७,१८ ।

५. तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति ।

यजन किये जाने के कारण उसकी ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता स्वीकार की गई है।[1] महामहोपाध्याय काणे ने तैत्तिरीयसंहिता तथा ऐतरेयब्राह्मण के उपर्युक्त उल्लेखों से वैदिक काल में ज्येष्ठ पुत्र के पैतृक सम्पत्ति में एकाधिकार तथा विशेषाधिकार (उद्धार) की प्रथा का प्रचलन स्वीकार किया है।[2] लेकिन ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकार का सबसे स्पष्ट संकेत इस तथ्य में मिलता है कि विश्वजित् यज्ञ में यजमान को कहा गया है कि वह ज्येष्ठ पुत्र के भाग को निकालकर ही अपनी प्रत्येक वस्तु दक्षिणा में दे सकता है।[3] पञ्चविंशब्राह्मण के एक प्रसङ्ग में पुत्रों में सम्पत्ति के असमान विभाग का संकेत मिलता है। विश्वजित् यज्ञ के प्रसङ्ग में एक मनोरञ्जक आख्यान दिया गया है—'प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया, लेकिन इन्होंने प्रजापति की श्रेष्ठता स्वीकार न की। उसने दिशाओं और प्रजाओं का रस लिया और इनकी एक माला (स्रक्) बनाई और उसे धारण किया, तब प्रजाओं ने उसे श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया। उसने चाहा कि मेरी प्रजा में इन्द्र श्रेष्ठ माना जाये। इसलिये उसने यह माला इन्द्र को पहना दी और तब प्रजा ने इन्द्र को श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया, क्योंकि उन्होंने (प्रजा ने) जो (माला) पिता के शरीर पर देखी थी, वही इन्द्र के शरीर पर थी। इसलिए पुत्रों में से जो पुत्र (पिता का) सबसे बड़ा या उत्तम दाय प्राप्त करता है, उसी को (लोग) यह समझते हैं कि वह संसार में सफलता प्राप्त करेगा।'[4]

ऊपर के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-ऋग्वैदिक काल में आर्य लोगों में विभिन्न प्रदेशों में सम्पत्ति के विभाग के विषय में अनेक प्रकार की प्रथायें प्रचलित थीं और सब वैदिक आर्यों में कोई सर्वव्यापक प्रथा नहीं थी। सम्पत्ति के विभाग के विषय में, इसलिये, ऋग्वैदिक काल के लिये भी ऐसी ही अवस्था की कल्पना की जा सकती है। कुछ विद्वान् ऋग्वेद १,१७०,२ को ज्येष्ठाधिकारपरक लगाते हैं।[5] इस ऋक् का यह अभिप्राय समझा जाता है

१. सोऽब्रवीद् बृहस्पतिं याजय मा द्वादशाहेनेति तमयाजयत्ततो वै तस्मै देवा ज्यैष्ठ्याय श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त। ऐत० ब्रा० ४,२५।

२. *Vedic Basis of Hindu Law*, p. 20

३. Keith : *Religion and Philosophy of the Veda*, p. 336; कात्यायनश्रौतसूत्र, २२,१,६-१०।

४. पञ्चविंशब्राह्मण १६,४,१-४ (तस्माद् यः पुत्राणां दायं धनतममिवोपैति तं मन्यन्तेऽयमेवेदं भविष्यतीति)।

५. Cf. Kapadia (Dr.), K. M. : *Hindu Kinship*, p. 206.

कि ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण इन्द्र यज्ञ में हवि का अधिकारी था, परन्तु अगस्त्य ने इन्द्र के स्थान पर मरुतों को हवि दी, इसलिये इन्द्र अगस्त्य ऋषि से रुष्ट हो गया, तब अगस्त्य ने इन्द्र से कहा : 'हे इन्द्र, हमें क्यों मारना चाहते हो ? मरुत् तुम्हारे भाई हैं; उनके साथ भलीभाँति मिलकर (हवि का) उपभोग करो, हमें युद्ध में न मारो।'[१] यास्क के अनुसार ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त की पृष्ठभूमि यह है कि अगस्त्य ने इन्द्र को हवि निरूपित करके मरुतों को प्रदान करनी चाही, इस पर इन्द्र ने आकर क्रोध में विलाप किया।[२] इस संवादात्मक सूक्त की पृष्ठभूमि चाहे जो हो, लेकिन ऊपर की ऋक् से यह स्पष्ट है कि किसी सम्पत्ति का सब भाई मिलकर उपभोग करते थे, जैसा कि अगस्त्य ने इन्द्र को भाई मरुतों के साथ मिलकर उसके द्वारा दी गई हवि का उपभोग करने की सलाह दी है। इसलिए इस ऋक् को पैतृक सम्पत्ति का ज्येष्ठ पुत्र को एकमात्र अधिकारी सिद्ध करने के लिये प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

धर्मशास्त्रों में ज्येष्ठ पुत्र का विशेषाधिकार इस रूप में भी स्वीकार किया गया है कि ज्येष्ठ पुत्र अन्य पुत्रों की अपेक्षा अधिक भाग अथवा उत्तम भाग प्राप्त करे।[३] वसिष्ठधर्मसूत्र में ज्येष्ठ पुत्र का दुगुना भाग कहा गया है।[४] इसका आधार कदाचित् ऋक् ६,६९, ८ है।[५] तैत्तिरीयसंहिता ७,१,५,५ के अनुसार इस ऋक् में इन्द्र और विष्णु में सहस्र गायों के विभाजन का वर्णन है। 'सहस्र में से दो भाग इन्द्र प्राप्त करे और एक भाग विष्णु।'[६]

---

१. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः। ऋक् १,१७०,२।

२. अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे। निरुक्त १,४ (बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण)।

३. गौ० ध० सू० २८,५—८; बौ० ध० सू० २,२,६—७; आप० ध० सू० २,६,१३,१२।

४. द्व्यंशं ज्येष्ठो हरेत्। वसिष्ठ ध० सू० १७,४२।

५. यह ऋक् तै० सं० ३,२,११,२; ७,१,६,७; अथर्व सं० ७,४४,१; मै० सं० २,४,४५; काठ० सं० १२,१४ में भी आई है।

६. अथ या सहस्रतम्यासीत् तस्यामिन्द्रश्च विष्णुश्च व्यायच्छेतां स इन्द्रोऽमन्यतानया वा इदं विष्णुः सहस्रं वर्क्ष्यत इति तस्यामकल्पेतां द्विभाग इन्द्रस्तृतीये विष्णुस्तद्वा एषाऽभ्यनूच्यत उभा जिग्यथुरिति।

सायण ने तैत्तिरीयसंहिता में इस ऋक् का भाव निम्न प्रकार दिया है—'हे विष्णु, जब इन्द्र में और तुम में परस्पर स्पर्धा हुई तो सहस्र गायों को तीन भागों में बाँटकर, इन्द्र के दो भाग, विष्णु का एक भाग, इस प्रकार प्राप्त किये।'[१] परन्तु सायण ने ऋग्वेद में इस ऋक् का व्याख्यान करते हुए इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा असुरों के साथ बतलाई है और इसके प्रमाण के लिए ऐतरेयब्राह्मण (६,१५) उद्धृत किया है। वहाँ सायण ने 'त्रेधा सहस्रं वि तदेरयेथाम्' की व्याख्या सर्वथा भिन्न की है। इसलिए ऋग्वेद-काल में ज्येष्ठ पुत्र के सम्पत्ति में इस प्रकार के विशेषाधिकार के लिए सायण-भाष्य को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इन्द्र और विष्णु की पारस्परिक स्पर्धा की कल्पना उत्तर काल की उपज है। ऋग्वेद में इन्द्र और विष्णु को कहीं प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रदर्शित नहीं किया गया है, प्रत्युत विष्णु को इन्द्र के मित्र और सहकारी के रूप में प्रदर्शित किया गया है।[२]

यद्यपि ऋग्वेद में ज्येष्ठ पुत्र के सम्पत्ति में एकाधिकार अथवा विशेषाधिकार के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी ऋग्वेद-काल के लिए भी ज्येष्ठ पुत्र के इन अधिकारों का निषेध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि यह नितान्त सम्भव है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् अथवा पिता के अशक्त होने पर उसके जीवन-काल में भी ज्येष्ठ पुत्र ही पारिवारिक सम्पत्ति का प्रबन्ध करता हो तथा अविवाहित भाई और बहनों के पालन-पोषण के लिए उत्तरदायी रहता हो। और इस कारण उसका पारिवारिक सम्पत्ति में विशेषाधिकार माना जाने लगा हो। ऋक् ८,१,६ से प्रकट है कि भाई पर आश्रित रहने की घटनायें उस काल में होती रहती थीं।

१२. पुत्र के निजी नाम के साथ पैतृक नाम का प्रयोग

ऋग्वेद में पुत्र के वैयक्तिक नाम के साथ प्रायः पैतृक या वंशीय नाम का प्रयोग पाया जाता है। यह वंशीय नाम कभी पिता के वैयक्तिक नाम से निष्पन्न होता है और कभी किसी अन्य वास्तविक या कल्पित पूर्वज के नाम

---

१. हे विष्णो त्वमिन्द्रश्चोभौ यदस्पृधेथां यदा परस्परं स्पर्धितवन्तौ तत्तदा गोसहस्रं त्रेधा विभज्यैरयेथामिन्द्रस्य द्वौ भागौ विष्णोरेको भाग इत्येवं प्राप्तवन्तौ। सायणभाष्य तैत्ति० सं० ७,१,५,५ (हरिदत्त वेदालङ्कार : हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ४३९, पा० टि० ८ में उद्धृत)।

२. Macdonell : *Vedic Mythology*, pp. 39—40.

पर। ऋग्वेद में वंशीय नाम केवल कुछ अपवादों[1] को छोड़कर पुरुषों के नाम पर हैं, जिससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों में वंशानुक्रम पुरुष से गिना जाता था, न कि स्त्री से, जैसा कि मातृपक्षीय परिवार वाले समाजों में होता है। कुछ विद्वानों ने छान्दोग्योपनिषत् तथा वंशब्राह्मण में स्त्रियों के नामों पर आधारित वंशनामों की बहुलता देखकर वैदिक आर्यों में मातृवंशीय परिवार होने का अनुमान किया है। लेकिन छान्दोग्योपनिषत् तथा वंश-ब्राह्मण के साक्ष्य से ऋग्वैदिक आर्यों में मातृवंश की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती संहिताओं का साक्ष्य ठीक इससे विपरीत अवस्था सूचित करता है। उत्तरकाल में मातृक नामों की प्रचुरता का कारण कदाचित् बहु-पत्नी-प्रथा अथवा मातृवंशीय आदिम निवासियों का सम्पर्क है। डा० कापडिया का विचार है कि उत्तरकाल में जाति-प्रथा के बद्धमूल हो जाने पर अनुलोम विवाह की प्रथा के कारण वंशानुक्रम का परिवर्तन हुआ है।[2] परन्तु अनुलोम विवाह की प्रथा ऋग्वेद-काल में मातृक नामों के प्रयोग का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि ऋग्वेद-काल में वैदिक आर्य पृथक्-पृथक् जातियों में विभक्त नहीं थे।

ऋग्वेद-काल में पुत्र के नाम के साथ पिता के नाम के प्रयोग की प्रथा का कारण ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो सकता। इसका कारण या तो किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को उस नाम के अन्य व्यक्तियों से पृथक् करने की भावना हो सकती है अथवा पिता अथवा अन्य पूर्वजों के नाम के साथ जुड़ी हुई प्रतिष्ठा तथा उच्चता की भावना। इनमें से दूसरा कारण अधिक सम्भव प्रतीत होता है। ऋग्वैदिक पुत्र अपने पिता अथवा अन्य पूर्वज के नाम को उपाधि के रूप में प्रयुक्त करते थे और उनके साहचर्य में गर्व अनुभव करते थे। उपनिषत्काल में पिता का ज्ञात न होना अतिलज्जास्पद माना जाता था और अज्ञात-कुल व्यक्ति को अनेक सामाजिक बाधाओं का सामना करना पड़ता था।[3] ऋग्वेद १,१६४,२२ में भी पिता के विषय में अज्ञान के कारण होने वाली असफलताओं की ओर संकेत किया गया है।[4]

---

१. मामतेय (ऋक् १,१५८,६); ऐल (ऋक् १०,९५,१८); सारमेय (ऋक् ७,५५,२)।

२. Kapadia (Dr.) K. M. : *Hindu Kinship*, p 290.

३. उदाहरणार्थ, सत्यकाम जाबाल (छान्दोग्योपनिषत्, ४,४,१ तथा आगे)।

४. तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद।

ऋग्वेद में पुत्र के नाम के साथ पिता अथवा पूर्वज के नाम का प्रयोग अनेक प्रकार से किया गया है। प्रायः पिता अथवा पूर्वज के नाम से अपत्य अर्थ में विशेषण शब्द बना लिया गया है, और तब उसका पुत्र के नाम के साथ विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, 'दध्यङ् आथर्वण' (१,११६,१२) 'कुमार साहदेव्य' (४,१५, ७—१०); 'ऋजिश्वन् वैदथिन' (४,१६,१३); 'पौरुकुत्स्य त्रसदस्यु' (५,३३,८) 'ध्वन्य लक्ष्मण्य' (५,३३,१०), 'मनु सांवरणि' (८,५१,१), 'कुरुश्रवण त्रासदस्यव' (१०,३३,४) आदि। कभी पुत्र अथवा अनुवंशज का केवल पिता अथवा पूर्वज के नाम से निष्पन्न विशेषण शब्द से ही निर्देश किया गया है, उदाहरणार्थ, 'दौर्गह' (४,४२,८), औशिज (५,४१,५), प्रातर्दनि (६,२६,८) पैजवन (७,१८,२२) पौर (८,३,१२), तौग्र्य (८,५ २२), काण्व (८,६,३) आदि। कभी-कभी जब किसी एक व्यक्ति का निर्देश अभीष्ट नहीं होता, बल्कि सामान्यतया सब पुत्रों अथवा अनुवंशजों का निर्देश करना अभीष्ट होता है, तब पिता अथवा पूर्वज के नाम का बहुवचन में प्रयोग किया गया है[1], उदाहरणार्थ, गोतमाः (४,३२,१२); प्रियमेधासः (८,६९,१८); वसिष्ठासः (१०,६६,१४), सुमित्रेषु (१०,६९,७) आदि। कभी पुत्र का निर्देश पिता के नाम के साथ (कभी षष्ठी विभक्ति में और कभी समास में) पुत्र के वाचक शब्द लगाकर किया गया है, उदाहरणार्थ, 'अथर्वणः पुत्रः' (दध्यङ्, ६,१६,१४) 'पुत्रः कण्वस्य' (वत्स, ८,८,८) 'ऋक्षस्य सूनवि' (८,६८,१५), 'नपान्मित्रातिथेः' (उपमश्रवस्, १०,३३,७), 'प्लतेः सूनुः' (गय, १०,६३,१७; ६४,१७)। ऋग्वेद में पुत्र के निजी नाम का अकेले भी प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद के साक्ष्य से यह नहीं कहा जा सकता कि पुत्र के निजी नाम और पैतृक नाम में से कौनसा भाग पहले आता था और कौनसा पीछे। ऋग्वेद में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।[2] इसका कारण कदाचित् ऋग्वेद की छन्दोबद्धता है। यदि प्रयोगों की अधिकता को इसमें प्रमाण रूप में रखा जा सके तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पुत्र के निजी नाम का प्रयोग पहले होता था। ऐतरेय-

---

१. बहुवचन में प्रत्यय जुड़े हुए शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, उदाहरणार्थ, रुद्रियासः (ऋक् ५,५७,७)।

२. ऋक् १,११२,२३; ११६,१२; ११७,२२; ४,१५,७ इत्यादि में पुत्र के निजी नाम का पहले प्रयोग हुआ है; लेकिन ऋक् ७,१९,३; ३३,२ में पैतृक नाम का पहले प्रयोग हुआ है।

ब्राह्मण में भी पैतृक नाम का पश्चात् प्रयोग किया गया है।[१] इसलिए यह अधिक सम्भव है कि ऋग्वेद-काल में भी पैतृक नाम का निजी नाम के पश्चात् प्रयोग होता हो।[२]

१३. पिता के पद पर पुत्र का अधिकार

ऋग्वैदिक आर्यों में दाय के समान राजा, ग्रामणी तथा पुरोहित आदि का पद भी, जहाँ कहीं ये पद कुलक्रमागत (hereditary) होते थे, पिता से पुत्र को जाते थे। ग्रामणी के सम्बन्ध में ऋग्वेद से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। ऋग्वेद में ग्रामणी का दो बार उल्लेख हुआ है, जहाँ उसकी बड़ी दक्षिणा देने के कारण प्रशंसा तथा कल्याण-कामना की गई है।[३] उत्तरकालीन संहिताओं और ब्राह्मणों के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामणी राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी होता था। 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों का विचार हैं कि कभी-कभी ग्रामणी का पद कुलक्रमागत भी हो सकता था।[४] राजा और पुरोहित के पदों के विषय में भी दृढ निश्चय से यह नहीं कहा जा सकता कि यह पद ऋग्वेद-काल में कुलक्रमागत ही होते थे। इस विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। डा० जायसवाल का विचार है कि वैदिक युग में राजा का समिति द्वारा चुनाव होता था, राजा को उसके पद से पृथक् भी किया जा सकता था और पदच्युत राजा को पुनः पदासीन किया जा सकता था।[५] लेकिन डा० जायसवाल ने अन्यत्र स्वयं यह स्वीकार किया है कि राजा का चुनाव तथा नियन्त्रण करने वाली समिति का आविर्भाव तथा विकास ऋग्वेद-काल के उत्तर भाग में हुआ है, क्योंकि समिति के उल्लेख ऋग्वेद के अर्वाचीन माने जाने वाले भागों में ही पाये जाते हैं।[६] प्रो० मैक्डानल का विचार है कि ऋग्वैदिक राजा प्रायः कुलक्रमागत होता था; लेकिन कभी कभी विश्

---

१. देखिए, ७,३४; ८,२१।

२. आजकल भी भारतवर्ष के जिन आर्य-भाषाभाषी प्रदेशों में पिता का नाम पुत्र के नाम का भाग होता है, वहाँ पिता के नाम का पश्चात् प्रयोग होता है।

३. ऋक् १०,६२,११; १०७,५।

४. *Vedic Index*, I, 247.

५. Jayaswal (Dr.) K. P. : *Hindu Polity*, pp. 12 and 191.

६. वहीं, पृष्ठ १४।

द्वारा भी राजा का चुनाव होता था।[1] ऋग्वेद में राजाओं की वंशावलि का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, परन्तु ऋग्वैदिक साक्ष्य से तृत्सु और पूरु कबीलों के राजाओं की वंशावलि बनाई जा सकती है, जैसी कि 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने बनाई है,[2] जिससे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक काल में राजा का पद पिता से पुत्र को प्राप्त होता था। ऋक् ७,१८,२५ से प्रतीत होता है कि दिवोदास के पश्चात् सुदास् तृत्सुओं का राजा हुआ था। वसिष्ठ ऋषि मरुतों से प्रार्थना करता है : 'हे वीर मरुतों, तुम सुदास् के पिता दिवोदास के समान इसकी सेवा करो। पैजवन (पिजवन के अपत्य, सुदास्) की इच्छा पूर्ण करो, इसका राज्य (क्षत्र) अनश्वर एवम् स्थिर रहे।'[3] ग्रिफ़िथ का विचार है कि यहाँ 'मरुतः' से कदाचित् मघवाओं या धनी राजन्यों का अभिप्राय है जिनका सुदास् से वही सम्बन्ध है, जो मरुतों का इन्द्र से है।[4]

ऋग्वेद-काल में, कम से कम पूर्व भाग में, आर्य लोगों में व्यवसाय और श्रम का विभाजन कुलक्रमागत नहीं था अर्थात् यह आवश्यक न था कि जो व्यवसाय पिता करता है, पुत्र और पौत्र भी वही व्यवसाय करें। एक परिवार में भिन्न-भिन्न व्यवसायों को करने वाले सदस्य रहते थे। ऋक् ९,११२,३ में एक ऐसे ही परिवार का उल्लेख हुआ है, जिसमें पुत्र ऋषि (कारु) है, पिता वैद्य है, और माता आटा पीसने वाली (उपलप्रक्षिणी) है।[5] परन्तु फिर भी ऋग्वैदिक आर्यों के कुछ परिवारों ने आर्यों के भारत में आक्रमण के समय से ही पवित्र-ज्ञान (अर्थात् देवों सम्बन्धी स्तुतियों) को सुरक्षित रखना, नई स्तुतियों की रचना करना तथा स्तुतियों और हवियों द्वारा देवों को प्रसन्न

---

१. *History of Sanskrit Literature*, p. 158.

२. १,२११ पाद टिप्पणी ६। तृत्सुओं के राजाओं की वंशावलि निम्न प्रकार है—वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास् पूरु राजाओं की वंशावलिः—पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, मित्रातिथि, कुरुश्रवण और उपमश्रवस् आदि। देखिये, ऊपर पृ० १५७ तथा १५८।

३. इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु॥

४. Griffith : *Hymns of the Rigveda*, III, 26, f. n. (VII, 18, 25).

५. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

प्रो० कीथ का विचार है कि सम्भवतया औषधोपचार भी पुरोहित के कर्त्तव्यों में से एक था। (E. R. E., Vol. X, P. 312)।

करना अपना व्यवसाय बना लिया था।[१] देवों की स्तुति में नूतन छन्दों की रचना करने वाले कवियों को 'ऋषि' कहा जाता था। इन ऋषियों के परिवारों में प्राचीन स्तुतियाँ दाय के रूप में प्राप्त होती थीं, उन्हें परिष्कृत किया जाता था, तथा नूतन स्तुतियों की रचना की जाती थी।[२] ऋषियों का सम्बन्ध प्रायः वैदिक-काल के राजाओं या राजन्यों के पद से होता था[३] और उनके 'पुरोहित' कहलाते थे। पुरोहित राजा का अध्यात्म-गुरु होता था और धार्मिक कर्त्तव्यों में उसका उपदेष्टा होता था। राजा की ओर से वही दैनिक देव-स्तुति तथा अन्य धार्मिक कृत्य करता था। ऋग्वेद में पुरोहित का एकवचन में ही उल्लेख किया गया है, जिससे पुरोहित की उच्च स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।[४] यद्यपि ऋग्वेद में ऐसे निश्चित प्रमाण नहीं हैं, जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि किसी परिवार में पुरोहित का पद कुलक्रमागत होता था; परन्तु अधिक सम्भावना यही है कि ऋग्वेद-काल के पुरोहित का पद कुलक्रमागत होता हो। ऋक् १,९४,६ में अग्नि को जन्म से ही पुरोहित कहा गया है।[५] ओल्डनबर्ग ने राजा और पुरोहित के सम्बन्ध के स्थायित्व की पति-पत्नी के सम्बन्ध के स्थायित्व से तुलना की है।[६] विश्वामित्र और उसके पुत्रों का, जिनका ऋग्वेद में 'कुशिकाः' शब्द से निर्देश किया गया है,[७] भरत कबीले से दीर्घ काल तक सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है।[८] ऋग्वेद ३,५३,१२ में विश्वामित्र के ब्रह्म को भरत कबीले (भारतं जनम्) की रक्षा करने वाला कहा गया है। ऋषि वसिष्ठ और उसके अनुवंशजों का तृत्सुओं से स्थायी सम्बन्ध प्रतीत होता है क्योंकि ऋग्वेद की एक ऋक् में वसिष्ठों को 'तृत्सु' कहा गया है।[९]

---

१. मिलाइये, Macdonell : *Vedic Reader*, p. XII.

२. *Vedic Index*, I, 115; Mukerji, R K. : *Ancient Indian Education*, p 18.

३. *Vedic Index*, I, 116.

४. देखिये, वही, २,५; Max Müller : *History of Ancient Sanskrit Literature*, (Allahabad, 1912) p. 252.

५. देखिये, Max Müller : *Ibid*, p. 251.

६. देखिये, *Religion des Veda*, 375 (*Vedic Index*, II, 6, f. n. 20 में उद्धृत)

७. ऋक् ३,५०,४; ५३,९; १० आदि।

८. *Vedic Index*, I, 174.

९. श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः॥ ऋक् ७,८३,८।

उपमश्रवस् और उसके पिता कुरुश्रवण का पुरोहित एक ही व्यक्ति था।[1] यदि ऋग्वेदकाल में पुरोहित का पद कुल-क्रमागत मान लिया जाय, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट साक्ष्य से अत्यधिक सम्भव है, तो यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि पिता के बाद पुत्र उसका उत्तराधिकारी होता हो। पुत्र पिता से कुल-परम्परा में चले आने वाले धार्मिक ज्ञान को प्राप्त करता था, इसके ऋग्वेद में अनेक प्रमाण हैं। एक ऋषि ऋक् ८,६,१० में घोषणा करता है कि मैंने अपने पिता से ऋत का ज्ञान प्राप्त किया है, जिसे पाकर मैं सूर्य के समान हो गया हूँ।[2] आगे वही ऋषि कहता है कि मैं अपने पिता कण्व के समान प्राचीन ज्ञान से अपनी वाणी को अलङ्कृत करता हूँ।[3] ऋक् ८,२२,१५ में ऋषि सोभरि (अथवा सोभरी) अश्विनौ की स्तुति करता हुआ कहता है कि मैं पिता के समान अश्विनौ का आह्वान करता हूँ।[4] ऋक् १०,६६,१४ में कहा गया है कि वसिष्ठ के पुत्रों ने अपने कल्याण के लिये ऋषियों के समान देवों की पूजा करते हुए अपने पिता के समान स्तुति की।[5] ऋक् १०,६७,१ में ऋषि अयास्य कहता है कि इस सप्त-शीर्ष वाले, ऋत से उत्पन्न हुए, विशाल स्तोत्र को हमारे पिता ने प्राप्त किया था।[6] ऋग्वेद के इन सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल में ऋचाओं का ज्ञान कुल-परम्परा में पिता से पुत्रों को प्राप्त होता था। इसलिये ऋग्वेद-काल में यह बिल्कुल सम्भव था कि जिस पुत्र का पिता धार्मिक ज्ञान का वेत्ता होने के कारण पुरोहित पद पर नियुक्त होता था, वही पुत्र पितृ-परम्परा में चले आने वाले धार्मिक ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण तथा अपने पिता के साथ यजमान के गृह में अनेक अवसरों पर यज्ञ में सहायक होने के कारण पुरोहित पद प्राप्त करे। पुत्र और पौत्र अपने पिता के साथ राजाओं द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ में सम्मिलित होते थे, यह ऋक् ७,१८,२१ से स्पष्ट है जहाँ वसिष्ठ के साथ उसके पुत्र तथा पौत्र शतयातु और पराशर का उल्लेख किया गया है।[7]

---

१. ऋक् १०,३३,७; *Vedic Index*, II, 6.
२. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्य इवाजनि॥
३. अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। ऋक् ८,६,११।
४. हुवे पितेव सोभरी।
५. वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईळाना ऋषिवत्स्वस्तये।
६. इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
७. प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।

पुत्र पिता के साथ 'विदथ' में जाते थे और वहाँ के कार्य-कलाप में पिता को सहयोग देते थे, यह ऋग्वेद में अनेक बार दोहराये गये 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः' वचन से भी स्पष्ट है। उत्तर वैदिक-काल में तो स्पष्ट रूप से पुत्र को आध्यात्मिक ज्ञान का उत्तराधिकारी कहा गया है।[1] ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार मनु ने दाय से वञ्चित अपने पुत्र नाभानेदिष्ठ को दो सूक्त प्रदान किये थे, जिनके द्वारा आङ्गिरसों को यजन कराकर नाभानेदिष्ठ ने उनसे सहस्र गौ प्राप्त की थीं।[2]

—:०:—

यह उल्लेखनीय है कि ऋक् में पराशर और शतयातु का वसिष्ठ के साथ क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। निरुक्त (६,३०) के अनुसार पराशर वसिष्ठ का पुत्र था; परन्तु महाभारत के अनुसार वह शक्ति का पुत्र तथा वसिष्ठ का पौत्र था। देखिये, *Vedic Index*, I, 493.

१. तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति। जै० ब्रा०, १,१८। और भी देखिये, कौषीतक्युपनिषद्, २,१५; बृहदारण्यकोपनिषद् १,५,१७।

२. देखिये, Haug: *Aitareya Brāhmaṇa* (Introduction, p. XXIII).

अध्याय ६

पिता-पुत्री

जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है, ऋग्वैदिक समाज पुरुषप्रधान समाज था जिसमें पुरुष सन्तान की कामना की जाती थी, इसलिये यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि उस समाज को चित्रित करने वाले ग्रन्थ ऋग्वेद में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का उल्लेख अत्यधिक न्यून हो और उसके लिये प्रयुक्त होने वाले शब्दों की भी विविधता न हो। दूसरे, पुत्र जन्म से लेकर मरण तक पितृ-कुल में रहता था और अपने कुल की परम्पराओं को जीवित रखने के लिये प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता था; इसके विपरीत, पुत्री केवल विवाह से पूर्व तक ही पितृ-गृह में रहती थी और विवाह होने के पश्चात् दूसरे कुल में चली जाती थी। ऋग्वेद में पुत्री के रूप में नारी का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि माता और पत्नी के रूप में। यही कारण है कि ऋग्वेद में पुत्री का मनुष्यों के प्रसङ्ग में बहुत ही कम उल्लेख हुआ है। परन्तु फिर भी ऋग्वेद में पुत्री के विषय में जो प्रसङ्ग आये हैं उनसे ऋग्वेद-काल में आर्यों के परिवार में पुत्री की जो स्थिति थी, उसका बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है।

१. पुत्री के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

(अ) दुहितर् (आ) कना, कनी, कनीनका, कन्या, कन्यना। (इ) नप्ती (ई) यह्वी (उ) योषणा, योषा, योषित्।

(अ) **दुहितर्**—ऋग्वेद में पुत्री के लिये अधिक प्रयुक्त होने वाला शब्द, जो निश्चित रूप से सम्बन्ध वाचक शब्द है, दुहितर् (दुहितृ) है। पुत्री के लिये 'दुहितर्' का प्रयोग इण्डो-यूरोपीय काल से ही प्रचलित था।[1] प्रो० मैक्समूलर ने 'दुहितर्' शब्द को संस्कृत √दुह् (दूध निकालना) धातु से निष्पन्न माना है और इसका अर्थ 'दोहने वाली' (milk-maid) किया है।[2] निरुक्तकार ने 'दुहिता' की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति की है—दुहिता दुर्हिता दूरे

---

१. देखिये ऊपर, पृ० ४६।

२. *Biographies of words* p. 150.

हिता दोग्धेर्वा।[१] निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और देवराजयज्वा के अनुसार पुत्री को 'दुहिता' कहने का कारण यह है कि वह जहाँ कहीं दी जाती है, दुर्हित (दुःखी) होती है, अथवा दूर रहने पर पिता के लिये हितकारी होती है अथवा वह पिता के पास से बार बार द्रव्य प्राप्त करती है।[२] निरुक्तकार ने दुहिता की जैसी निरुक्ति की है और उसके टीकाकारों ने जैसी उसकी व्याख्या की है, वह इण्डो-यूरोपीय अथवा ऋग्वैदिक काल के लिये सत्य नहीं हो सकती। इन निरुक्तियों से यास्क और उसके टीकाकारों के काल में पुत्री की सामाजिक स्थिति पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद-काल में पुत्री की सामाजिक स्थिति उस स्थिति से सर्वथा भिन्न थी जैसी कि यास्क के द्वारा दी गई दूसरी और तीसरी निरुक्ति की व्याख्याओं से लक्षित होती है। ऋग्वेद-काल में विवाहित पुत्री का अपने पितृ-कुल से प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रहता था, इसलिये बार बार पिता से द्रव्य दोहने का प्रश्न ही नहीं हो सकता था। 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने 'दुहितर्' की व्युत्पत्ति के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहा है कि यह शब्द 'दुह्' (दोहना) धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है और इसका आशय आदिम अवस्था के परिवार की 'दूध दोहने वाली' अथवा 'दूध पिलाने वाली' न होकर 'बच्चे का पालन करने वाली' है।[३]

सम्भवतया भाइयों की पुत्रियों को भी 'दुहिता' ही कहा जाता था, यद्यपि ऋग्वेद में इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलते। ऐसी कल्पना का कारण यह है कि लौकिक संस्कृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में भाई के बच्चों के लिये प्रयुक्त होने वाले शब्द भाई अथवा पुत्र और पुत्री के वाचक शब्दों से निष्पन्न हैं।[४] जैसे, संस्कृत—भ्रातृव्य, भ्रातृज, भ्रात्रीय, भ्रातृजा; गुजराती—भत्रिजो, भत्रिजी; मराठी—पुतण्या, पुतणी (भतीजा-भतीजी), धुबड़ी (भतीजी, पुत्री के वाचक ध्रुवा से निष्पन्न)। इन भाषाओं में उनके लिये कोई स्वतन्त्र सम्बन्धवाचक शब्द नहीं है।

ऋक् १०,४०,५ में मनुष्य-पुत्री के प्रसङ्ग में दुहितर् शब्द का प्रयोग हुआ है :

---

१. निरुक्त ३,४।

२ वहीं।

३. "The word appears to be derived from *duh*, 'milk' in the sense of one who nourishes a child, rather than as the 'milker' of the primitive family or the suckling." *Vedic Index*, I, 371.

४. *A B. O. R. I.*, XX, *pp*.86, 92; *O.C P.* Vol. II (1928), p. 500.

युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा ।
भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते ॥

'हे अश्विनौ, राजा की पुत्री घोषा तुम्हारे पास आई और बोली—हे वीरों, मैं तुमसे याचना करती हूँ : तुम दिन में और रात्रि में मेरे समीप रहो, तुम अश्वों वाला तथा रथ में चलने वाला वीर (अर्वत्) प्राप्त करने में मेरी सहायता करो ।'[1]

ऋग्वेद में दुहितर् शब्द का उपस् तथा सूर्या के प्रसङ्ग में बहुत बार प्रयोग हुआ है, जहाँ उन्हें क्रमशः दिव् और सूर्य की पुत्री (दुहिता) कहा गया है ।[2]

उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः । ऋक् १,४८,९ ।

'हे दिव् की पुत्री उषस्, तुम अपने आह्लादकारी प्रकाश से भासित होओ ।'[3]

आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम् । ऋक् ३,५३,१५ ।

'सूर्य की पुत्री ने देवों में अमृत एवम् अजुर्य यश का विस्तार किया ।'

रथं कमाहुर्द्रवदश्वमाशुं यं सूर्यस्य दुहितावृणीत । ऋक् ४, ४३, २ ।

'किस रथ को दौड़ते हुए घोड़ों वाला तथा शीघ्रगामी कहते हैं, जिसे सूर्य की पुत्री ने वरण किया ।'[4]

ऋक् ९,११३,३ में श्रद्धा को भी सूर्य की दुहिता कहा गया है :[5]

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत् ।

'मेघ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त उस महिष (सोम के पौधे) को सूर्य की पुत्री (श्रद्धा) लाई ।'

ऋक् ५,४२,१३ में पृथिवी को इन्द्र की दुहिता कहा गया है :

य आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपा मिनानो अकृणोदिदं नः ।

---

१. मिलाइये, ग्रिफिथ ४,१८२ । सायण ने चतुर्थ चरण का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है : तथा अश्ववते अश्वयुक्ताय रथिने रथवते च अर्वते भ्रातृव्याय शक्तं निरसने शक्तौ भवतम् ।

२. बृहद्देवता (vii, 119–21) के अनुसार उषस्, सूर्या और वृषकपायी—उषस् के ही तीन भेद हैं ।

३. और देखिये, ऋक् ४,३०,८; ९; ५,७९, २; ३; ८; ९; ८०,५; ६; ६,६४,४; ५; ६५,१; ६; ७,६७,२ इत्यादि ।

४. और देखिये, ऋक् १,३४,५; ६,६३,५; ७,७५,५ इत्यादि ।

५. देखिये, ग्रिफिथ : *Hymns of the Rigveda*, IV, p. 104 ।

'जिस (इन्द्र) ने अपनी पुत्री (पृथिवी) के अङ्क में सब रूपों को धारण करते हुए हमारे लिये यह किया है।'

रात्रि और उषस् दोनों को भी दिव् की पुत्री कहा गया है, इसलिये ऋग्वेद में उन्हें परस्पर बहिन भी कहा गया है[1] :

अरुषस्य दुहितरा विरूपे स्तृभिरन्या पिपिशे सूरो अन्या। ऋक् ६,४९,३।

'अरुण (दिव्) की पुत्रियाँ अलग अलग रूप वाली हैं। एक (रात्रि) तारों से भूषित है और दूसरी (उषस्) सूर्य की (किरणों से)।'

(आ) **कना, कनी, कनीनका, कन्या, कन्यना**—ये शब्द सामान्यतया किशोर अवस्था की अविवाहित लड़की के वाचक हैं, लेकिन इनका पुत्री के अर्थ में भी प्रयोग पाया जाता है। ये शब्द 'कन्' धातु से निष्पन्न प्रतीत होते हैं। यास्काचार्य ने 'कन्या' शब्द की अनेक प्रकार से निरुक्ति की है[2], लेकिन उनमें से अन्तिम निरुक्ति—कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मण: (अर्थात् कन्या शब्द कान्ति अर्थ की 'कन्' धातु से निष्पन्न है)—ही भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उचित जान पड़ती है। परन्तु 'कन्' धातु मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में *Ken—सम्भवतया कान्ति अर्थ में न होकर 'नव उत्पन्न होना' अर्थ में थी[3]। इसलिये इन शब्दों का मूल अर्थ 'उत्पन्न' था और प्रत्येक प्राणी के बच्चे के लिये इनका प्रयोग होता था।[4] यद्यपि ऋग्वेद में 'कन्' जैसा कोई शब्द नहीं मिलता है, परन्तु इससे निष्पन्न 'कनीयस्' और 'कनिष्ठ' शब्दों का ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचुर प्रयोग मिलता है। इसलिये यह बिल्कुल सम्भव है कि जैसे पुत्र के वाचक अनेक शब्द 'अल्प' अर्थ के वाचक शब्दों से निष्पन्न हैं,[5] इसी प्रकार ये शब्द भी 'अल्प' अर्थ के वाचक 'कन' शब्द से निष्पन्न हों।[6]

पुत्र के वाचक 'तन' शब्द के समान 'कना' शब्द का ऋग्वेद में संज्ञा और विशेषण दोनों रूपों में प्रयोग हुआ है :

---

१. स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्। ऋक् १,१२४,८।

२. कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मण:। निरुक्त ४, १५।

३. Varma (Dr.) Siddheshwar: *Etymologies of Yāska*, p. 55.

४. इरावती कार्वे : A.B.O.R.I., XX, p. 90.

५. देखिये, ऊपर पृष्ठ १४४, १४५।

६. इरावती कार्वे : पूर्व निर्दिष्ट।

अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयुः ।
ऋक् १०,६१,२१ ।

'तब गायें कन्या[1] और प्रत्येक जीवित मनुष्य को प्रसन्न करने के लिये बाहर निकालीं ।'

यहाँ 'कना' का संज्ञा के रूप में प्रयोग हुआ है, लेकिन निम्न ऋक् में 'कना' का 'दुहितर्' के विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है :

पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा । ऋक् १०,६१,५।

'उग्र (अनर्वा) देव ने जो छोटी पुत्री में धारण किया था, उसे फिर निकाल लिया ।'[2]

'कनी' शब्द का 'जनी' (=विवाहित स्त्री) के विरोध में 'अविवाहिता' के अर्थ में प्रयोग किया गया है :

जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् । ऋक् १,६६,४ ।

'(अग्नि) अविवाहित लड़कियों का जार (प्रेमी) है और विवाहितों का पति है ।'

त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि ।
ऋक् ५,३,२ ।

'(हे अग्नि) जब तुम अविवाहित लड़कियों के रहस्यों को छिपाकर रखते हो तो तुम अर्यमा हो जाते हो ।'[3]

'कन्या' शब्द का विवाह योग्य अवस्था की अविवाहित लड़की के लिये अथवा नव-विवाहित लड़की के लिये प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में (अथर्ववेद[4] में भी) कन्या के प्रेमियों का वर्णन किया गया है :

कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।
ऋक् १,१२३,१० ।

'हे देवि (उषस्), तू कन्या के समान शरीर के सौन्दर्य से गर्वित अपनी

---

१. यहाँ 'कना' से कदाचित् 'सरमा' का अभिप्राय है ।

२. देखिये, आगे पृ० २४८ ।

३. यहाँ सम्भवतः 'अर्यमा' का अपने मूल अर्थ में प्रयोग हुआ है। अर्यमा वर और वधू के पक्षों में मध्यस्थ का कार्य करता था और किन्हीं दो पक्षों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने में सहायता करता था ।

४. कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभाय ओषधे । अथर्व० २,३०,४ ।

कामना करने वाले देव के समीप जाती है। मुस्कराती हुई, युवति एवम् शोभायमान (उषस्) उसके सामने अपने वक्षःस्थल को प्रकट करती है।'

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते।

ऋक् ३,३३,१०।

(विश्वामित्र द्वारा उथली हो जाने की प्रार्थना करने पर नदी कहती है)—'मैं तेरे लिये दूध पिलाने वाली स्त्री के समान नीचे झुकती हूँ और प्रेमी के लिये कन्या के समान तेरे लिये आत्म-समर्पण करती हूँ।'

अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत। ऋक् ९,५६,३।

'दस युवतियाँ तेरा ऐसे स्वागत करती हैं जैसे कन्या अपने प्रेमी का स्वागत करती है।'

यहाँ दोनों हाथों की दसों अंगुलियों द्वारा अभिषव किये जाते हुए सोम की कन्या द्वारा स्वागत किये जाते हुए प्रेमी से तुलना की गई है।

ऋग्वेद में एक बार 'कन्यना' शब्द का भी प्रयोग हुआ है जो 'कन्या' का ही रूपान्तर प्रतीत होता है और इसका अर्थ भी अविवाहित लड़की है।

स्तोमं जुषेथां युवशेव कन्यनाम्। ऋक् ८,३५,५।

'(हे अश्विनौ), तुम दोनों स्तोम को ऐसे स्वीकार करो, जैसे युवक कन्या (कुमारी) को स्वीकार करता है।'

ऋग्वेद में एक बार 'कनीनका' शब्द का भी कन्या के अर्थ में प्रयोग हुआ है,[1] जहाँ इसका अभिप्राय 'कन्या के आकार की शालभञ्जिका' है।

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभते।

ऋक् ४,३२,२३।

'(उपासक इन्द्र के अश्वों की स्तुति करता है कि) यज्ञ स्थानों में (इन्द्र के) बभ्रु-वर्ण अश्व काष्ठ के स्तम्भों पर स्थापित नई छोटी कन्याओं के समान शोभित होते हैं।'[2]

(इ) **नप्ती**—स्त्रीलिङ्ग 'नप्ती' शब्द का सम्बन्ध पूर्व अध्याय में वर्णित किये गये 'नप्तर्', 'नपात्' और 'नप्त्य' शब्दों से है। 'नप्ती' शब्द का ऋग्वेद में अनेक बार प्रयोग हुआ है।

---

१. पुँल्लिङ्ग 'कनीन' शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। देखिये, ऋक् १,११७,१८; ३,४८,१; ८,६९,१४; १०,९९,१०।

२. यास्काचार्य ने 'कनीनके' का अर्थ 'कन्यके' किया है। निरुक्त ४,१५।

उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या । जनित्वनाय मामहे ॥

ऋक् ८,२,४२ ।

(ऋषि मेधातिथि काण्व विभिन्दु की स्तुति में कहता है)—'उसने वे दो दूध बढ़ाने वाली युवति पुत्रियाँ विवाह के लिये प्रदान कीं ।'

सोम का सवन करने वाले हाथों तथा अंगुलियों को भी 'नप्ती' कहा गया है :

परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः । सुवानो याति कविक्रतुः ॥

ऋक् ९,९,१ ।

'कान्तदर्शी बुद्धि वाला, द्यौ का कवि (सोम) जब हाथों[1] (शब्दार्थ, पुत्रियों) में रक्खा जाता है, तो प्रिय अन्नों (वयांसि) को बहाता हुआ जाता है ।'

नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा । ऋक् ९,१४,५ ।

'जो (सोम) शुभ्र युवा के समान विवस्वान् की पुत्रियों[2] (अंगुलियों) के द्वारा अलङ्कृत किया जाता है ।'

(ई) **यह्वी**—जैसे ऋग्वेद में 'यह्व' शब्द का पुत्र के अर्थ में प्रयोग हुआ है, वैसे ही उसके स्त्रीलिङ्ग रूप 'यह्वी' का पुत्री के अर्थ में प्रयोग हुआ है :

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः ।

ऋक् ५,४१,७ ।

'मैं द्यौ की दोनों पुत्रियों (उषस् और रात्रि) को जानने वाली स्तुतियों के साथ प्रशंसनीय बलों से तुम्हारे (अर्थात् देवों के) समीप आता हूँ ।'

यहाँ उषस् और रात्रि को द्यौ की पुत्रियाँ (यह्वी) कहा गया है ।

(उ) **योषा, योषणा, योषित्**—ये शब्द √यु (मिलना) धातु से निष्पन्न हैं ।[3] इसलिये इनका व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है 'मिलने वाली, मिलने योग्य अवस्था वाली, अर्थात् युवा स्त्री' । ऋग्वेद में इन शब्दों का सामान्यतया युवावस्था की स्त्री के लिये प्रयोग किया गया है । इनका अभिप्राय कहीं अविवाहित युवति लड़की, कहीं नववधू और कहीं युवा पत्नी है । जैसे 'लड़की' के वाचक अन्य शब्द षष्ठ्यन्त शब्दों के साथ प्रयुक्त होकर 'पुत्री' के वाचक होते हैं, इसी प्रकार इन शब्दों का भी पुत्री के लिये प्रयोग हुआ है ।

---

१. देखिये, Griffith : *Hymns of the Rigveda* Vol. III, p. 370.

२. देखिये, Griffith : *Op. Cit.*, Vol III, p. 377, f. n. 5.

३. निरुक्त ३,१५—योषा यौतेः ।

युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम् ।

ऋक् १,११७,२० ।

'(हे अश्विनौ) तुम अपने पराक्रमों से पुरुमित्र की पुत्री को विमद के लिये पत्नी के रूप में लाये ।'

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् ।

ऋक् १०,३९,७ ।

'तुम दोनों पुरुमित्र की सुन्दर अथवा शुचि (शुन्ध्यु) पुत्री को विमद के लिये रथ में लाये ।'

योषा और योषणा शब्दों का अविवाहित कन्या के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है । उषस् की उपमा माता द्वारा अलङ्कृत की जाती हुई कन्या से देते हुए कहा गया है :

सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम् । ऋक् १,१२३,११ ।

'(हे उषस् तू) माता द्वारा अलङ्कृत सुन्दर रूप वाली कन्या के समान अपने शरीर को प्रकट कर रही है ।'

ऋक् ४,३२,१६ में ऋषि वामदेव इन्द्र से प्रार्थना करता है :

पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः । वधूयुरिव योषणाम् ॥

'हमारे पुरोडाश को खाओ और हमारी वाणी का सेवन करो, जैसे वधू की कामना करने वाला कन्या का सेवन करता है ।'

ऋक् ८,४६,३३ में भी 'योषणा' शब्द विवाह योग्य अवस्था की कुमारी के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है :

अध स्या योषणा मही प्रतीची वशमश्व्यम् । अधिरुक्मा वि नीयते ॥

'इस समय वह स्वर्ण से विभूषित महान् युवति अश्व के पुत्र वश की ओर ले जाई जाती है ।'[१]

'योषित्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक बार हुआ है, जहाँ इसका अर्थ अविवाहित कन्या प्रतीत होता है :

एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति । गच्छञ्जारो न योषितम् ॥

ऋक् ९,३८,४ ।

'श्येन के समान यह (सोम) मानुषी प्रजा में इस प्रकार आकर बैठता है, जैसे प्रेमी प्रेयसी के पास जाता है ।'

---

१. यहाँ कदाचित् राजा पृथुश्रवा द्वारा ऋषि वश को दान में दी गई किसी विजित राजा की पुत्री की ओर संकेत है ।

२. ऋग्वैदिक परिवार में पुत्री की स्थिति

(अ) पुत्री के लिये कामना का अभाव—ऋग्वेद में सैकड़ों स्थलों में सन्तान की कामना की गई है, इसलिये यह माना जा सकता है कि जहाँ सामान्य रूप से अपत्य की कामना की गई है वहाँ पुत्री की कामना भी अप्रत्यक्ष रूप से आ जाती है। परन्तु ऋग्वेद में पुत्री की स्पष्ट कामना का एक भी उदाहरण नहीं है, जबकि पुत्र की कामना अनेक स्थलों में की गई है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्य भी पुत्री के जन्म से प्रसन्नता अनुभव नहीं करते थे। ऋग्वेद में पुत्र के जन्म को हर्ष का कारण कहा गया है,[१] परन्तु पुत्री के जन्म के विषय में ऋग्वेद नितान्त मौन है। लेकिन ऋग्वेद में पुत्री के जन्म के विरुद्ध भी कुछ नहीं कहा गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ऋग्वेद-काल में पुत्री की स्थिति उत्तरकाल की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। ऐतरेयब्राह्मण में पुत्र को ज्योति, परन्तु पुत्री को कृपण कहा गया है।[२] प्रो० एस० सी० सरकार का विचार है कि यहाँ यह निश्चित नहीं है कि पुत्र की तुलना में पुत्री को 'कृपण' (मुसीबत) कहा गया हो। इस प्रसङ्ग में 'कृपण' का अर्थ 'दया एवम् स्नेह की पात्र' भी हो सकता है।[३] अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से स्त्री गर्भ को पुमान् गर्भ में परिवर्तित करने के लिये मन्त्र दिये गये हैं[४] और गर्भ को स्त्री में परिवर्तित करने वाले राक्षसों को भगाने के लिये औषध का विधान किया गया है[५] तथा पुत्री के जन्म को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया है[६]—'स्त्री की उत्पत्ति अन्यत्र धारण करे, यहाँ पुरुष धारण करे'; 'हे पिङ्ग, उत्पन्न होने वाले की रक्षा कर, पुरुष को स्त्री न बना।' तैत्तिरीयसंहिता (६,५,१०,३) में याज्ञिक क्रिया के सम्बन्ध में अवभृथ के लिये जाते समय स्थाली को छोड़ देने तथा चमस को उठा लेने का विधान करते हुए कहा गया है— तस्मात् स्त्रियं जातां पराऽस्यन्त्युत् पुमांसं हरन्ति।[७]

---

१. पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे। ऋक् १,६९,३; देखिये ऊपर पृ० १६२।

२. कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्। ऐत० ब्रा० ७,१३।

३. *Some Aspects of the Earliest Social History of India* (London, 1928), p. 105.

४. अथर्व० का० ३ सूक्त २३, तथा का० ६ सू० ११।

५. अथर्व० ८,६,२५।

६. वही ६,११,३; ८,६,२५।

७. यह वचन मै० सं० ४,६,४, तथा का० सं० २७,९ में भी आया है।

अर्थात् जब कन्या उत्पन्न होती है तो उसे पड़ा रहने देते हैं, परन्तु यदि पुत्र उत्पन्न होता है तो उसे हर्ष से गोद में उठा लिया जाता है, इसी प्रकार स्थाली को वेदी में छोड़ दिया जाता है, परन्तु चमस को उठा लिया जाता है। इससे उत्तर वैदिक काल में कन्या के प्रति हीनता तथा उपेक्षा का भाव प्रकट होता है। परन्तु ऋग्वेद में कन्या के प्रति उपेक्षा-भाव को प्रकट करने वाला कोई वचन नहीं है। प्रत्युत यज्ञ करने वाले दम्पती की यह कहकर प्रशंसा की गई है कि वे पुत्र और पुत्रियों से युक्त होकर पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं।[१] यदि किसी दम्पती के पुत्र और पुत्री दोनों उत्पन्न हो जायें तो उनमें से पुत्र पिता के सत्कार्यों को करता है और पुत्री आदर करने योग्य होती है।[२] ऋग्वेद ६,७५,५ में प्रभूत संख्या में बाणों को धारण करने वाले इषुधि की प्रशंसा 'अनेक पुत्रियों का पिता' कहकर की गई है।[३] ऋग्वेद-काल में पुत्री को मुसीबत न मानने का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि उस समय कृत्रिम पुत्रों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, इसलिये औरस पुत्र के अभाव में पुत्री को ही पुत्र के समान कुल का चलाने वाला समझा जाता था। दूसरे, ऋग्वेद-काल में पुत्री को विवाह में देने के बदले में विवाह-शुल्क लेने की प्रथा को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वेद-काल में पुत्री को विवाह में यौतक (वहतु) देने की प्रथा अधिक प्रचलित थी, लेकिन कभी कभी वधू-शुल्क भी लिया जाता था, विशेषतया यदि कन्या सुन्दरी और गुणशालिनी होती थी और जामाता में कोई अङ्गविकार अथवा अन्य कोई दोष होता था तो उसे अपनी भावी वधू के पिता अथवा अन्य सम्बन्धियों को द्रव्य की अच्छी राशि देकर सन्तुष्ट करना पड़ता था।[४]

(आ) पुत्री की शिक्षा—ऋग्वैदिक आर्यों में यद्यपि पुत्री की कामना नहीं की जाती थी, और उसकी उत्पत्ति पर पुत्र के जन्मोत्सव के समान कोई हर्ष भी नहीं मनाया जाता था, लेकिन यदि घर में पुत्री का जन्म हो ही जाता था तो उसका पालन-पोषण अच्छी प्रकार किया जाता था और पुत्री को भी

---

१. पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। ऋक् ८,३१,८; ग्रिफिथकृत अंग्रेजी अनुवाद।

२. यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्। ऋक् ३,३१,२।

इसके अर्थ के लिये निरुक्त ३,६ देखिये—अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायादोऽन्यतरोर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै।

३. बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रः।

४. अश्रवं भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्। ऋक् १,१०९,२।

गर्व की वस्तु समझा जाता था। ऋग्वेद १०,१५६,३ में अपने सौभाग्य की गर्विता शची पौलोमी के मुख से कहलाया गया है : 'मेरे पुत्र शत्रुओं का हनन करने वाले हैं, और मेरी पुत्री विराट् है।'[1] जैसा पहले कहा गया है कि ऋग्वेद-काल में शिक्षा का केन्द्र मुख्य रूप से घर ही था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि पुत्र अपने पिता के व्यवसाय को अपनाने के लिये पिता के निरीक्षण में उसके व्यवसाय में दक्षता प्राप्त करे और पुत्री अपनी माता के समान गृह-कार्यों में निपुणता प्राप्त करे। ऋग्वैदिक पुत्री की शिक्षा सामान्य रूप से गृह-कार्यों तक ही सीमित रही प्रतीत होती है। परन्तु ऋग्वेद-काल में उत्तरकाल के समान स्त्रियों पर किसी प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं थे, इसलिये जिन परिवारों में पवित्र धार्मिक ज्ञान की परम्परा प्रचलित थी, उन परिवारों में पुत्रों के समान पुत्रियाँ भी उच्चतम शिक्षा प्राप्त करती थीं। परम्परा के अनुसार ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की द्रष्टा स्त्री-ऋषि हैं।[2] इनमें से विश्ववारा आत्रेयी (ऋक् ५,२८), अपाला आत्रेयी (ऋक् ८,९१) और घोषा काक्षीवती (ऋक् १०,३९; ४०) मुख्य हैं, जिन्होंने पूर्ण सूक्तों की रचना की है। अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा को प्रथम मण्डल के सूक्त १७९ की प्रथम तथा द्वितीय ऋचाओं का ऋषि कहा गया है। भावयव्य की पत्नी रोमशा को ऋक् १,१२६,७ का ऋषि कहा गया है तथा अगस्त्य की बहिन को ऋक् १०,६०,६ का ऋषि माना गया है।[3] यद्यपि ऋग्वेद में किसी स्त्री-पुरोहित का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि ऋग्वैदिक साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र रूप से देवों की स्तुतियाँ करती थीं[4] और देवों का सोमपान के लिये आह्वान किया करती थीं।[5] डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने यह

---

१. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।

२. परन्तु यह स्मरणीय है कि पुरुष ऋषियों की तुलना में उनकी संख्या नगण्य है। यद्यपि सर्वानुक्रमणिका में २० ऋषि स्त्रियों का उल्लेख हुआ है, परन्तु सर्वानुक्रमणिका की परम्परा सर्वांश में विश्वसनीय नहीं है। (अल्तेकर : *Position of Women in Hindu Civilization*, p. 12).

३. अन्य ऋग्वैदिक स्त्री-ऋषियों के लिये देखिये—The Women Poets of the Rigveda (*Indian Antiquary*, Vol. 50, pp. 113—117).

४. एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची। ऋक् ५,२८,१।

५. कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा ॥ ऋक् ८,९१,१।

माना है कि ऋक् ३,५५,१६ तथा ५,७,६ में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा समाप्त करने वाली विवाह योग्य युवतियों का उल्लेख किया गया है[१] :

"Rigveda V, 7, 9 refers to young maidens completing their education as brahmachāriṇīs and then gaining husbands in whom they are merged like rivers in ocean. R. V. iii, 55, 16 mentions unmarried learned and young daughters who should be married to learned bridegrooms."

लेकिन उपर्युक्त ऋचाओं में स्त्री-शिक्षा का कोई संकेत प्रतीत नहीं होता है।[२] ऋग्वेद के परवर्ती वैदिक साहित्य से, जिसमें स्त्रियों की प्रतिष्ठा सामान्य रूप से गिरी हुई प्रतीत होती है, स्त्रियों में उच्च शिक्षा का प्रचलन सिद्ध होता है। अथर्ववेद में कन्या को ब्रह्मचर्य द्वारा युवा पति प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है।[३] ऐतरेय तथा कौषीतकि ब्राह्मणों में 'कुमारी गन्धर्व-गृहीता' का मत अग्निहोत्र के समय के विषय में प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है।[४] उपनिषदों[५] तथा सूत्र-ग्रन्थों[६] में भी विदुषी स्त्रियों का उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक युग में पुत्रों के समान पुत्रियों की शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। स्त्रियों में उच्च शिक्षा के अधिक प्रचलन का समय ऋग्वेद-संहिता के संकलन-काल से कुछ समय पूर्व से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है।[७] ऋग्वेद की स्त्री-ऋषियों की रचनायें प्रायः ऋग्वेद के अर्वाचीन माने जाने वाले भाग में ही पाई जाती हैं। ऋग्वेद-काल में कुछ

१. *Ancient Indian Education*, p. 51 (2nd ed. 1951).

२. मिलाइये, सायणभाष्य तथा ग्रिफिथकृत अंग्रेजी अनुवाद।

३. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व० ११,५,१८।

४. ऐत० ब्रा० ५,२६; कौषी० ब्रा० २,६।

५. उदाहरणार्थ, पतञ्चल काप्य की पत्नी; याज्ञवल्क्य की पत्नियाँ।

६. शाङ्खायन गृ० सू० ४,१० तथा आश्व० गृ० सू० ३,४,४ में ब्रह्मयज्ञ-विधि में जिन ऋषियों को नमस्कार का विधान किया गया है, उनमें सुलभा मैत्रेयी, वडवा प्राचितेयी और गार्गी वाचक्नवी स्त्री-ऋषि हैं। (देखिये, Altekar: *Position of Women in Hindu Civilization*, p. 12; सरकार: पूर्वोद्धृत पृ० ११० पा० टि० ३ तथा ५)।

७. मिलाइये, सरकार: वही पृष्ठ, ११०।

स्त्रियाँ सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करती थीं, विश्पला और मुद्गलानी ने युद्ध में भाग लिया था।[1] ऋग्वेद-काल में आर्यों के सम्पर्क में आने वाले आदि-निवासियों के परिवार मातृसत्ताक थे, इसलिये आर्यों की अपेक्षा उनमें स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता थी तथा स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। ऋग्वेद में एक अनार्य (दास) की स्त्रियों की सेना का उल्लेख किया गया है।[2] ऋग्वेद में एक अन्य अनार्य स्त्री दानु को अपने पुत्र की रक्षा करती हुई चित्रित किया गया है, जिसका इन्द्र ने वध किया।[3]

(इ) **पुत्री के नाम के साथ पैतृक नाम का प्रयोग**—सामान्यतया पुत्री का पितृकुल से सम्बन्ध केवल विवाह से पूर्व तक रहता था और विवाह के पश्चात् उसका पतिकुल से तादात्म्य हो जाता था। कदाचित् सब सामाजिक प्रयोजनों की दृष्टि से वधू अपने पतिकुल की मानी जाती थी और वह प्रायः अपना उपनाम पति से प्राप्त करती थी। ऋग्वेद में वरुण, अग्नि तथा इन्द्र की पत्नी को क्रमशः वरुणानी, अग्नायी, तथा इन्द्राणी कहा गया है।[4] ऋग्वेद में पति के नाम से प्राप्त अन्य एक नाम मुद्गलानी भी है। मुद्गलानी को परम्परा के अनुसार मुद्गल की पत्नी माना जाता है। गेल्डनर के अनुसार मुद्गलानी का निजी नाम इन्द्रसेना था।[5] परन्तु ऋग्वेद में ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि पुत्रियों का विवाह के पश्चात् भी उनके पैतृक नाम मे निर्देश किया जाता था। ऋक् १,११२,१० में विश्पला को आथर्वी (अथर्वन् कुल की) कहा गया है।[6] इस प्रथा की पुष्टि रामायण तथा महाभारत से भी होती है। रामायण में सीता का 'मैथिली', 'वैदेही' तथा 'जानकी' नाम से निर्देश हुआ है। महाभारत में कृष्णा का निर्देश प्रायः 'द्रौपदी' या 'पाञ्चाली' नाम से किया गया है।[7] कदाचित् विवाहित स्त्रियों के

---

१. ऋक् १,११२,१०; ११६.१५; १०,१०२,२; ३।

२. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
ऋक् ५,३०,९।

३. उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः।
ऋक् १,३२,९।

४. इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये॥
ऋक् १,२२,१२।

५. *Vedic Index*, II, 167, f. n. 10.

६. याभिर्विश्पलां धनसामाथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम्।

७. आजकल भी वधुओं का निर्देश उनके जन्म स्थान के गाँव अथवा शहर के नाम से किया जाता है, जैसे 'फैजाबादन', 'दिल्ली वाली' आदि।

नाम-निर्देश की कोई एक सर्वव्यापक प्रथा प्रचलित नहीं थी।

(ई) **कन्या का 'मंगली' स्वरूप**—अथर्ववेद में कन्या में अद्भुत चमत्कार-पूर्ण शक्ति मानी गई है।[1] उत्तरवर्ती साहित्य में भी कन्या में लक्ष्मी का वास माना गया है।[2] आजकल भी विवाह-भोज में बारात को भोजन कराने से पूर्व ब्राह्मणों तथा कन्याओं को भोज दिया जाता है। महाराष्ट्र में कन्याओं को उच्च धार्मिक विधियों में स्थान दिया जाता है तथा उन्हें लक्ष्मी का प्रतिनिधि माना जाता है।[3] कदाचित् ऋग्वेद-काल में भी कन्या को विवाह-भोज में प्राथमिकता दी जाती थी और कन्यायें सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करके भोज में सम्मिलित होती थीं।[4] ऋग्वेद-काल में भी कन्या को शुभ तथा विशेष शक्ति से युक्त माना जाता था, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऋग्वेद में उषस् को, जिसका 'दिव् की पुत्री' कहकर निर्देश किया गया है, धन और प्रजा देने वाली कहा गया है और उससे धन तथा प्रजा की कामना की गई है।[5] डा० इरावती कार्वे का विचार है कि कन्या में दिव्य शक्ति मानने का कारण उसमें निहित मातृत्व-शक्ति है।[6] यह उल्लेखनीय है कि अविवाहित कन्या के समान अविवाहित लड़के में कोई अद्भुत शक्ति अथवा शुभलक्षणता नहीं मानी गई है।

(उ) **ऋग्वेद-काल में कन्या की स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्भरता**—ऋग्वेद-काल में कन्या १६वीं शताब्दी की हिन्दू कन्या के समान घर में बन्द रहने वाली तथा पूर्ण रूप से माता-पिता तथा अन्य पुरुष-सम्बन्धियों पर आश्रित नहीं थी। अविवाहित कन्या घर से बाहर जाने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी। वह 'समन' (मेले) तथा अन्य उत्सवों में सम्मिलित होने के लिये अलङ्कृत तथा प्रसन्नवदन

---

१. अथर्व० १०,८,२०; १२,१,२५।

२. महाभारत १३,११,१४—नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता। (अल्तेकर : पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ११, पा० टि० में निर्दिष्ट)।

३. डा० इरावती कार्वे : *A.B O.R.I.*, XX, p. 92.

४. कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि।

ऋक् ४,५८,६।

५. रयिं दिवो दुहितरो विभातीः प्रजावन्तं यच्छतास्मासु देवीः।

ऋक् ४,५१,१०।

६. *A.B.O.R.I*, XX, p. 92.

होकर जाती थीं।[1] ऋग्वेद में इस बात का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[2] 'समन' का आकर्षण सामान्यतया अश्वों और रथों की दौड़ होती थी; परन्तु यह 'समन' विवाह योग्य अवस्था के युवा और युवतियों को विवाह का साथी चुनने में भी बड़े सहायक सिद्ध होते थे। अविवाहित युवा कन्यायें (अग्रवः) अपने योग्य युवकों को आकर्षित करने के लिये सुन्दर वस्त्र तथा अलङ्कार धारण करके समन' में जाती थीं।[3] युवतियों के इस कार्य से घर के बड़े लोग असन्तुष्ट नहीं होते थे, प्रत्युत मातायें अपनी पुत्रियों को अलङ्कृत करके 'समन' में जाने के लिये उत्साहित करती थीं।[4] अविवाहित कन्याओं के प्रेमी (जार[5]) होते थे[6] और वह अपने प्रेमी से संकेत स्थान में मिलती थीं।[7] कभी-कभी तो ऋग्वैदिक कन्यायें इतना साहस करती थीं कि वे केवल 'समन' में ही अपने प्रेमियों से नहीं मिलती थीं, अपितु निभृत रूप से अपने

---

१. अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।

ऋक् ४,५८,८।

(घृत की धारायें अग्नि की ओर इस प्रकार प्रवाहित होती हैं, जैसे कल्याणी (सुन्दर-वेश-धारिणी) मुस्कराती हुई युवतियाँ 'समन' की ओर जाती हैं।)

२. देखिये ऋक् १,४८,६; १२४,८; ४,५८,८; ६; ७,२,५; ६ ४; १०,८६,१०।

३. पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्।

ऋक् ७,२,५।

४. सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्।

ऋक् १,१२३,११।

५. धर्मशास्त्रों में तथा उत्तरवर्ती साहित्य में 'जार' शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु ऋग्वेद में 'जार' विशुद्ध प्रेमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें नैतिक दुराचार की तनिक भी गन्ध नहीं है।

६. अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम्। ऋक् ९,३२,५।

७. युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा।

ऋक् १०,४०,६;

Muir : O.S.T., V, 460;

न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।

ऋक् १०,३४,५।

गृह में भी अपने प्रेमियों का स्वागत करती थीं।[1] इस प्रकार की स्वतन्त्रता का कभी-कभी बुरा परिणाम भी होता था, क्योंकि ऋग्वेद अवैध सन्तान के परासन से अपरिचित नहीं है।[2]

यद्यपि ऋग्वेद में कोई ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिससे पिता अथवा अन्य सम्बन्धी का कन्या के विवाह के विषय में अधिकार सिद्ध होता हो अथवा विवाह के सम्बन्ध में कन्या की पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता सिद्ध होती हो, परन्तु फिर भी ऋग्वैदिक समाज में कन्या की सामान्य स्वतन्त्रता तथा युवावस्था में विवाह की प्रथा के प्रचलन के कारण यह अत्यधिक सम्भव है कि कन्या अपने विवाह के निश्चय के सम्बन्ध में स्वयं सचेत रहती हो। यद्यपि अन्तिम रूप से विवाह-सम्बन्ध का निश्चय पिता अथवा भाई की अनुमति से होता था, परन्तु कन्या की अभिलाषा का ध्यान रखा जाता था।[3] पिता तथा अन्य किसी सम्बन्धी के अभाव में अथवा उनके विवाह सम्बन्ध स्थिर करने में अशक्त होने पर कन्या अपनी ओर से पहल करके स्वयं पति चुन लेती थी अथवा देवों की सहायता की याचना करती थी। ऋग्वेद में घोषा की घटना ऐसी ही है जिसमें घोषा ने अश्विनौ के अनुग्रह से स्वयं पति प्राप्त किया था।[4] ऋक् १०,२७,१२ में स्पष्ट रूप से ऐसी वधू की प्रशंसा की गई है जो अपने सौन्दर्य के कारण लोगों में से स्वयं अपना साथी चुन लेती है।[5] कदाचित् भ्रातृहीन कन्या को योग्य पति प्राप्त करने के लिये स्वयं सक्रिय एवम् सचेष्ट होना पड़ता था।[6] ऋक् ४,५,५ में भ्रातृहीन कन्याओं को इधर-उधर घूमने वाली कहा गया है और उनसे असत्य तथा अनृत पापी लोगों की उपमा दी गई है। कदाचित् पति-वरण में प्रगल्भता प्रदर्शित करने के कारण उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता था।[7] यह भी सम्भव था कि वे भाई की संरक्षकता के अभाव में दुष्ट

१. ऋक् १,१३४,३; Upadhyaya, B. S.: *Women in Rigveda* (2nd ed. 1941), p. 40.

२. ऋक् ४,१६,६; ३०,२६; ऊपर पृ० १८८ तथा आगे।

३. मिलाइये, Muir: O.S.T., V, 459.

४. देखिये, ऋक् १०,४०।

५. भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।

६. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची। ऋक् १,१२४,७; Muir: O.S.T., V, 458. (म्यूर ने 'पुंस एति' का सन्धि-विच्छेद 'पुंसे एति' किया है और 'पुंसे' का अर्थ भावी पति समझा है।)

७. देखिये, आगे पृ० २५३।

लोगों के चंगुल में फंस जाने के कारण वेश्यावृत्ति के लिये विवश हो जाती हों।[१]

(ऊ) **अविवाहित पुत्रियाँ**—ऋग्वैदिक पुत्री का पितृकुल का जीवन विवाह के साथ समाप्त हो जाता था। सामान्यतया प्रत्येक पुत्री का विवाहित होना अनिवार्य था, क्योंकि ऋग्वैदिक समाज में स्त्री के जीवन की सार्थकता मातृत्व प्राप्त करने में थी। विवाहित पुत्रियाँ केवल भाई के अभाव में ही पितृ-कुल में आती थीं।[२] अन्यथा ऋग्वेद में विवाहित पुत्री के अस्थायी रूप से भी पितृ-कुल में आने का कोई संकेत नहीं मिलता, क्योंकि ऋग्वेद में पितृकुल के सदस्यों तथा पुत्री की सन्तान के मध्य उद्भूत होने वाले सम्बन्धों के वाचक शब्दों का अत्यन्ताभाव है। वैदिक साहित्य में विवाहित पुत्री तथा उसकी सन्तान का पितृकुल से सम्बन्ध बने रहने का उल्लेख केवल कृष्णयजुर्वेद की काठक तथा मैत्रायणी संहिताओं में ही हुआ है।[३]

लेकिन यदि दुर्भाग्य के किसी रोग अथवा अन्य दोष के कारण किसी कन्या का विवाह नहीं हो पाता था, तो वह पितृकुल में ही वास करती थी।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज में कन्या का विवाह न हो सकना दुर्भाग्यपूर्ण समझा जाता था, और ऐसी कन्याओं के लिये 'पितृषद्'[५] 'अमाजुर्'[६] तथा 'अग्रू'[७] आदि नाम पड़ जाते थे, जिनसे स्पष्ट ही उनके प्रति तत्कालीन समाज की असामान्य मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त होती है। ऋग्वेद में अपाला और घोषा ऐसी कन्यायें हैं, जिन्हें विवाह योग्य अवस्था होने पर भी पितृकुल में रहना पड़ा था। ऋग्वेद में पितृकुल में रहने वाली कन्याओं का अनेक स्थलों में निर्देश हुआ है, परन्तु ऋग्वैदिक साक्ष्य से अविवाहित कन्याओं के प्रति माता-पिता अथवा भाई-भाभी के किसी दुर्व्यवहार का कोई

१. मिलाइये, *Vedic Index*, I, 395.

२. निरुक्त ३,५ तथा वसिष्ठ ध० सू० १७.१६ में ऋक् १,१२४,७ से भ्रातृहीन कन्या का पितृकुल में जाना सिद्ध किया गया है। देखिये ऊपर पृ० १८२ तथा पूर्व पृ० पा० टि० ६।

३. काठ० सं० ८,१०; मै० सं० १,६,१२।

४. ऋक् १,११७,७; २,१७,७; १०,३९,३; ४०,५।

५. ऋक् १, ११७,७; १०,८५,२९।

६. ऋक् २,१७,७; ८,२१,१५; १०,३९,३।

७. ऋक् ४,१९,९; ३०,१६; ७,२,५।

संकेत नहीं मिलता। ऋग्वेद ८,९१ से ऐसा प्रतीत होता है कि अविवाहित वयस्क पुत्रियाँ अपने पिता के घर की देखभाल करती थीं और पिता की सम्पत्ति और समृद्धि के लिये प्रयत्न करती थीं। अपाला को हम अपने पिता की कृषि-भूमि की सुफलता के लिये भी आतुर पाते हैं।[1] यद्यपि ऋग्वेद में 'पितृषद्' कन्याओं के विशिष्ट उदाहरण केवल दो ही हैं; परन्तु ऋक् २,१७,७ में 'अमाजुर्' कन्या का उपमान के रूप में निर्देश किया गया है।[2] इससे प्रकट है कि ऋग्वैदिक समाज में पितृगृह में रहने वाली अविवाहित जरती पुत्रियों की पर्याप्त संख्या होती थी। अतः यह विश्वास किया जा सकता है कि अविवाहित जरती पुत्रियाँ ऋग्वैदिक समाज में पितृकुल के लिये भारस्वरूप नहीं मानी जाती थीं,[3] यद्यपि यह सत्य है कि कन्यायें स्वयं अपने विवाह के लिये उत्सुक रहतीं थीं और देवों से पति-प्राप्ति में सहायता की याचना करती थीं।[4] ऋक् १,११७,७ में पिता के गृह में वृद्ध हुई पति की कामना करने वाली घोषा नाम की ऐसी ही कन्या का उल्लेख हुआ है, जिसने अश्विनौ की सहायता से पति प्राप्त किया था।[5]

(ए) विवाहित पुत्रियाँ—जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामान्यतया विवाहित पुत्रियाँ विवाह होने के तुरन्त बाद पितृगृह को छोड़कर पतिगृह में चली जाती थीं और उनका पितृकुल से सर्वदा के लिये सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था। परन्तु यदि किसी पुत्री के पिता के कोई पुत्र नहीं होता था और वह पुत्री के पुत्र को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था तो वह अपनी पुत्री को ही पुत्र के रूप में मान लेता था, जिसे उत्तर काल में धर्मशास्त्रकारों ने 'पुत्रिका' नाम दिया है। कदाचित् ऐसी पुत्री, जिसके पुत्र को पिता अपने पौत्र के रूप में ग्रहण करना चाहता था, अपने पतिगृह में न रह कर पितृ-गृह में रहती थी।[6]

---

१. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ ऋक् ८,९१,५।

२. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।

३. मिलाइये, Sarkar, (Dr.) S.C.: *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 107.

४. ऋक् २,१७,७; १०,४०,५।

५. घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्।

६. देखिये, ऊपर पृ० २३३ पादटिप्पणी २।

३. ऋग्वैदिक काल में कन्या-वध की प्रथा का अभाव

यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वेद-काल में भी पुत्री की कामना नहीं की जाती थी और उसके जन्म से घर में कोई हर्ष नहीं होता था, अथर्व-परम्परा में पुरुष गर्भ के लिये जादू और औषध का प्रयोग किया जाता था, परन्तु यदि घर में पुत्री का जन्म हो ही जाता तो नृशंस उपायों द्वारा उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न किया जाता हो इसके लिये ऋग्वेद में तथा उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में भी कोई असंदिग्ध प्रमाण नहीं है। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य के कुछ वचनों[1] से वैदिक युग में कन्या-वध की प्रथा का प्रचलन स्वीकार किया है।[2] ज़िमर ने काठकसंहिता २७,९ से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक युग में कन्या-वध होता था। परन्तु यह स्पष्ट है कि ज़िमर ने उक्त प्रसङ्ग को समझने में भूल की है।[3] बोतलिंक ने भी ज़िमर के मत का खण्डन किया है।[4] काठकसंहिता के उक्त वचन—परा स्थालीमस्यन्ति न वायव्यं तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्—से केवल तत्कालीन वैदिक समाज की इस प्रथा की ओर संकेत होता है कि प्रसव-काल में पुत्र-शिशु को धात्री अङ्क में उठा लेती थी और पुत्री शिशु को शयन पर पड़ा छोड़ देती थी। तैत्तिरीयसंहिता तथा मैत्रायणी-संहिता में भी इसी प्रथा की ओर संकेत किया गया है। सायण तथा दुर्गाचार्य के अनुसार 'स्त्रियं जातां परास्यन्ति' में कन्या को विवाह में अन्य कुल के पुरुष को दे देने की ओर संकेत किया गया है।[5] यदि इन वचनों का अभिप्राय कन्या का परासन (मरण के लिये छोड़ देना) भी मान लिया जाये तब भी कन्यावध की प्रथा केवल उत्तरवर्ती वैदिक युग में ही सिद्ध होती है, ऋग्वैदिक काल में नहीं। ऋग्वेद में कन्यावध के संकेतों का न होना उस काल में इस प्रथा के

---

१. काठक सं० २७,९; तैत्ति० सं० ६,५,१०,३; मै० सं० ४,६,४; ७,९ निरुक्त ३,४; शाङ्खा० श्रौ० सू० १५,१७–२१।

२. Zimmer : *Altindisches Leben,* 319—20; Delbrück : *Indo-germanischen Verwandtschaftnamen,* 575; Weber : *Indische Studien* 554, 260 etc. (सरकारः पूर्व उद्धृत पृ० १०५, पा० टि० ११ तथा 'वैदिक इण्डैक्स' १,३९५ पा० टि० ३२ में निर्दिष्ट)।

३. देखिये, *Vedic Index,* I, 395.

४. *Z. M. D. G.,* 44, 494—96 (*Vedic Index,* I, 395, f. n. 35 में निर्दिष्ट).

५. सायण, तै० सं० १,४,२८; दुर्गाचार्य, निरुक्त ३,४ की टीका।

अप्रचलन को इस कारण और भी अधिक पुष्ट करता है कि ऋग्वेद में अवैध सन्तान को मरण के लिये त्याग दिये जाने का तो कई स्थलों में संकेत मिलता है,[1] किन्तु कन्यावध का नहीं। यदि ऋग्वैदिक समाज में कन्यावध की प्रथा प्रचलित होती तो उसका संकेत अवश्य होता। वैस्टरमार्क (Westermarck) ने ऋग्वेद २,२९,१ के आधार पर प्राचीन भारत में कन्यावध का प्रचलन माना है।[2] परन्तु स्पष्ट ही उक्त ऋक् कन्यावध की ओर संकेत नहीं करती है, अपितु अवैध सन्तान के वध की ओर संकेत करती है। इस ऋक् में भक्त आदित्यों से प्रार्थना करता है कि प्रेरणा देने वाले और व्रत को धारण करने वाले आदित्य मेरे पापों को ऐसे दूर कर दें, जैसे गूढ रूप से प्रसव करने वाली (रहसू) अपने बच्चे को दूर कर देती है।[3] वेबर द्वारा कन्यावध की प्रथा में प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया पञ्चविंश-ब्राह्मण (ताण्ड्यमहाब्राह्मण) का युक्ताश्व आङ्गिरस का प्रसङ्ग भी कन्यावध की प्रथा का पोषक नहीं है। पञ्चविंशब्राह्मण की युक्ताश्व की कथा अतिसंक्षिप्त तथा अस्पष्ट है और उसमें केवल दो नवजात शिशुओं (कदाचित् दोनों पुत्रों अथवा कम से कम एक पुत्र) के विपरिहार की बात कही गई है, जिसके कारण उसके समीप से मन्त्र लुप्त हो गये थे।[4] यहाँ शिशुओं के विपरिहार के कारण मन्त्रों का लुप्त हो जाना ध्यान देने योग्य है। यदि शिशुओं का विपरिहार (जैसा कि वेबर ने इसे समझा है) समाज में सामान्य प्रचलित प्रथा होती तो उसे मन्त्रों के लोप का कारण बतलाया जाना समझ में आने वाली बात नहीं है। फिर विपरिहार शब्द का अर्थ वध नहीं होता है, सायणाचार्य ने विपरिहार का अर्थ 'बाधा' किया है।[5] परन्तु विपरिहार का सहज अर्थ 'परस्पर विनिमय' है, जैसा कि डा० कलाण्ड ने उक्त ब्राह्मण का अनुवाद करते हुए किया है।[6]

---

१. ऋक् १,११२,८; २,१३,१२; १५,७; ४,१९,९; ३०,१६; १९; १०,६१,८।

२. *Origin and Development of Moral Ideas*, pp. 393–413 (वेदालङ्कार : हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० २४४, पा० टि० ४ में निर्दिष्ट)।

३ धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः। ऋक् २,२९,१।

४ युक्ताश्वो वा आङ्गिरसः शिशू जातौ विपर्य्यहरत्तस्मान्मन्त्रोऽपाक्रामत्। पञ्च० ब्रा० ११,८,८।

५. 'विपर्य्यहरत् विपरिहृतवान बाधितवान्।' ताण्ड्यमहा० ११,८,८।

६. "Yuktāśva of Angiras-clan exchanged two young ones immediately after their birth; from him the veda went forth"—*Pañcavimśa-Brāhmana* (*Bibliotheca Indica*, 1931) p. 263.

युक्ताश्व की कथा जैमिनीयब्राह्मण ३,२३ में भी आई है, जहाँ यह अधिक स्पष्ट और बुद्धिगम्य है। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार युक्ताश्व ने राजा सुदास् पैजवन की घोड़ियों के उत्तम बछेरों को अपने निकृष्ट बछेरों से बदल लिया था और इसके कारण लोगों ने उसे चोर तथा अनृषि कहकर भगा दिया था। उसने फिर से श्रद्धा प्राप्त करने तथा निमन्त्रण पाने के लिये यौक्ताश्व नाम का साम देखा।[1] यदि पञ्चविंशब्राह्मण तथा जैमिनीयब्राह्मण में एक ही कथा की ओर संकेत है, तो यह स्पष्ट है कि जैमिनीयब्राह्मण की कथा अधिक विश्वसनीय है। जैमिनीयब्राह्मण के अनुसार युक्ताश्व ने चोरी करने का पाप किया था, जिसके कारण लोगों की उस पर से श्रद्धा उठ गई थी, जिसे उसने नये साम की रचना करके प्राप्त करना चाहा था। इस कथा में प्रत्येक बात समझ में आने वाली है। इसमें कन्या-वध अथवा शिशु-वध की ओर कोई संकेत नहीं है। पञ्चविंशब्राह्मण के 'युक्ताश्वो वा आङ्गिरसः शिशू विपर्य्यहरत् जातौ' में 'शिशू' और 'विपर्यहरत्' का अर्थ भी जैमिनीयब्राह्मण की कथा के अनुरूप ही समझना चाहिये।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में कन्यावध का कोई असंदिग्ध प्रमाण नहीं है और ऋग्वेद में तो कोई संदिग्ध प्रमाण भी नहीं है, जबकि ऋग्वेद में अन्य कारणों से पुत्रों के त्याग दिये जाने का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[2] इसलिये यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्यों में कन्यावध की प्रथा प्रचलित नहीं थी। ऋग्वैदिक आर्यों में कन्यावध प्रचलित न होना इसलिये भी समझ में आने की बात है कि मध्य-युगीन भारत में जिन परिस्थितियों—कन्या के लिये योग्य वर की प्राप्ति में कठिनता, भारी दहेज जुटाने की असमर्थता तथा वर-पक्ष द्वारा कन्या-पक्ष को हीन दृष्टि से देखा जाना, श्वशुर-कुल में पुत्री के सुख की चिन्ता आदि—के कारण कन्या को भार-स्वरूप समझा जाता था और कुछ जातियों तथा प्रदेशों में कन्या से छुटकारा पाने की कुत्सित प्रथा प्रचलित हो गई थी, उनका ऋग्वेद में बहुत कुछ अभाव पाया जाता है। कन्यावध का एक कारण यह भी था कि

---

१. स युक्ताश्वो राजवडवानां शिशूञ्जातान् विपर्यहरत्। ये कल्याणा आसंस्तान् आत्मनेऽकुत। ये पापीयांसस्तान् राजवडवासु। ते तद् अन्वबुध्यन्त—शिशूञ्जातान् विपर्यहार्षीत् इति। तमबाधन्त—स्तेनोऽस्यनृषिरिति। सोऽकामयत—श्रद्धां विन्देयोप मा ह्वयेरन्निति। स एतत्सामापश्यत्। जै० ब्रा० ३,२३।

२. देखिये, ऊपर पृष्ठ २३६ पादटिप्पणी १।

लोगों को यह चिन्ता रहती थी कि कहीं कन्या युवावस्था में किसी पुरुष से अवैध यौन-सम्वन्ध स्थापित करके या किसी नीच जाति के पुरुष के साथ भागकर कुल को कलङ्कित न कर दे। परन्तु ऋग्वैदिक समाज में इस बात का कोई भय नहीं था, क्योंकि ऋग्वैदिक समाज में कन्याओं को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी और वे अपने प्रेमियों से विवाह कर सकती थीं। जिस कन्या से अनेक युवक विवाह करने के लिये उत्सुक रहते थे, उस कन्या को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता था।[१] आधुनिक तथा मध्ययुगीन स्थिति के विपरीत ऋग्वेद-काल में सामान्यतया वधू की खोज की जाती थी, वर का पिता अथवा मित्र वधू के पिता से याचना करने जाता था। बृहद्देवता के अनुसार अर्चनास ने अपने पुत्र श्यावाश्व के लिये रथवीति दार्भ्य की पुत्री की याचना की थी।[२] अश्विनौ सोम के लिये सूर्या के पिता (सविता) के पास उसकी याचना करने गये थे।[३] आजकल भी भारतवर्ष में कुछ जातियों तथा प्रदेशों में यह प्रथा पाई जाती है।[४]

४. पुत्री के प्रति पिता के अधिकार और कर्तव्य

ऋग्वेद में बाल-जीवन का अत्यल्प उल्लेख हुआ है, पुत्री के शैशव का तो और भी कम उल्लेख हुआ है। इसलिये पुत्री के प्रति पिता के कर्त्तव्यों के विषय में कोई विशिष्ट और निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद में प्रायः ऐसी अवस्थाओं की कन्याओं का उल्लेख हुआ है, जो विवाह योग्य हैं और योग्य पति के वरण की दृष्टि से मेलों में जाती हैं, तथा जिनके प्रेमी हैं[५] अथवा जो पति की कामना करती हुई पिता के घर में ही वृद्ध हो गई हैं।[६] इसलिये ऋग्वेद में पुत्री के प्रति पिता के केवल विवाह-सम्बन्धी अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के विषय में ही कुछ संकेत उपलब्ध हैं।

(अ) पुत्री के विवाह में पिता की भूमिका—ऊपर यह प्रदर्शित

१. देखिये, ऋक् १०,२७,१२; १.१२३,११।

२. बृहद्देवता, ५,५४–५५।

३. ऋक् १०,८५,९।

४. 'मंगनी' शब्द लड़की की मांग किये जाने की प्रथा की ओर संकेत करता है। देखिये, हिन्दी शब्दसागर, भाग ३, (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, १९२५)।

५ ऋक् ४,५८,८; ९,३२,५; ९,५६,३।

६. ऋक् १,११७,७; १०,४०,११; १२।

किया जा चुका है कि ऋग्वैदिक समाज में पुत्रियों को अपनी इच्छानुसार पति के वरण की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, जिसके लिये वे मेलों (समन) में जाती थीं और अपने प्रेमियों से एकान्त में भी मिलती थीं। परन्तु पुत्रियों के पति-वरण के कार्य में परिवार के बड़े लोगों का पूर्ण सहयोग रहता था[1] और कदाचित् पिता अथवा भाई यह ध्यान रखते थे कि उनकी पुत्री या बहिन को अयोग्य युवा अपने जाल में न फँसा ले। बृहद्देवता के अनुसार रथवीति ने अपनी रानी का परामर्श मान कर श्यावाश्व को अपनी पुत्री देना अस्वीकार कर दिया था।[2] ऋग्वेद ५,६१ में बृहद्देवता में वर्णित श्यावाश्व के आख्यान का संकेत प्रतीत होता है।[3] ऋग्वेद ५,६१,१०–१६ से यह निश्चित प्रतीत होता है कि रथवीति ने श्यावाश्व की किसी अभिलाषा में प्रतिघात किया था, लेकिन श्यावाश्व को फिर भी रथवीति से अपनी अभिलाषा की पूर्ति की आशा थी। ऋग्विधान के अनुसार कन्या के पिता को योग्य वर की प्राप्ति के लिये ऋग्वेद १०,८५,६–१३ का पाठ करना चाहिये।[4] ऋग्वेद में दो दिव्य कन्याओं के विवाह का उल्लेख हुआ है और दोनों में कन्या को विवाह में देने वाले तथा कन्या के साथ जाने वाले 'वहतु'[5] का प्रबन्ध करने वाले पिता ही हैं। ऋक् १०,१७,१ में कहा गया है कि त्वष्टा ने अपनी पुत्री के लिये 'वहतु' किया, जिसे देखने के लिये सारा भुवन एकत्रित हुआ।[6] सूर्या के विवाह में, जो कि मनुष्य-लोक के लिये विवाह का आदर्श माना गया है,[7] कन्या का दान करने वाला

१. मातायें पुत्रियों को अलङ्कृत करके मेलों में भेजती थीं। (देखिये ऋक १,१२३,११)।

२. बृहद्देवता ५,४९ तथा आगे।

३. सीग (Sieg) ने *Die Sagenstoffe des Ṛgveda*, pp. 50-60 में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद का सूक्त बृहद्देवता के आख्यान की अपेक्षा रखता है। यद्यपि 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखक सीग से सहमत नहीं है, परन्तु वे भी यह स्वीकार करते हैं कि इस सूक्त की पृष्ठभूमि में कोई इतिहास अवश्य है। (*Vedic Index*, II, 400)।

४. ३,२२,६ (*The Ṛigvidhana, Eng. Trans.* by J. Gonda)।

५. मॉनेर विलियम्स (संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी) के अनुसार 'वहतु' शब्द का अर्थ 'विवाह' या 'विवाहोत्सव' है।

६. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।

७. मिलाइये, बृहद्देवता ७,१३८—मन्त्रा वैवाहिका ह्येते निगद्यन्ते नृणामपि।

उसका पिता सविता था। ऋक् १०,८५,९ में कहा गया है : 'जब मन से पति की कामना करती हुई सूर्या को सविता ने दिया, उसमें सोम वधूयु (वधू की कामना करने वाला) हुआ तथा दोनों अश्विनौ उसकी याचना करने वाले (वर) हुए।'[1] ऋक् १०,८५,१३ में कहा गया है : 'सूर्या का वहतु आगे-आगे चला जिसे सविता ने दिया था।'[2] पुत्री का कुलीन तथा योग्य व्यक्ति के साथ विवाह करना पिता का परम आवश्यक कर्त्तव्य था और पिता योग्य पुरुष की ओर से पुत्री की याचना करने वाले मध्यस्थ का अत्युपकार मानता था। पूषा (जो कि सविता के लिये ही दूसरा शब्द प्रतीत होता है) सोम की ओर से सूर्या की याचना करने वाले अश्विनौ को अपने पिता के रूप में वरण करता है।[3]

यद्यपि ऋग्वेद में कोई ऐसा साक्षात् प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि पिता को पुत्री की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छानुसार किसी भी पुरुष को दे देने का अधिकार था, परन्तु पितृसत्ताक परिवारों वाले समाज में पैतृक अधिकारों के क्रमिक ह्रास के इतिहास को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि पिता अथवा उसके अभाव में ज्येष्ठ भाई अथवा किसी अन्य पुरुष सम्बन्धी का कन्या के विवाह पर पर्याप्त नियन्त्रण रहा होगा, क्योंकि गृह्यसूत्रों में कन्यादान का अधिकारी पिता है।[4] जहाँ कन्या अपनी इच्छा से पति का वरण करती थी वहाँ भी अन्तिम निर्णय कदाचित् कन्या के पिता अथवा भाई की अनुमति से ही होता था।[5] जिस काल में कन्या-शुल्क लेने की प्रथा रही होगी, जैसा कि ऋग्वेद के साक्ष्य से स्पष्ट है[6], उस काल में पिता का कन्या के विवाह पर नियन्त्रण अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। ऋग्वेद में अश्विनौ की कृपा से वृद्ध पुरुष द्वारा युवती कन्याओं को

---

१. सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादात्॥
२. सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
३. यदश्विना पृच्छमानावयात त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरावृणीत पूषा॥
ऋक् १०,८५,१४।
४. पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति। पारस्करगृह्यसूत्र १,४,१५।
५. मिलाइये, Kaegi : *Life in Ancient India*, p. 25.
६. ऋक् १,१०९,२ (ऊपर पृ० २२६ पा० टि० ४ में उद्धृत)।

प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है।[1] इन असदृश विवाहों में सम्भवतया कन्या के पिता का हाथ रहा होगा, जिसमें विवाह की कामना करने वाले पुरुष ने धन तथा अन्य प्रलोभन अथवा किसी प्रकार के दबाव द्वारा कन्या के पिता को सन्तुष्ट अथवा विवश कर दिया होगा।[2]

(आ) **विवाहित पुत्री पर पिता के अधिकार**—सामान्यतया पिता का पुत्री पर जो भी अधिकार अथवा नियन्त्रण था वह पुत्री के पतिकुल में जाने से पूर्व तक ही सीमित था। विवाह-विधि से कन्या पर से पितृकुल का अधिकार समाप्त हो जाता था और उस पर पतिकुल का अधिकार हो जाता था। विवाह-विधि में वर द्वारा वधू का शिखा-मोचन इस बात का प्रतीक है कि वधू पिता द्वारा आरोपित बन्धनों से मुक्त हो गई है, परन्तु साथ ही वह पतिकुल की मर्यादाओं के बन्धनों में और भी अधिक दृढ़ता से बाँध दी गई है। यह तो निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि शिखा-मोचन की प्रथा ऋग्वेद-काल में प्रचलित थी अथवा नहीं, लेकिन गृह्यसूत्रों में शिखा-मोचन की क्रिया के साथ ऋग्वेद की जिन दो ऋचाओं के पाठ का विधान किया गया है, उनके विषय से स्पष्ट है कि ऋग्वेद-काल में आचार के रूप में वधू को पितृ-प्रभुता से मुक्ति दिलाकर पति-प्रभुता में ले जाया जाता था।[3] लेकिन कुछ असामान्य परिस्थितियों में ऋग्वेद-काल में भी विवाहित पुत्री पर पिता का अधिकार इस रूप में स्वीकार किया गया है कि पिता पुत्रहीन होने की दशा में पुत्री के पुत्र अर्थात् दौहित्र को पौत्र बनाकर अपने पास रख सकता था और कदाचित् ऐसी पुत्री भी पितृ-गृह में ही रहती थी। यह स्वाभाविक है कि ऐसी वधू पर उसके पति और पतिकुल का अधिकार नाम-मात्र को ही रहता हो। यहाँ यह स्मरणीय है कि वैदिक काल में पुत्री के पुत्र

---

१. ऋक् १,११६,१०; ११७,१३; ११८,६; ५,७४,५; ७,६८,६; ७१,५; १०,३९,४।

२. शत० ब्रा० (४,१ ५,६-७) के अनुसार शर्यात मानव को च्यवन के शाप से मुक्ति प्राप्त करने के लिये अपनी पुत्री सुकन्या का उस वृद्ध के साथ विवाह करना पड़ा था। (देखिये ऊपर पृ० १३१ पा० टि० ५)।

३. प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ।
प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ ऋक् १०,८५, २४-२५।

को गोद लेना पिता के अधिकार के क्षेत्र में था, इसलिये धर्मसूत्रों तथा स्मृति-ग्रन्थों में भ्रातृहीन कुमारी को विवाह के अयोग्य घोषित किया गया था, क्योंकि ऐसी कुमारी की पुरुष सन्तान को उसके पिता द्वारा ले लिये जाने का भय बना रहता था। पारस्करगृह्यसूत्र में विधान किया गया है कि जिस पिता के केवल पुत्रियाँ हों, वर उसे सौ गायें तथा रथ देवे।[1] इसका आशय कदाचित् दुहितृमान् पिता के पुत्री में निहित अधिकारों का क्रय करना था। विवाहित पुत्री पर ऋग्वैदिक पिता के अधिकार की सम्भावना इस बात से और भी पुष्ट होती है कि रूस में भी विवाहित पुत्री पर पिता का कुछ अधिकार बना रहता था।[2]

(इ) **पिता और पुत्री का परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवहार**—यद्यपि ऋग्वैदिक समाज में पुत्र की प्रबल कामना की जाती थी और पिता पुत्र से अत्यधिक स्नेह करते थे, फिर भी ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों में ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि पिता और पुत्र के पारस्परिक स्वार्थों के संघर्ष के कारण उनमें परस्पर विवाद तथा कलह की घटनायें होती रहती थीं।[3] इसके विपरीत, पुत्री की यद्यपि कामना नहीं की जाती थी, परन्तु वैदिक साहित्य में प्रतिकूल प्रमाणों के अभाव में यह कहा जा सकता है कि पिता और पुत्री का पारस्परिक व्यवहार मधुर तथा सहानुभूति-पूर्ण ही रहा होगा। पितृ-गृह में अविवाहित रह जाने वाली पुत्रियाँ पिता का अत्यधिक ध्यान रखती थीं।[4] ऋग्वेद में पिता की इच्छा के विरुद्ध कन्या के आचरण का केवल एक अस्पष्ट उदाहरण है—"ऋभुओं ने अग्नि के कहने से त्वष्टा द्वारा निर्मित एक चमस को चार भागों में विभक्त कर दिया, इससे त्वष्टा क्रुद्ध हुआ और बोला कि जिसने देवों के पान करने के चमस को दूषित किया है उन्हें मार डालना चाहिये। इस पर ऋभुओं ने सोम-पान के समय अपने नाम अन्य रख लिये और त्वष्टा की पुत्री (कन्या)[5] ने नये नामों से उनका स्वागत किया।"[6] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में कोई ऐसा संकेत नहीं

---

१. अधिरथं शतं दुहितृमते। पारस्कर गृ० सू० १,८,१८।

२. देखिये, Mayne : *A Treatise on Hindu Law and Usage*, p. 65, f. n. (i)

३. देखिये, ऊपर पृ० २००, २०१।

४. देखिये, ऊपर पृ० २३४।

५. ग्रिफिथ ने यहाँ कन्या का अभिप्राय त्वष्टा की पुत्री समझा है। (*Hymns of the Rigveda*, I, 225, f. n.).

६. देखिये ऋक् १, १६१, २—५।

है जिससे पिता और पुत्री के मध्य कोई कटुता अथवा उपेक्षा झलकती हो। इसके विपरीत, ऋग्वैदिक ऋषियों की द्यौ और उषस् तथा सूर्य और सूर्यप्रभा आदि प्राकृतिक तत्त्वों के मध्य पिता-पुत्री सम्बन्ध की कल्पना[1] ऋग्वैदिक पिता और पुत्री के मध्य मधुर, कोमल एवम् कमनीय व्यवहार का स्पष्ट संकेत है।

५. ऋग्वेद-काल में पिता-पुत्री में यौन सम्बन्ध ?

क्या ऋग्वेद-काल में पिता और पुत्री के विवाह की प्रथा प्रचलित थी? यह एक जटिल प्रश्न है। सभ्य समाजों में पिता-पुत्री, भाई-बहिन तथा अन्य निकट सम्बन्धियों के पारस्परिक विवाह को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और ऐसे सम्बन्ध को निकटाभिगमन (incest) कहा जाता है। परन्तु समाजशास्त्र में विकासवाद के प्रवर्तक मॉर्गन[2] तथा उसके अनुयायी एन्जिलस[3] के अनुसार प्रत्येक नृसमाज अपने विकास की एक ऐसी अवस्था में से गुजर चुका है, जिसमें निकटाभिगमन का कोई विचार उदय नहीं हुआ था और पिता-पुत्री तथा भाई-बहिन यौन सम्बन्ध के लिये सहज मिथुन होते थे। क्या ऋग्वेद ऐसे समाज को प्रतिबिम्बित करता है, जिसमें निकटाभिगमन के विचार का उदय नहीं हुआ है और जिसमें पिता और पुत्री यौन-सम्बन्ध के लिये सहज मिथुन हैं?

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद ऐसे समाज को प्रतिबिम्बित नहीं करता। यह मत स्थिर करने में निम्न हेतु हैं—

(१) मॉर्गन[4] के अनुसार सगोत्र परिवार (consanguine family) जिसमें दम्पती परस्पर निकट सम्बन्धी होते हैं, जंगली जीवन की तृतीय अवस्था या बर्बर जीवन की प्रथम अवस्था में होता है और इस अवस्था में मिथुन-परिवार नहीं हो सकता। मिथुन-परिवार जिसमें केवल एक पति और एक पत्नी का विवाह-सम्बन्ध होता है, समाज की उस अवस्था में सम्भव है जब निकट सम्बन्धियों के विवाह पर प्रतिबन्ध के कारण सामूहिक विवाह सम्भव नहीं रहता। लेकिन ऋग्वेद में ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक समाज में विवाह-सम्बन्ध केवल दो व्यक्तियों के मध्य में होता था, और यह आशा प्रकट की जाती थी कि पति और पत्नी वृद्धावस्था पर्यन्त

---

१. देखिये, ऊपर पृ० २१९।

२. *Ancient Society.*

३. *Origin of Family, Private Property and State.*

४. *Ancient Society.*

विवाह-सूत्र में आबद्ध रहेंगे।[१] इसलिये परिवार संस्था के सामान्य विकास-क्रम की दृष्टि से ऋग्वैदिक लोग निकटाभिगमन (incest) की अवस्था को सुदूर प्राचीन काल में पार कर चुके थे।

(२) ऋग्वेद-काल में पिता-पुत्री में यौन सम्बन्ध की प्रथा इसलिये भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि विकास-क्रम की दृष्टि से निकट सम्बन्धियों के विवाह के विषय में सर्वप्रथम प्रतिबन्ध 'अवस्था' का माना गया है अर्थात् भाई-बहिन के विवाह पर प्रतिबन्ध लगने से पूर्व पिता-पुत्री अथवा माता-पुत्र के विवाह पर प्रतिबन्ध लगा है। ऋग्वेद में यम-यमी सूक्त में वैदिक ऋषि ने भाई-बहिन के विवाह को आपत्तिपूर्ण समझा है।[२] इसलिये भाई-बहिन के विवाह पर प्रतिबन्ध लगने से पूर्व पिता-पुत्री के विवाह पर प्रतिबन्ध लगा होगा।

(३) जिन समाजों में निकट सम्बन्धियों—पिता-पुत्री, भाई-बहिन के विवाह की प्रथा होती है, उनमें विवाह-सम्बन्धियों (affines) के वाचक शब्दों का अभाव होता है।[३] परन्तु ऋग्वेद में 'श्वशुर', 'श्वश्रू', 'स्याल', 'जामातर्', 'स्नुषा', 'देवर्', 'यातर्' आदि विवाह-सम्बन्धियों के वाचक शब्द पाये जाते हैं। 'श्वशुर' और 'श्वश्रू' इन दो सम्बन्धों का जन्म इण्डो-यूरोपीय काल में ही हो चुका था, क्योंकि इन दोनों सम्बन्धों के वाचक शब्द अनेक इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में एक समान हैं।[४]

ऊपर परिवार संस्था के विकास-क्रम को दृष्टि में रखकर पिता-पुत्री के विवाह की सम्भावना पर विचार किया गया है। नीचे ऋग्वेद के उन प्रसङ्गों पर विचार किया जायेगा जिनके आधार पर कुछ गवेषकों ने ऋग्वेद-काल में पिता और पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्धों के होने का उल्लेख किया है।

डा० इरावती कार्वे का कथन है कि ऋग्वैदिक पिता को अपनी पुत्रियों,

---

१. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

ऋक् १०, ८५, ३६।

२. उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।

ऋक् १०,१०,१०।

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। ऋक् १०,१०,१२।

३. Cf. Lowie : *Primitive Society*, p. 55.

४. देखिये, ऊपर पृ० ६०।

पुत्रवधुओं तथा बहिनों पर यौन अधिकार था।[1] डा० एस० सी० सरकार[2] ने वैदिक काल में पुत्र-प्राप्ति के लिये पुरुष का माता या बहिन से यौन-सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेप-आख्यान की एक गाथा[3] (श्लोक) का उल्लेख किया है। परन्तु प्रसङ्ग पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि उस गाथा में पुत्र की आवश्यकता को पशु और पक्षियों के उदाहरण से पुष्ट किया गया है। यहाँ कहा गया है कि पशु-पक्षी भी पुत्रलोक के सुखों को जानते हैं, जिसके लिये वे माता और बहिन के साथ भी मैथुन करते हैं। इस गाथा में मनुष्य के लिये माता या बहिन से मैथुन करने का परामर्श नहीं दिया गया है, क्योंकि नारद ने हरिश्चन्द्र को पुत्र-प्राप्ति के लिये वरुण की उपासना करने की सलाह दी है।[4]

ऋग्वेद में घर की स्त्रियों पर पिता के यौन-सम्बन्ध की पुष्टि में सम्भवतया ऋग्वेद १०,४,४ को उद्धृत किया जा सकता है। इसमें अग्नि की स्तुति में कहा गया है: 'अग्नि विश्पति (गृहपति) होने के कारण युवति का बार-बार आलिङ्गन करता है।'[5] यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि अग्नि के इस रूपक का आधार मनुष्य गृहपति की युवति के प्रति काम-चेष्टायें रही होंगी। यदि यह तर्क मान भी लिया जाये तो इससे केवल यही सिद्ध होता है कि विश्पति अनेक युवति स्त्रियों से विवाह करता था। यहाँ युवति का अभिप्राय विशेष स्त्रियाँ—पुत्री, पुत्रवधू तथा बहिनें—नहीं हो सकता है।

पिता और पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्ध का निर्देश करने वाले ऋग्वेद के

---

१. देखिये, *Kinship Usage and the Family Organization (A.B.O.R.I., XX, p. 215)*; ऊपर पृ० १३०।

२. *Some Aspects of the Earliest Social History of India, p. 77.*

३. नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मात्तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति ॥
एष पन्था उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मात्ते मात्रापि मिथुनीभवन्ति ॥
ऐत० ब्रा० ७,१३।

४. ऐत० ब्रा० ७,१४—अथैनमुवाच वरुणं राजानमुपधाव पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति।

५. रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्। ऋक् १०,४,४।

उद्धरणों की विस्तृत आलोचना करने से पूर्व यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है, जिसकी ओर गवेषकों ने ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है, कि पिता-पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्धों की ओर संकेत करने वाले उदाहरण प्रायः ऋग्वेद के अर्वाचीन माने जाने वाले भाग में ही पाये जाते हैं। केवल ऋक् ३,३१,१ को छोड़कर सब उद्धरण ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल में आये हैं। इसलिये विकास-क्रम की दृष्टि से इन उद्धरणों का पिता-पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्धों की सिद्धि में नगण्य महत्त्व है, क्योंकि निकट सम्बन्धियों के विवाह की प्रथा किसी समाज की आदिम अवस्था में होती है, इसलिये यदि ऋग्वैदिक समाज में यह प्रथा होती तो उसका उल्लेख ऋग्वेद के प्राचीन भागों में होना चाहिये था, न कि अर्वाचीन में। साथ ही ये उद्धरण अत्यन्त अस्पष्ट हैं और इनके अर्थ के विषय में विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है।

काल-क्रम की दृष्टि से ऋग्वेद का सबसे प्राचीन प्रसङ्ग, जिसे डा० इरावती कार्वे तथा डा० एस० सी० सरकार ने पिता-पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया है, ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ३१ वें सूक्त की प्रथम ऋक् है।[1] परम्परा के अनुसार इस सूक्त का ऋषि विश्वामित्र और देवता इन्द्र है। परन्तु इस सूक्त की पहली दो ऋचाओं का शेष सूक्त से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत हाता।[2] इसलिये यह सम्भव है कि यह दो ऋचायें शेष सूक्त में बाद में जोड़ दी गई हों। यास्क के अनुसार इस सूक्त की पहली ऋक् में पुत्री के पुत्र अर्थात् दौहित्र को पौत्र के रूप में स्वीकार कर लेने की प्रथा का उल्लेख हुआ है।[3] यास्क की व्याख्या के अनुसार इस ऋक् में पिता-पुत्री के यौन सम्बन्ध का कोई निर्देश नहीं है। पिता सन्तानकर्म के लिये पुत्री को पुत्र रूप में प्रख्यापित करता है और इस प्रकार दौहित्र को पौत्र के रूप में प्राप्त कर लेता है। दौहित्र को पौत्र रूप में ग्रहण करने के लिये वह पुत्री को विवाह में देने से पूर्व ही भावी जामाता से इस विषय में समझौता

१. शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥

२. Cf. Wilson : *Rigveda* 3, 303, f. n.; Griffith: *Hymns of the Rigveda*, II, 31, f. n. 2.

३. निरुक्त, ३,४–५।

कर लेता है[1] और इस प्रकार सुखी चित्त से स्वयं को सन्तुष्ट करता है। बृहद्देवता के अनुसार भी इस ऋक् में पुत्री के पुत्रिकाभाव का ही उल्लेख किया गया है।[2] बृहद्देवता ४,१११ में इस ऋक् के विषय के सम्बन्ध में जो दूसरा सुझाव दिया है, उसमें अवश्य पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों का संकेत है।[3] इस ऋक् की एक अन्य सन्तोषजनक व्याख्या भी है[4] जिसके अनुसार इस ऋक् में वह्नि (पुरोहित) द्वारा दुहिता (अरणी) से नप्त्य (अग्नि) की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इस व्याख्या के अनुसार इस ऋक् की शेष सूक्त के साथ संगति भी बैठ जाती है।

पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्ध का एक अन्य उल्लेख ऋक् १,७१,५ में माना जाता है :

महे यत् पित्र ईं रसं दिवे करव त्सरत्पृशन्यश्चिकित्वान्।

सृजदस्ता धृषता दिद्युमस्मै स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात्॥

'जब (मनुष्यों ने) महान् पिता द्यौ के लिये रस (सोम) का सवन किया तो उसने (अग्नि ने) जान लिया और स्वयं को गाढ आलिङ्गन (रात्रि के अन्धकार) से मुक्त कर लिया। धनुर्धारी ने शक्तिपूर्वक इस पर बाण चलाया और देव ने अपनी पुत्री में तेज का आधान किया।'[5]

इस ऋक् में भी वही कठिनाई है। प्रथम, यह ऋक् अत्यन्त अस्पष्ट है। दूसरे, इसमें भी द्यौ द्वारा उषस् को कान्तियुक्त कर देने का उल्लेख हुआ प्रतीत होता है।[6] इसमें भी मनुष्य पिता-पुत्री के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है।

पिता-पुत्री में यौन-सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये उदाहृत की जाने वाली अन्य ऋक् १,१६४,३३ है जो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रसिद्ध 'अस्यवामीय' सूक्त में आई है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

---

१. पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतःसेकं प्रार्जयति। निरुक्त ३,५।
२. करोति पुत्रिकां नाम यथा दुहितरं तथा। बृहद्देवता ४,११०।
३. तस्यां सिञ्चति रेतो वा तच्छासदिति कीर्तितम्॥ ४,१११।
४. Cf. *A. B. O. R. I*, XX, 93, f. n. 2.
५. यह भाषान्तर ग्रिफिथ के आधार पर किया गया है।
६. देखिये, ग्रिफिथ : *Hymns of the Rigveda*, I, 124, f. n. 5.

'द्यौ मेरा पिता तथा उत्पादक है, यहाँ नाभि है। यह महान् पृथिवी मेरी बन्धु तथा माता है। दो विस्तृत चषकों (द्यौ और पृथिवी) के मध्य में जन्मस्थान (योनि) है। इसमें पिता ने पुत्री का गर्भ धारण किया।'

इस मन्त्र में पिता से द्यौ तथा दुहिता से पृथिवी का अभिप्राय है और गर्भ का अभिप्राय वर्षा है जिसे पृथिवी पर तृणादि की उत्पत्ति का कारण होने के कारण पृथिवी का गर्भ कहा गया है।[1] इस मन्त्र में भी मनुष्य पिता-पुत्री के यौन सम्बन्ध का संकेत नहीं है।

पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों की सिद्धि में उदाहृत किये जाने वाले अन्य प्रसङ्ग ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१वें सूक्त की ऋक् ५, ६, और ७ में हैं।[2] परम्परा के अनुसार इस सूक्त का ऋषि नाभानेदिष्ठ मानव है[3] और देवता 'विश्वेदेव' हैं। डा० म्यूर के अनुसार इन ऋचाओं का अर्थ निम्न प्रकार है :

'पुरुष ने, जिसका वीरकर्म (लिङ्ग) वृद्धि को प्राप्त था, इसे वापस कर लिया जो पहले आगे बढ़ा हुआ था। अप्रतिरुद्ध (देव) फिर उसे वापस लेता है जो युवा पुत्री के (गर्भ में) प्रविष्ट था।'

'पिता के पुत्री के प्रति कामना करने पर, परस्पर समीप होने पर जो मध्य में करने का कार्य था (उन्होंने किया)। एक दूसरे से अलग होने पर उन्होंने सुकृत की भूमि में अल्प वीर्य का त्याग किया, जो धरातल पर फैल गया।'

---

१. देखिये सायणभाष्य; ग्रिफिथ: वही, भाग १, पृ० २६० पा० टि० ३३। नैरुक्तों के मत से इससे पहली ऋक् (१,१६४,३२) में वर्षकर्म का वर्णन है (निरुक्त, २,८)। इस ऋक् में भी वर्षकर्म का ही वर्णन प्रतीत होता है।

२. प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा॥
मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ॥
पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥
ऋक् १०,६१,५; ६; ७।

३. लेकिन नाभानेदिष्ठ के ऐतिहासिक पुरुष होने में कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है (देखिये, ऊपर पृ० २०३ पा० टि० ६)।

'जब पिता ने अपनी पुत्री को गर्भयुक्त करने का विचार किया और उस से समागम किया तो पृथिवी पर वीर्य का सिञ्चन किया; उदार देवों ने प्रार्थना उत्पन्न की, उन्होंने व्रत की रक्षा करने वाले वास्तोष्पति को बनाया।'[1]

ऋग्वेद की यह तीनों ऋचायें अत्यधिक कठिन तथा अस्पष्ट मानी गई हैं।[2] ग्रिफिथ ने इन ऋचाओं का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं किया है और इन्हें परिशिष्ट में डाला है। इन ऋचाओं में यह पता नहीं चलता कि यहाँ पिता और दुहिता से किसका अभिप्राय है। डा० म्यूर का विचार है कि इनमें किसी अन्तरिक्ष-स्थानीय घटना का वर्णन है।[3] सायण के अनुसार इनमें यह दर्शाया गया है कि रुद्र प्रजापति ने किस प्रकार अपने शरीर से ही रुद्र वास्तोष्पति को उत्पन्न किया है।[4] शतपथब्राह्मण में इन ऋचाओं में प्रजापति और उसकी पुत्री के मैथुन का वर्णन माना गया है तथा ऋक् १०,६१,७ के पूर्वार्ध को उद्धृत किया गया है। शतपथब्राह्मण में प्रजापति और पुत्री के मैथुन की कथा इस प्रकार दी गई है :

'प्रजापति ने मैथुन की कामना से अपनी पुत्री, द्यौ अथवा उषस् को देखा और उसके साथ समागम किया। देवों की दृष्टि में यह पाप था कि जो इस

---

१. *Original Sanskrit Texts*, Vol. 4, pp. 46—47.

"That male, whose prolific virile (organ) was extended, now withdrew it, after it had been sent forth. Again the irresistible (god) draws forth that which had been introduced (into the womb of) his youthful daughter. (They then did) in the midst that which was to be done at their contact, when the father loved the youthful damsel,—separating from each other, they discharged a little seed which was shed on the surface, on the place of holy ceremonies. When the father, bent on impregnating his own daughter, united with her, discharged his seed on the earth, the benevolent gods generated prayer, they fashioned Vāstoshpati, the protector of sacred rites."

२. देखिये, डा० म्यूर: वही, ४, ४६।

३. वही।

४. यथा स्वांशेन भगवान् रुद्रः प्रजापतिर्वास्तोष्पतिं रुद्रमसृजन्तदेतदादिभिस्तिसृभिर्वदति। सायणभाष्य।

प्रकार अपनी पुत्री और उनकी बहिन के प्रति कर रहा था। देवों ने कहा—जो यह देव पशुओं का स्वामी है, यह अनुचित कर रहा है जो इस प्रकार अपनी पुत्री और हमारी बहिन के प्रति कर रहा है, इसे बींधो। रुद्र ने उस पर लक्ष्य किया और बींध दिया।[1] उसका आधा वीर्य पृथिवी पर गिर गया। यह इसी प्रकार हुआ था। इसलिये ऋषि ने यह कहा: 'जब पुत्री का आलिङ्गन करते हुए पिता ने उसके साथ समागम किया, उसने पृथिवी पर वीर्य गिराया।'[2]

शतपथब्राह्मण के अनुसार इन ऋचाओं में पिता का अभिप्राय प्रजापति (अथवा यज्ञ)[3] और पुत्री का अभिप्राय द्यौ अथवा उषा है। ऐतरेयब्राह्मण में भी प्रजापति की दुहिता, जिससे प्रजापति ने मैथुन किया, उषा या द्यौ ही कही गई है।[4] ऐतरेयब्राह्मण में प्रजापति-दुहिता की कथा का उद्देश्य मृग, रोहिणी और मृगव्याध नामक नक्षत्रों की उत्पत्ति बतलाना प्रतीत होता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ऊपर निर्दिष्ट ऋचाओं में ऋग्वैदिक आर्यों में पिता और पुत्री में यौन-सम्बन्धों की कल्पना के लिये दृढ आधार नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद के वे सभी स्थल जो पिता-पुत्री के निकटाभिगमन को सिद्ध करने के लिये उद्धृत किये गये हैं, स्पष्ट नहीं हैं। दूसरे, अति प्राचीन

---

१. पुत्री के साथ मैथुन करने वाले पिता के बींधे जाने का संकेत ऋक् १,७१,५ में भी हुआ। कदाचित् ऋग्वेद के इस संकेत को लेकर ही इस कथानक के सम्बन्ध में ऐतरेयब्राह्मण में भूतवत् या पशुमत् की तथा शतपथ-ब्राह्मण में रुद्र की कल्पना की गई है।

२. प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वा उषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति तां सम्बभूव। तद् वै देवानामाग आस। यदित्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति इति। ते ह देवा ऊचुः। योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽतिसन्धं वा अयं चरति यदित्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति विध्येममिति। तं रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध, तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द। तथेद् नूनं तदास तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तं पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चदिति। शत० ब्रा० १, ७, ४, १—४।

३. स वै यज्ञ एव प्रजापतिः। १,७,४,४।

४. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। ऐत० ब्रा० ३,३३।

काल में भी उनकी दैवत-परक व्याख्या की गई है और देवों में भी पिता-पुत्री के यौन सम्बन्ध को पाप समझा गया है। ऐतरेयब्राह्मण की दृष्टि में तो प्रजापति और उसकी दुहिता अपने देव-रूप में मैथुन नहीं कर सकते थे, इस लिये उन्होंने मृग और मृगी का रूप धारण किया।

ऋग्वेद के उपरिनिर्दिष्ट प्रसङ्गों से अधिक से अधिक यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ऋग्वैदिक ऋषियों को अपनी जाति के सुदूर प्राचीन काल के जंगली जीवन की इस प्रथा की स्मृति परम्परा से प्राप्त थी जो देव और उसकी दुहिता के मैथुन के वर्णन में प्रतिबिम्बित हुई है। परन्तु इस कल्पना का भी कोई दृढ आधार नहीं खोजा जा सकता। सम्भवतया पिता-दुहिता के यौन-सम्बन्धों के अस्पष्ट और अटपटे संकेतों में ऋग्वैदिक ऋषियों की उस प्रवृत्ति के दर्शन हुए हैं जिससे कवि अनहोनी बातें कहकर अपने श्रोताओं तथा पाठकों को चमत्कृत करने का प्रयत्न करते हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों की यह प्रवृत्ति अन्य प्रसङ्गों में भी पाई जाती है।[1]

डा० इरावती कार्वे ने पिता-पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये अथर्ववेद से भी एक उदाहरण दिया है,[2] जहाँ कृत्या को सम्बोधन करके कहा गया है कि कृत्या अपने बनाने वाले के पास इस प्रकार चली जाये, जैसे पुत्री पिता के पास जाती है। यह प्रसङ्ग भी पिता-पुत्री में यौन-सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये ठोस आधार नहीं है, क्योंकि यहाँ 'जानीहि' का 'मैथुन के लिये जाना' अर्थ करना क्लिष्ट कल्पना ही है, जबकि 'परेहि' और 'जानीहि' के सामान्य अर्थ से भी मन्त्र का बिल्कुल स्वाभाविक तथा सङ्गतिपूर्ण अर्थ निकल आता है। इस मन्त्र का स्वाभाविक अर्थ यह है—'अङ्गराग से लिप्त, अलङ्कृत तथा सब पापों को धारण करने वाली कृत्या अपने बनाने वाले के पास इस प्रकार चली जाये, जैसे (पति द्वारा परित्यक्ता) पुत्री पिता के पास जाती है।' अपाला कदाचित् ऐसी पुत्री थी जो पति द्वारा त्याग दी गई थी, इसलिये अपने पिता के साथ रहती थी।[3]

पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्ध के प्रसङ्ग में डा० एस० सी० सरकार[4] तथा

---

१. देखिये ऋक् १०,२८,४; ६।

२. अभ्यक्ताक्ता स्वरं कृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि जानीहि कृत्ये कर्त्तारं दुहितेव पितरं स्वम्। अथर्व० १०,१,२५।

३. देखिये ऋक् ८,९१।

४. *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 76.

डा० इरावती कार्वे[१] ने एक अन्य मनोरञ्जक मत की कल्पना की है। वह यह है कि पुत्रहीन पिता सामान्यतया पिता-पुत्री के मध्य यौन-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध स्थापित हो जाने पर भी पुत्र-प्राप्ति के लिये अस्थायी रूप से पुत्री के साथ मैथुन करता था और पुत्र प्राप्त हो जाने पर पुत्री का अन्य कुल के पुरुष से विवाह करता था; धर्मशास्त्रों में वर्णित पुत्रिकापुत्र की प्रथा इसी प्रथा का पश्चात् विकसित हुआ रूप है। डा० इरावती कार्वे ने लिखा है: 'वैदिक लोगों में भ्रातृहीन कन्या के प्रति इसलिये घृणा थी क्योंकि वह विवाह से पूर्व अपने पिता के लिये पुत्र उत्पन्न करती थी, इसलिये वह कुमारी नहीं होती थी।'[२] परन्तु उनका यह मत ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित सामाजिक अवस्था से पुष्ट प्रतीत नहीं होता। यदि ऋग्वैदिक समाज में पिता और पुत्री का विवाह विशेष परिस्थितियों में समाज से अनुमोदित प्रथा थी तो भ्रातृहीन पुत्री से अस्थायी सम्बन्ध की क्या आवश्यकता थी, जबकि पिता पुत्री से स्थायी रूप से भी विवाह कर सकता था। यह सत्य है कि ऋग्वेद[३] में भ्रातृहीन कुमारी को अनैतिकता का प्रतीक समझा जाता था तथा अथर्ववेद के संहिता-काल से पूर्व ही भ्रातृहीन कन्या को वैदिक समाज में हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था[४] और ऐसी कुमारी को पति प्राप्त करने में कठिनाई होती थी, परन्तु इसका कारण कौमार्य का अभाव नहीं था, क्योंकि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विधवा-विवाह[५] की प्रथा के प्रचलन से वैदिक लोगों का कुमारी कन्या के लिये विशेष आग्रह नहीं प्रतीत होता है। धर्मशास्त्रों में भ्रातृहीन कन्या को विवाह के अयोग्य घोषित करने का कारण उसके पुत्र को पिता द्वारा ले लिये जाने का भय ही था।[६] ऋग्वेद में तथा उत्तरवर्ती साहित्य में पुत्र की प्रबल

---

१. *Kinship Usage and Family Organization* (*A B.O.R.I., XX*, p. 216).

२. वही।

३. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥ ऋक् ४.५,५।

४. अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः। अथर्व० १,१७,१।
कुछ पाठान्तर के साथ यह मन्त्र निरुक्त ३,४ में भी उद्धृत किया गया है।

५. देखिये, आगे अध्याय ८, अनु० ८।

६. निरुक्त (३,५) में उद्धृत एक प्राचीन वचन में अभ्रातृमती के विवाह के निषध का कारण यही भय दिया गया है—नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद् भवति। Cf. P. V. Kane : *Vedic Basis of Hindu Law*, p. 4.

कामना, विशेषतया उत्तरकाल में ज्येष्ठ पुत्र की महिमा, इतनी अधिक हो गई थी कि ऐसी कन्या से, जिसके प्रथम पुत्र को पिता द्वारा ले लिये जाने की आशङ्का रहती थी, कोई विवाह करने की कामना नहीं करता था।[1] निरुक्तकार ने अभ्रातृमती के साथ विवाह न करने के औचित्य की पुष्टि में ऋक् १,१२४.७ को उद्धृत किया है।[2] अभ्रातृमती के विवाह-निषेध में इस ऋचा को उद्धृत करने में निरुक्तकार की युक्ति यही है कि अभ्रातृका स्त्री सन्तान-कर्म तथा पिण्डदान के लिये पितृवंश में जाती है, पतिकुल में नहीं।[3] यदि अभ्रातृमती कन्या को कौमार्य के अभाव के कारण ही अनैतिकता का प्रतीक माना गया हो तो भी इसका कारण यह हो सकता है कि योग्य पति की खोज में समन आदि में जाने के समय भाई का साहचर्य बहिन के कौमार्य की सुरक्षा की गारण्टी थी, परन्तु भाई के अभाव में पति-वरण के लिये जाने वाली कन्या के असुरक्षित तथा असहाय होने के कारण, विवाह से पूर्व ही, उसके दूषित हो चुकने की सम्भावना बनी रहती थी। ऋग्वेद ४,५,५ में झूठे तथा अनृत लोगों को इधर उधर घूमने वाली भ्रातृहीन कुमारियों तथा पति से द्वेष करने वाली दुराचारिणी स्त्रियों के समान अपने लिये गहन स्थान (गभीर पद=नरक)[4] बनाने वाला कहा गया है। यहाँ भ्रातृहीन कुमारियों की निन्दा का कारण उनका स्वच्छन्दता से इधर-उधर घूमने में दूषित हो जाने का भय ही प्रतीत होता है।[5] यदि निरुक्तकार द्वारा की गई ऋक् १,१२४,७ की व्याख्या ठीक हो,[6] तो इससे बिलकुल स्पष्ट है कि अभ्रातृमती कन्या पुत्र सन्तान होने के पश्चात् ही पतिकुल से वापस पितृकुल में जाती थी। यदि इस ऋक् की डा० म्यूर द्वारा की गई व्याख्या[7] सत्य हो तो अभ्रातृमती कन्या को निन्दनीय

---

१. मिलाइये, *Vedic Index*, Vol. 1, p. 528

२. तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय। निरुक्त ३,४।

३. अभ्रातृकेव पुंसः पितॄनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम्। गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। निरुक्त ३, ५।

४. मिलाइये, काणे : *Vedic Basis of Hindu Law*, p. 3.

५. यह भय निराधार नहीं था, ऋग्वेद में अविवाहित कन्या के पुत्र का उल्लेख हुआ है। देखिये, ऊपर पृ० १८८।

६. देखिये, ऊपर पा० टि० ३; डा० म्यूर ने इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। देखिये, अगली पा० टि०।

७. "In I, 124, 7, Ushas is said to show herself, as a female, without a brother (her natural protector), is said to show herself to a man (abhrāteva pumse eti pratīchī)." *O.S.T.*, V, p. 258.

समझने का कारण यह भी था कि भ्रातृहीन कन्या को पति-वरण में अधिक प्रगल्भ (bold) होना पड़ता था और प्रगल्भ कन्या के आचरण के विषय में सन्देह करना बिल्कुल स्वाभाविक था।

डा० इरावती कार्वे ने ऋग्वेद में 'नपात्' शब्द के अर्थ की अनिश्चितता को भी पिता-पुत्री के विवाह की प्रथा की सिद्धि में हेतु रूप में दिया है।[१] ऋग्वेद में 'नपात्' शब्द का पुत्र, पौत्र तथा अन्य पुरुष अनुवंशजों के लिये प्रयोग हुआ है।[२] डा० इरावती का विचार है कि 'नपात्' शब्द के पुत्र और पौत्र दोनों अर्थों में प्रयोग का कारण यह अव्यवस्था है कि पिता और पुत्री के समागम से हुई पुरुष सन्तान पिता का पुत्र भी है और पौत्र भी। उसे पिता ने स्वयं उत्पन्न किया है, इसलिये पुत्र है, परन्तु पुत्री से उत्पन्न हुआ है, इसलिये दौहित्र अथवा पौत्र है। परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना ही प्रतीत होती है, क्योंकि यदि यह मान भी लिया जाये कि ऋग्वैदिक काल में विशेष परिस्थितियों में पिता-पुत्री का यौन सम्बन्ध समाज में अनुमोदित था, तब भी उसका इतना प्रचलन स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसके कारण किसी शब्द के प्रयोग में ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाये। दूसरे, पितृसत्ताक परिवारों में, जिसकी सत्ता ऋग्वैदिक समाज में सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, पुत्र पिता का ही माना जाता है, चाहे वह किसी भी स्त्री में उत्पन्न हो। इसलिये पिता-पुत्री के मैथुन से उत्पन्न बालक पिता का पुत्र ही माना जाना चाहिये था। बृहद्देवता के लेखक का इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। यद्यपि धर्मशास्त्रों में नियुक्त की गई पुत्री के पुत्र को 'पुत्रिकापुत्र' कहा गया है और निरुक्तकार ने इसे पौत्र माना है; परन्तु बृहद्देवता में उसे अपनी माता का बड़ा भाई कहा गया है[३] क्योंकि वह अपनी माता के बड़े भाई के समान अपने नाना की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

प्राचीन ईरान की प्रथा की समानता के आधार पर भी ऋग्वैदिक समाज में पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्ध का कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि अवस्ता के 'क्वएतवदथ' शब्द का अर्थ, जिसके आधार पर प्राचीन ईरान में पिता-पुत्री के विवाह की कल्पना की जाती है, सन्दिग्ध है। जरथुस्त्र की गाथाओं में पिता-पुत्री के विवाह का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है, केवल

१. *A. B. O. R. I.*, XX, pp. 217—18.

२. देखिये, ऊपर पृ० १५६।

३. तस्यारचाह यवीयांसं भ्रातरं ज्येष्ठवत्सुतम्। बृहद्देवता ४,११२।

पहलवी ग्रन्थों में जिनका समय गाथा से बहुत बाद का है, निकट सम्बन्धियों के विवाह को उत्तम कहा गया है, जिसका कारण कदाचित् 'क्वएतवदथ' के अर्थ में भ्रान्ति है।[१]

६. पुत्री के कर्त्तव्य

परिवार की कन्यायें प्रायः अपनी माता के शासन में रहती थीं, इसलिये यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि वह घर के कार्यों में अपनी माता (गृहपत्नी) की सहायता करती हों। वस्त्र बुनना तथा सिलना ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों का कार्य था,[२] इसलिये पुत्रियाँ भी वस्त्र बुनना तथा सिलना सीखती होंगी। नदी अथवा कुएं आदि से घड़ों में जल लाना अविवाहित पुत्रियों का मुख्य कार्य प्रतीत होता है। ऋग्वेद १,१९१,१४ में घड़ों से जल लाने वालियों का उपमान के रूप में उल्लेख किया गया है।[३] ऋक् ८,९१,१ में जलाशय पर जाने वाली कन्या का उल्लेख हुआ है।[४] यद्यपि ऋग्वेद में मनुष्य पुत्रियों द्वारा सोम के सवन का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु फिर भी ऋग्वैदिक साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञिक क्रियाओं पर पुरोहितों के अधिकार से पूर्व, जबकि प्रत्येक गृहपति स्वयं अपने लिये यज्ञ करता था, घर की कन्यायें सोम के सवन में प्रमुख भाग लेती थीं। ऋग्वेद में सोम-सवन के प्रसङ्ग में सवनकर्ता की अंगुलियों को 'योषणः', 'स्वसारः' तथा 'दुहितरः' आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है,[५] जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कभी सोम का सवन परिवार की कन्याओं का कार्य था।[६] ऋक् ९,१,६ में सूर्य की दुहिता (श्रद्धा)[७] को अनश्वर छलनी से बहते हुए सोम को छानने वाली कहा

---

१. मिलाइये, Kapadia (Dr.) K. M.: *Hindu Kinship*, pp. 48–49.

२. देखिये ऋक् २,३,६; ३२,४; ३८,४।

३. तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव। ऋक् १,१९१,१४।

४. कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्। ऋक् ८,९१,१।

५. देखिये ऋक् ९,९,१; १४,५; ३२,२ आदि।

६. परन्तु स्त्रियों का सोम-सवन पर एकाधिकार सम्भवतः कभी नहीं रहा। ऋक् ९,७२,५ में सोम को पुरुष की भुजाओं से (नृबाहुभ्याम्) प्रेरित कहा गया है।

७. शत० ब्रा० १२,७,३,११ के अनुसार 'सूर्यस्य दुहिता' का अभिप्राय श्रद्धा है, परन्तु गेल्डनर ने इसका अभिप्राय ऋक् अथवा स्तुति किया है। देखिये, *Der Rigveda*, III, 10, f. n.

गया है।[1]

ऋग्वैदिक पुत्री कदाचित् दूध दोहने का कार्य भी करती थी, जैसा कि 'दुहितर्' शब्द की निरुक्ति से प्रकट होता है।[2] डेल्ब्रुक तथा 'वैदिक इण्डैक्स' (*Vedic Index*) के लेखकों ने इण्डो-यूरोपीय काल अथवा ऋग्वेद-काल में पुत्री के इस कार्य का प्रतिवाद किया है।[3] ऋग्वैदिक काल में पुत्री के दूध दोहने की बात का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि अनेक पशु-चारण अवस्था के टोड, होटेण्टो, मसई आदि समाजों में दूध दोहने को धार्मिक कृत्य समझा जाता है और इसलिये दूध दोहने का कार्य केवल पुरुष करते हैं और स्त्रियाँ इस कार्य में वर्जित हैं।[4] परन्तु यह बात पशु-चारण अवस्था के सब समाजों के लिये सत्य नहीं है। दक्षिणी बन्तू समाज में स्त्रियों को पशुओं से अलग रखा जाता है परन्तु होटनपोट समाज की स्त्रियाँ नियमित रूप से गौ दोहती हैं।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक लोगों में दूध दोहने का कार्य केवल-मात्र स्त्रियों या पुरुषों में सीमित नहीं था, क्योंकि ऋग्वेद में दोनों तरह के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद ८,७०,१५ में परिवार के प्रधान पुरुष का पशुओं से सम्बन्ध प्रतीत होता है। ऋषि पुरुहन्मा कहता है: 'धनी शूरदेव का पुत्र हम तीनों के लिये बछड़े को कान पकड़ कर ले आया, जैसे प्रधान पुरुष (सूरि) बकरी को दोहने के लिये (धातवे) ले आता है।'[6] परन्तु अन्यत्र लड़कियों का दूध तथा घृत निकालने की क्रिया से सम्बन्ध प्रतीत होता है।[7] ऋक् १,२३,१६ में जलों के सम्बन्ध में कहा गया है: 'मातायें तथा पुरोहितों की

---

१. पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥
ऋक् ९,१,६।

२. Max Müller : *Biographies of Words*, p. 150 ; Upadhaya, B. S. : *Women in Rigveda*, p. 35.

३. देखिये, ऊपर पृ० २१८।

४. देखिये, Karve (Dr.) Irawati : '*Kinship Terminology and Kinship Usage*' (*A. B. O. R. I*, XX, p. 94, f. n. 1).

५. देखिये, Lowie : *Primitive Society*, p. 71.

६. कर्णगृह्या मघवा शौरदेव्यो वत्सं नस्त्रिभ्य आनयत्।
अजां सूरिर्न धातवे॥

७. देखिये, उपाध्याय बी० एस० : पूर्व उद्धृत।

की बहिनें दूध में मधु मिलाती हुई अपने मार्ग पर चलती हैं।[1] ऋक् १,१३५,७ में कहा गया है कि जहाँ घृत बहता है, वहाँ हर्ष से प्रफुल्लित कुमारी देखी जाती है।[2] यहाँ भी 'सूनृता' का अभिप्राय कदाचित् 'उषस्' है।[3] यद्यपि ऊपर निर्दिष्ट दोनों उदाहरणों में जिन कन्याओं का उल्लेख हुआ है, वे दिव्य कन्यायें हैं फिर भी इन उल्लेखों से यह निश्चित है कि ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियाँ पशु-धन सम्बन्धी कार्यों में वर्जित नहीं थीं।

ऋग्वैदिक कन्यायें कृषिकार्य में भी योग देती थीं, तथा अपने पिता की कृषिभूमि में अच्छी फसल के लिये उत्कण्ठित रहती थीं। अपाला को अपने पिता के खेतों में अच्छी फसल के लिए इन्द्र से याचना करते हुए चित्रित किया गया है।[4]

पुत्रियाँ अपने छोटे भाई-बहिनों के पालन-पोषण में अपनी माता की सहायता भी करती थीं, जैसा कि ऋक् ३,५५,१२ से प्रकट होता है, जहाँ यह कहा गया है कि माता और पुत्री दोनों मिलकर पोषण करती हैं।[5]

पुत्री का पिता के प्रति सामाजिक महत्त्व का प्रमुख कर्त्तव्य, जो पिता के अधिकार क्षेत्र में भी आता है, पितृवंश की अविच्छिन्नता तथा सम्पत्ति की अक्षुण्णता बनाये रखने और पितरों की यथाविधि पूजा करने के लिये पुत्र प्रदान करना था। यदि किसी पुत्री के पिता के कोई पुत्र नहीं होता था और पिता यह चाहता था कि अपनी पुत्री के पुत्र को वह अपना बना ले तो पुत्री का कर्त्तव्य था कि पिता को अपना पुत्र देवे। इस प्रथा का संकेत ऋग्वेद की एक अत्यन्त अस्पष्ट ऋक् ३,३१,१ में सन्निहित है, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है।[6]

७. पुत्री के साम्पत्तिक अधिकार

वैदिक काल में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में प्राचीन काल से ही पर्याप्त मतभेद चला आता है। एक ओर जैमिनि ने यज्ञ में पत्नी के

१. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ ऋक् १,२३,१६।

२. वि सूनृता ददृशे रीयते घृतम्। ऋक् १,१३५,७।

३. देखिये, ग्रिफिथ : *Hymns of the Rigveda*, 1.224, f. n. 7.

४. ऋक् ८,९१,५–६।

५. माता च यत्र दुहिता च धेनू सबर्दुघे धापयेते समीची।

६. देखिये, ऊपर पृ० २४१।

समान अधिकारों के आधार पर स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों का समर्थन किया है।[1] दूसरी ओर बोधायन तथा परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों का निषेध किया है।[2] आधुनिक विद्वानों में भी एक ओर डा० कृष्णकमल भट्टाचार्य[3] ने वैदिक प्रमाणों के आधार पर स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों का प्रतिषेध किया है तो दूसरी ओर डा० द्वारका नाथ मित्तर[4] ने जैमिनीयसूत्रों के आधार पर वैदिक युग में स्त्रियों के साम्पत्तिक-दाय तथा स्त्रीधन-अधिकारों का प्रबल समर्थन किया है। धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के साम्पतिक अधिकारों का विवेचन प्रस्तुत अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है। यहाँ केवल ऋग्वैदिक काल में पुत्री के साम्पत्तिक अधिकारों का विवेचन अभीष्ट है। पत्नी और विधवा के अधिकारों का विवेचन आगे किया जायेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जिस प्रकार परिवार के अन्य अवयस्क पुरुष सदस्यों को भरण-पोषण, कुल में केवल जन्म लेने के कारण प्राप्त करने का अधिकार था, उसी प्रकार पुत्री को भी वह प्राप्त करने का अधिकार था। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पुत्र के समान पुत्री विवाहित होने पर अथवा विवाह की अवस्था पार कर जाने पर भी अविवाहित रहने पर पिता की सम्पत्ति में अधिकारिणी होती थी? क्या वह भाइयों के समान दाय का विभाग करा सकती थी? क्या वह भाई के साथ समान दाय की अधिकारिणी थी? क्या भाई के अभाव में पैतृक सम्पत्ति के दाय भाग में पितृबन्धुओं की अपेक्षा पुत्री को प्राथमिकता दी जाती थी?

ऋग्वेद-काल में पुत्री के दाय-अधिकारों के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई एक उत्तर नितान्त भ्रामक होगा, क्योंकि पुत्री के दाय-अधिकारों का सम्बन्ध पुत्री की पितृकुल के प्रति उपकारिता आदि से सम्बद्ध है। इसलिये पुत्री के दाय-अधिकारों पर निम्न शीर्षकों में विचार करना उपयुक्त होगा—(१) भ्रातृमती विवाहित पुत्री (२) अभ्रातृमती विवाहित पुत्री—पुत्रिका, (३) अविवाहित पुत्री।

---

१. जैमिनीय सूत्र, ६,१ ३।

२. देखिये, डा० द्वारका नाथ मित्तर : *Position of Women in Hindu Law*, p. 448.

३. *Tagore Law Lectures* (१८८४-८५) पृ० १२२ (डा० मित्तर द्वारा ऊपर पा० टि० २ में उद्धृत पुस्तक में निर्दिष्ट)।

४. पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ४५२।

(१) भ्रातृमती विवाहित पुत्री—पुत्री के दाय सम्बन्धी अधिकारों की सर्वप्रथम विवेचना, जो कि ऋग्वैदिक मन्त्रों पर आधारित है, निरुक्त ३,४–६ में मिलती है। निरुक्तकार के समय में पुत्री के दाय-अधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित थे। इसका कारण कदाचित् उस काल में विभिन्न प्रदेशों तथा कबीलों में विभिन्न प्रथाओं का प्रचलन था। ऐसा प्रतीत होता है कि निरुक्तकार के समय से पूर्व से ही वेद को धर्म (Law) का मूल स्रोत माना जाने लगा था, क्योंकि निरुक्त के साक्ष्य से पता चलता है कि विभिन्न आचार्य ऋग्वेद के एक ही मन्त्र को परस्पर विरुद्ध मतों की पुष्टि में उद्धृत करते थे। ऋग्वेद ३,३१,१ को पुत्री के दाय-अधिकार, केवल पुत्र के दाय-अधिकार तथा अभ्रातृमती पुत्री के दाय-अधिकार के पक्ष में उद्धृत किया जाता था।[१] ऋग्वेद ३,३१,२ को कुछ आचार्य बहिन के दाय-अधिकार के प्रतिषेध में उद्धृत करते थे, कुछ आचार्य पुत्रिका के ज्येष्ठ भाग के पक्ष में।[२]

पुत्री के दाय-अधिकार विषय को प्रस्तुत करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में यास्क ने कहा है कि कोई आचार्य निम्न ऋक् को पुत्री के दायाद्य में उद्धृत करते हैं:

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥
ऋक् ३,३१,१।

निरुक्तकार की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ पहले किया जा चुका है।[३] इस ऋक् को पुत्री के दायाधिकार की सिद्धि में उद्धृत करने में युक्ति यह है कि पुत्र और पुत्री दोनों के लिये किया जाने वाला प्रजननयज्ञ (गर्भाधान संस्कार) समान होता है, दोनों की उत्पत्ति अङ्ग प्रत्यङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से होती है और दोनों के लिये माता के गर्भ में एक ही प्रकार से वीर्य का आधान किया जाता है। इसलिये विद्वान् पुत्र और पुत्री के प्रजनन-यज्ञ का ध्यान रखकर दाय के विषय में पुत्र और पुत्री में भेद नहीं करता है।[४] निरुक्त-

१. अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति पुत्रदायाद्य इत्येके (निरुक्त ३, ३); अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम् (निरुक्त ३, ४)।

२. अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके। निरुक्त ३, ५।

३. देखिये, ऊपर पृ० १८१।

४. विद्वान प्रजननयज्ञस्य रेतसो वाङ्गादङ्गात्संभूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यतस्य विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्राः दायादा इति। निरुक्त ३,४।

कार ने इस मत की पुष्टि में एक ऋक्[1] तथा एक श्लोक[2] भी दिया है, परन्तु इन पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है[3], क्योंकि यह साक्ष्य हमारे समालोच्य काल की दाय-विभाग की प्रथा पर कोई प्रकाश नहीं डालता। इससे अधिक से अधिक यही सिद्ध होता है कि निरुक्तकार के समय में अथवा उससे कुछ पहले ऐसे भी आचार्य थे जो पुत्र और पुत्री को समान रूप से दाय का अधिकारी मानते थे। परन्तु स्वयं यास्क भी सामान्यतया पुत्री के दायाधिकार के पक्ष में प्रतीत नहीं होता।[4] क्योंकि निरुक्तकार के मत में दाय का अधिकारी वही है जो सन्तान-कर्म तथा पिण्डदान से पिता का उपकार करता है। यास्क के अनुसार अभ्रातृमती पुत्री को दाय का अधिकार इसलिये है क्योंकि वह पिण्डदान तथा सन्तान-कर्म द्वारा पितृकुल का उपकार करती है।[5] यास्क ने भ्रातृमती पुत्री के दाय-अधिकार के प्रतिषेध में निम्न ऋक् को उद्धृत किया है :

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥

ऋक् ३,३१,२।

निरुक्तकार के अनुसार इस ऋक् का अर्थ यह है : 'औरस पुत्र अपनी बहिन के लिये रिक्थ नहीं देता, इसे पति का गर्भ धारण करने वाली बनाता

---

१. अङ्गादङ्गात्सं भवति हृदयादधि जायते।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

२. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां निसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥

३. ऋक् के नाम से उद्धृत यह पद्य आश्वलायनगृह्यसूत्र १, १५, ११ में भी आया है, इसका दाय से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्लोक यद्यपि मनु के नाम में कहा गया है, परन्तु वर्तमान मनुस्मृति में यह श्लोक नहीं पाया जाता और इसका आशय भी मनुस्मृति के पुत्री के दाय सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध है। डा० अलतेकर ने निरुक्त का यह भाग प्रक्षिप्त माना है (*Position of Women in Hindu Civilization*, p. 286)।

४. 'अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम्' कदाचित् स्वयं यास्क का अपना मत है, क्योंकि ऋक् ३,३१,१ की निरुक्तकार की व्याख्या दुहितृदायाद्य की अपेक्षा अभ्रातृमतीवाद के पक्ष में अधिक है। (मिलाइये, डा० कापडिया : पू० उ० पृ० १९६)।

५. निरुक्त, ३,४।

है। यदि माता-पिता वह्नि (पुत्र) और अवह्नि (पुत्री) को उत्पन्न करते हैं, तो उनमें से पुमान् (अर्थात् पुत्र) सन्तान (कुल की वृद्धि करने वाला) तथा दायाद होता है और दूसरी (अर्थात् बहिन) आदर करके अन्य को दे दी जाती है।' यदि निरुक्तकार की यह व्याख्या ऋग्वैदिक काल की प्रथा को यथातथ्य वर्णित करती हो तो इस ऋक् के अनुसार सचमुच भ्रातृमती बहिन का पैतृक सम्पत्ति में कोई दाय-अधिकार न था। कदाचित् निरुक्तकार द्वारा की गई इस व्याख्या के आधार पर ही डा० अल्तेकर ने कहा है—'एक वैदिक ऋषि स्पष्ट रूप से भाई को सूचित करता है कि उसे बहिन को कोई भाग नहीं देना चाहिये, क्योंकि अन्ततः उसे दूसरे कुल में चला जाना है।'[१]

परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुत्री के दायाधिकार के विषय में ऊपर उद्धृत की गई दोनों ऋचायें (ऋक् ३,३१,१—२) अत्यन्त कठिन तथा अस्पष्ट हैं और इनका अर्थ संदिग्ध है।[२] डा० इरावती कार्वे ने ऋक् ३,३१,१ में पिता-पुत्री के निकटाभिगमन का उल्लेख माना है।[३] प्रो० वालेंकर ने इन दोनों ऋचाओं की नवीन व्याख्या की है,[४] जिसका सार डा० कापडिया ने निम्न प्रकार दिया है[५]—'पिता द्यौ सकाम चित्त से अपनी पुत्री उषस् के पास गया

---

१. *Position of Women in Hindu Civilization*, p. 286.

२. प्रो० विल्सन ने इन ऋचाओं के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है—

"These two verses, if rightly interpreted, are wholly unconnected with the subject of the Sūkta, and come in without any apparent object. They are very obscure, and are only made somewhat intelligible by interpretations which seem to be arbitrary and are very unusual, although not peculiar to Sāyaṇa, his explanations being based on those of Yāska." *Rigveda Trans.* Notes on Vol. III, p. 303).

३. *A. B. O. R. I.*, XX, pp. 93—94.

४. *Journal of Bombay University*, Vol. III. 6, pp. 6, 7 with f. n. (डा० कापडिया द्वारा पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक में पृ० १६५ पर उद्धृत।)

५. "Father Dyauḥ went with a passionate mind to his daughter, Uṣas, dropping semen on her. The wise Agni, in order to set aside Uṣas' claim for an equal share from Agni in

और उस पर वीर्य का स्खलन किया। बुद्धिमान् अग्नि उषस् के निकटाभिगमन से उत्पन्न हुए पुत्र के नाम पर उसके बराबर भाग के दावे को हटाने के लिये, बहिन के नवजात पुत्र के पास गया और उसे अपने संरक्षकत्व में ले लिया। शरीर से उत्पन्न अग्नि ने, नये उत्पन्न पुत्र का, जो अग्नि का भाई था, संरक्षक होने के कारण अपनी बहिन उषस् को पैतृक संपत्ति में से कोई धन नहीं देना चाहा।' प्रो० वालेंकर की यह व्याख्या मौलिक है, परन्तु इससे भी यह स्पष्ट नहीं होता कि निकटाभिगमन से उत्पन्न पुत्र कौन है, उषस् अग्नि के साथ किस पैतृक सम्पत्ति में समान अधिकार चाहती थी और अग्नि ने किस प्रकार उसके दावे को खण्डित किया। प्रो० लुडविग ने ऋक् ३,३१,२ के प्रथम चरण का अर्थ इस प्रकार किया है—'(द्यौ अथवा अन्तरिक्ष-स्थानीय जलों के) शरीर से उत्पन्न पुत्र ने भाई को पैतृक सम्पत्ति (अर्थात् यज्ञ) नहीं दी।'[१] प्रो० लुडविग ने भी इन दोनों ऋचाओं को जटिल माना है।[२]

पुत्री के दाय-अधिकार की सिद्धि में ऋग्वेद की एक अन्य ऋक् और उद्धृत की जा सकती है और जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है, परन्तु यह ऋक् भी असंदिग्ध प्रमाण नहीं है। सोम की स्तुति में कहा गया है—

परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती। वायुं सोमा असृक्षत ॥

ऋक् ९,४६,२।

गेल्डनर के अनुसार इस ऋक् का अर्थ यह है—'अपने पिता के दाय को प्राप्त वधू के समान अलङ्कृत सोम-बिन्दु वायु की ओर जायें।'[३] यद्यपि ग्रिफ़िथ ने अनुवाद में 'पित्र्यावती' का अर्थ 'dowered by her sire' किया है, परन्तु

---

the name of the child born to her by incest, went to his sister's new child, taking it under his care. The bodily son, Agni, did not desire to give any share of the paternal property to his sister Uṣas, as a guardian of the new child, Agni's brother."

—*Hindu Kinship*, p. 195.

१. "The bodily son (of Dyaus, or the heavenly waters) did not transmit his inheritance (that is, sacrifice) to a brother." (Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. II, p. 31, f. n. 2).

२. ग्रिफ़िथ : वही।

३. "Geschmückt wie ein junges Weib, das ihr väterliches Erbteil hat, wurden die Somasäfte zu Vāyu losgelassen." (*Der Rigveda*, Vol. III, p. 36).

पादटिप्पणी में 'दाय' अर्थ की सम्भावना भी स्वीकार की है।[1] इसके विपरीत सायण ने 'पित्र्यावती' का अर्थ 'पितृमती' किया है। यह सम्भव है कि यहाँ 'पित्र्य' शब्द 'दाय' अर्थ में न हो और केवल विवाह के उपलक्ष में पिता से उपहार में मिलने वाले वस्त्र, आभूषण आदि से अभिप्राय हो। किसी प्राचीन टीकाकार द्वारा पुत्री के दाय-पक्ष में इसका उद्धृत न किया जाना इस सम्भावना को और भी अधिक पुष्ट करता है। जैमिनीयसूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी ने भी स्त्रियों के धनस्वामित्व की सिद्धि में श्रुतिप्रमाण के रूप में तैत्तिरीयसंहिता ६,२,१,१—पत्नी हि पारीणह्यस्येशे—को ही उद्धृत किया है।[2]

इस प्रकार ऋग्वेद की ऋचाओं से, वर्तमान ज्ञान की अवस्था में, ऋग्वेद-काल में भ्रातृमती विवाहित पुत्री के दाय-अधिकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। इसलिये ऋग्वेद-काल में पुत्री के दाय-अधिकार के विषय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल में भ्रातृमती पुत्री को पैतृक सम्पत्ति में दाय-अधिकार प्राप्त नहीं था।[3] इस कल्पना के कारण यह हैं—(१) ऋग्वेद-काल में पितृ-सत्ता की भावना अत्यधिक प्रबल थी, इसलिये उस समाज में इस विचार की कल्पना नहीं की जा सकती थी कि दूसरे कुल में जाने वाली पुत्री पैतृक सम्पत्ति में, विशेषकर अचल सम्पत्ति में, दाय की अधिकारिणी हो। ऋग्वेद-काल में विवाह में कन्या को यौतक देने के साथ साथ कन्या-शुल्क लेने की प्रथा भी प्रचलित थी,[4] ऐसी दशा में पुत्री के दाय-अधिकार की कल्पना असंगत ही प्रतीत होती है।[5] (२) कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में स्त्रियों को सामान्य रूप से दाय का अनधिकारी घोषित किया गया है। तैत्तिरीयसंहिता ६,५,८,२ में कहा गया है कि जब स्त्रियों के लिये सोम लिया जाने लगा, तो सोम ने इसे सहन न किया। उन्होंने उसे घृत का वज्र बनाकर मारा,

---

१. *Hymns of the Rigveda*, Vol. III, p. 403.

२. शबर-भाष्य में उद्धृत शब्द 'पत्नी वै पारिणय्यस्येष्टे' हैं।

३. यहाँ यह स्मरणीय है कि यह कल्पना केवल दाय-अधिकार तक सीमित है।

४. कन्या-शुल्क की प्रथा वैदिक समाज में बहुत बाद तक प्रचलित रही है। जैमिनीयसूत्र में कन्या-शुल्क को धर्म (customary) कहा गया है—क्रयस्य धर्म्ममात्रत्वम् (जै० सू० ६,१,३,१५)।

५. मिलाइये, अल्तेकर : पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ २८०।

उस शक्तिहीन हुए को ले लिया, इसलिये स्त्रियाँ निर्बल तथा अदायाद होती हैं और पापी पुरुष से भी अधिक मन्द बोलती हैं।[1] इसी प्रकार मैत्रायणी-संहिता ४,६,४ में भी कहा गया है कि पुरुष दायाद (दाय को लेने वाला) होता है और स्त्री अदायाद होती है।[2] शतपथब्राह्मण में भी स्त्रियों को दाय की अस्वामिनी कहा गया है।[3] बौधायनधर्मसूत्रों में भी उपरिनिर्दिष्ट तैत्तिरीय-संहिता के आधार पर स्त्रियों को दाय का अनधिकारी घोषित किया गया है।[4] (३) पुत्र पिता के साथ तथा पिता की मृत्यु के पश्चात् भी कुलक्रमागत सम्पत्ति की रक्षा तथा वृद्धि में प्रयत्नशील रहता था, सन्तानोत्पादन द्वारा कुल को अक्षुण्ण बनाता था तथा पितरों के श्राद्ध-तर्पण द्वारा उन्हें धार्मिक लाभ पहुँचाता था। इसके विपरीत, पुत्री सन्तानोत्पादन द्वारा भौतिक तथा धार्मिक लाभ दूसरे कुल को ही पहुँचाती थी। इसलिये वह भाइयों के साथ समान दाय की अधिकारिणी नहीं मानी जा सकती थी।

(२) **अभ्रातृमती विवाहित पुत्री**— ऋग्वैदिक समाज में औरस पुत्र के के अभाव में अपनी पुत्री का पुत्र (दौहित्र) पौत्र मान लिया जाता था। यास्काचार्य के अनुसार ऋक् ३,३१,१ में, जिसका ऊपर निर्देश दिया जा चुका है, इसी प्रथा का संकेत है। औरस पुत्र के अभाव में यदि पुत्री का पुत्र अपने मातामह के लिये पिण्डदान का अधिकारी हो और उसकी सन्तान उसके मातामह के कुल की समझी जाय तो यह स्वाभाविक था कि वह अपने मातामह से दाय प्राप्त करने का अधिकारी हो। यास्काचार्य के अनुसार ऋक् १,१२४,७ में कहा गया है कि अभ्रातृका स्त्री पिण्डदान तथा सन्तानकर्म के लिये पितृ-कुल में जाती है।[5] यदि अभ्रातृमती पुत्री अपने पुत्र को लेकर पिता के कुल में जाती थी तो जिस आधार पर—जो कि पितृकुल की वृद्धि तथा श्राद्ध द्वारा धार्मिक लाभ का विचार था—उसका भाई पिता के दाय का अधिकारी होता, उसी आधार

---

१. स सोमो नातिष्ठत स्त्रीभ्यो गृह्यमाणस्तं घृतं वज्रं कृत्वाऽघ्नन् तं निरिन्द्रियं भूतमगृह्णन् तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितरं वदन्ति। तैत्ति० सं० ६, ५, ८, २।

२. पुमान् दायादः स्त्र्यदायादा। मै० सं० ४, ६, ४।

३. नात्मनश्चनैशत न दायस्य चनैशत। शत० ब्रा० ४,४,२,१३।

४. निरिन्द्रिया ह्यदायादाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः।

बौधा० ध० सू० २,३,४७।

५. निरुक्त ३,५।

पर वह भी पिता के दाय की अधिकारी होती थी। लेकिन विशुद्ध ऋग्वेद के साक्ष्य के आधार पर ऋग्वेद-काल में अभ्रातृमती विवाहित पुत्री के दाय-अधिकार को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त दोनों ऋचाओं (३,३१,१ और १,१२४,७) का अर्थ, जिनके आधार पर यास्काचार्य ने अभ्रातृमती पुत्री का दाय-अधिकार सिद्ध किया है, संदिग्ध है।[1] परन्तु यह निश्चित है कि यास्काचार्य तथा धर्मशास्त्रों के काल में अभ्रातृमती विवाहित पुत्री, जिसे पुत्रिका कहा जाता था, अपने पुत्र के द्वारा दाय की अधिकारिणी होती थी। अधिकतर धर्मशास्त्रों ने पुत्रिकापुत्र को मातामह का सम्पत्ति का अधिकारी कहा है, परन्तु वसिष्ठधर्मसूत्र में पुत्रिका को ही दायाद कहा गया है और उसे दायादों में तृतीय स्थान दिया गया है।[2] यास्क ने भी ऐसी पुत्री को पुत्र ही माना है।[3] ऋग्वेद-काल में अभ्रातृमती पुत्री कदाचित् पिता द्वारा पुत्रिका स्वीकार कर लिये जाने पर और पुरुष सन्तान होने पर ही पिता के दाय की अधिकारिणी हो सकती थी, पुत्र के अभाव में नहीं, क्योंकि पुरुष सन्तान के अभाव में उससे पितृकुल का कोई उपकार नहीं हो सकता था। यह विचार केवल कल्पना पर आश्रित है, इसकी सिद्धि में कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया जा सकता। मनुस्मृति में पुत्रहीन पुत्रिका को भी दाय का अधिकारी कहा गया है और उसके पश्चात् उसके पति को उसके धन का हरण करने वाला कहा गया है,[4] परन्तु यह बात पितृसत्ता की प्रबलता वाले ऋग्वैदिक समाज के लिये सत्य नहीं हो सकती। ऋग्वेद-काल में जहाँ पुत्रहीन पिता पुत्रिका नियुक्त नहीं करता था, वहाँ पिता के पश्चात् उसकी सम्पत्ति कदाचित् उसके निकट सजात्यों पर चली जाती थी।

(३) **अविवाहित पुत्री**—ऋग्वेद में ऐसी कन्याओं का अनेक बार उल्लेख हुआ है, जो विवाह योग्य अवस्था होने पर भी पिता के घर में वास करती थीं। ऐसी पुत्रियों को 'अमाजुर्' (अमा=साथ, जुर्=वृद्ध होने

---

१. मिलाइये, वैदिक इण्डैक्स १,५३७,—'पुत्रिका'। वैदिक इण्डैक्स के लेखकों का मत है कि सम्भवतया ऋग्वेद के विचाराधीन प्रसङ्गों में पुत्रिका-प्रथा का संकेत नहीं है।

२. तृतीयः पुत्रिका। वसिष्ठधर्मसूत्र १७,१५।

३. प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। निरुक्त ३,४।

४. अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन्॥ मनुस्मृति ९,१३५।

वाली), 'पितृषद्' तथा 'अग्रू' (अ+गुरु, सन्तानोत्पादन द्वारा गुरु न हुई, इसलिये अविवाहित)[1] कहा जाता था और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।[2] ऋग्वैदिक काल में भी, आज के हिन्दू-समाज के सदृश, पुत्री का विवाह करना पिता, भाई तथा अन्य निकट सम्बन्धियों का कर्त्तव्य था, इसलिए यदि कोई पिता अपनी पुत्री का विवाह करने में समर्थ नहीं होता था, तो उसे पुत्री का यावज्जीवन पालन-पोषण करना पड़ता था। अब प्रश्न है : क्या वृद्धा कुमारी पुत्री को अपने पिता की सम्पत्ति में दाय का अधिकार प्राप्त था? क्या वह भाई से सम्पत्ति बँटवाकर अलग स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकती थी? ऋग्वेद से इस विषय में कोई निश्चित तथा स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता है। सम्भवतया उस काल में भी, परवर्ती काल के समान, स्त्री को स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का अधिकार नहीं था। उसे किसी पुरुष के संरक्षण में रहना आवश्यक था। क्योंकि ऋग्वैदिक काल में सामाजिक सुरक्षा की स्थिति ऐसी नहीं थी जिसमें स्त्री पुरुष की सहायता के बिना सामान्य जीवन व्यतीत कर सके। यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वेद-काल में परवर्ती संहिताओं तथा धर्मशास्त्रों में पाये जाने वाले प्रतिबन्ध नहीं थे, स्त्रियाँ उत्तरकाल की अपेक्षा स्वतन्त्र थीं, परन्तु फिर भी ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियों का स्थान घर के अन्दर ही था।[3] ऋग्वेद में अनार्यों की स्त्री-सेना का उल्लेख किया गया है, जिनमें स्त्रियों को आर्यों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, परन्तु स्त्रियों की सेना को हीन दृष्टि से देखा गया है।[4] इसलिये यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि कोई पुत्री माता-पिता की जीवितास्था में अथवा उनके पश्चात् भाई से अलग रह सकती हो। पिता के पश्चात् अविवाहित पुत्री का स्वाभाविक संरक्षक उसका भाई था, जो पिता की जीवितावस्था में भी बहिन के नैतिक आचरण की सुरक्षा के लिये उत्तरदायी था।[5]

---

१. डा० इरावती कार्वे : *Kinship Terminology and Kinship Usages* (*A. B. O. R. I.*, XX, p. 94)

२. ऋक् ८,२१,१५।

३. Sarkar, (Dr.) S. C. : *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 104.

४. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेना।
ऋक् ५,३०,९।

५. देखिये, आगे पृ० ३०३।

डा० द्वारका नाथ मित्तर[1] तथा डा० अल्तेकर[2] ने ऋग्वेद २,१७,७ में में अविवाहित पुत्री के दाय-अधिकार का स्पष्ट उल्लेख माना है। लेकिन दोनों विद्वानों ने दाय और भरण में अन्तर नहीं किया प्रतीत होता। विचाराधीन ऋक् इस प्रकार है :

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः॥

'माता-पिता के साथ रहने वाली वृद्धा कुमारी के समान मैं सबके साधारण स्थान से भग सदृश तुमसे याचना करता हूँ। ज्ञान दो, इसे नापो और यहाँ लाओ। हमें वह भाग दो जिससे तुम लोगों को आनन्दित करते हो।'[3]

सायण ने पहले दो चरणों का अर्थ इस प्रकार किया है : 'हे इन्द्र, जीवन-पर्यन्त गृह में ही वृद्ध होती हुई, माता-पिता के साथ रहने वाली, सेवा में तत्पर, पति को न प्राप्त करने वाली सती दुहिता अपने और पिता के साधारण गृह में रहकर ही जिस प्रकार भाग की याचना करती है, उसी प्रकार मैं स्तोता भजनीय धन तुझसे माँगता हूँ।'[4] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सायण ने 'यथा भागं याचति' शब्दों का अध्याहार अपनी ओर से किया है, मूल ऋक् में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ 'भाग' किया जा सके। प्रो० विल्सन ने 'यथा भागं याचति' का अर्थ 'claims her support'[5] किया है। इसलिये इस ऋक् से यह सिद्ध नहीं होता कि पिता के गृह में वास करने वाली अविवाहित पुत्री को दाय का अधिकार था। वह माता-पिता अथवा भाई से केवल भरण-पोषण की माँग कर सकती थी, जो पिता अथवा भाई का नैतिक कर्त्तव्य था।

दूसरे, इस ऋक् का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है, जो अर्थ अधिक

---

१. *Position of Women in Hindu Law*, p. 452.

२. *Position of Women in Hindu Civilization*, p. 286.

३. ग्रिफ़िथकृत अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर।

४. हे इन्द्र, यावज्जीवं गृह एव जीर्यन्ती मातापितृभ्यां सह भवन्ती तयोः शुश्रूषणपरा पतिमलभमाना सती दुहिता आत्मनः पित्रोश्च साधारणात् गृहात् (गृहे उपस्थायैव) यथा भागं याचति तथा स्तोताहं भजनीयं धनं त्वां याचे।

(यहाँ उद्धरण में सायणभाष्य में आए हुए ऋक् के मूल शब्दों को निकाल दिया गया है)।

५. Wilson : *Rig-veda*, II, 148.

युक्तिसंगत है और जिसमें अभिप्राय पूर्ण करने के लिये कुछ भी अध्याहार नहीं करना पड़ता। वह अर्थ इस प्रकार है : 'माता-पिता के साथ रहने वाली वृद्धा कुमारी जैसे भग (देव) से याचना करती है वैसे ही मैं (स्तोता) तुझसे याचना करता हूँ।'[१] ऋग्वेद में भग देवता का विवाह और प्रेम से सम्बन्ध है, और अविवाहित कुमारियों द्वारा पति प्राप्त करने के प्रसङ्ग में भग का ऋग्वेद में अन्यत्र भी उल्लेख हुआ है।[२] डा० इरावती कार्वे ने 'समानादा सदसः' का अर्थ 'विवाह के गृह से' किया है और 'समान' को 'समन' का रूपान्तर माना है। यद्यपि यह अर्थ सम्भव है, लेकिन ऐसी कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। 'समानादा सदसः' का अन्वय 'त्वामिये' से हो सकता है और इसका अर्थ 'सब का साधारण स्थान' अर्थात् यज्ञ-भूमि होगा।

वृद्धा कुमारी के वृद्धावस्थापर्यन्त अथवा मृत्युपर्यन्त पितृकुल में वास को अविवाहित पुत्री के साम्पत्तिक अधिकारों की सिद्धि में हेतु रूप में उपस्थित करना निरापद् नहीं है। कदाचित् कोई भी कुमारी स्वेच्छया अविवाहित नहीं रहना चाहती थी।[३] वह पिता के कुल में विवशता के कारण ही रहती थी और पिता अथवा भाई को उसका विवाह करने के कर्त्तव्य को पूर्ण न कर सकने के कारण उसका पालन करना पड़ता था। इसी प्रकार भाई द्वारा बहिन के विवाह में दिये जाने वाले यौतक की प्रथा भी, जिसका ऋक् १,१०९,२ में संकेत हुआ है,[४] पुत्री के साम्पत्तिक अधिकार की सिद्धि में निर्बल युक्ति है।[५] सम्भवतया जब पुत्री या बहिन को बेचा जाता था, तब भी रूढि के अनुसार उसके साथ यौतक दिया जाता था।[६] ऋग्वेद में भाई द्वारा बहिन के विवाह

१. मिलाइये, *A. B. O. R. I.*, XX, p 95, f. n.

२. मिलाइये, ऋक् १०,३९,३।

३. ऋग्वेद में 'अमाजुर्' कन्याओं को विवाह के लिये कामना करते हुए ही प्रदर्शित किया गया है और उन्हें हीन दृष्टि से देखा गया है, इसलिए यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि कोई कन्या अविवाहित रहने की कामना करती हो।

४. देखिये ऊपर पृ० २२६ पादटिप्पणी ४ में उद्धृत।

५. मिलाइये, Upadhyaya, B. S. : *Women in Rigveda*, p. 37।

६. आजकल भी गरीब लोगों में जब लड़की पर रुपये लिये जाते हैं, तब भी कुछ दहेज दिया जाता है तथा अन्य रीति-रिवाज वैसे ही पूरे किये जाते हैं, जैसे दहेज के साथ दी जाने वाली कन्या के विवाह में होते हैं। वैदिक काल के लिये मिलाइये, Kaegi : *Life in Ancient India*, p. 25।

में धन व्यय करने की प्रथा का कारण यह भी हो सकता है कि अविवाहित बहिन भाई की मानसिक चिन्ताओं तथा पारिवारिक अशान्ति का कारण थी, क्योंकि उसका कदाचरण भाई को समाज में लज्जा तथा उपहास का पात्र बना सकता था, तथा बहिन और पत्नी का कलह उसकी पारिवारिक शान्ति को भंग कर सकता था। इसलिये भाई किसी भी मूल्य पर बहिन को विवाह के द्वारा, जो कि तत्कालीन समाज में स्त्री का सामान्य आचार था, अपने से दूर भेजने का प्रयत्न करता हो और बहिन में रूप तथा शील आदि आकर्षक गुणों के अभाव में धन द्वारा उसके लिये योग्य पति प्राप्त करने का प्रयत्न करता हो। ऋग्वेद में ऐसे पतियों का उल्लेख हुआ है, जो धन के लोभ से गुणहीन युवतियों के साथ विवाह करने को तत्पर हो जाते थे।[1]

—:०:—

१. देखिये, ऋक् १०,२७,१२।

अध्याय ७

माता और पुत्र तथा पुत्री

१. माता का परिवार में स्थान

यद्यपि ऋग्वैदिक समाज के परिवार पितृसत्ताक थे, पिता ही परिवार का प्रधान (गृहपति) होता था, परिवार की स्त्रियाँ उसके अधीन रहतीं थीं, और गृहपत्नी उसकी आज्ञानुवर्तिनी तथा सेवा-संलग्न होती थी, फिर भी माता के रूप में परिवार में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान था। माता के रूप में उसकी स्थिति अत्युन्नत एवम् स्पृहणीय थी। ऋग्वैदिक आर्य, जैसा कि पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, सन्तान, विशेष करके पुत्र, के लिये अत्यधिक उत्सुक रहते थे।[1] इसलिये वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली स्त्री का परिवार में गौरवपूर्ण स्थान स्वाभाविक था।

स्त्री पति के लिये केवल गर्भवाहिनी नहीं थी, वरन् वह पुत्रों की माता थी। यदि एक ओर पुत्र पिता से वंशनाम तथा दाय प्राप्त करते थे, तो दूसरी ओर पुत्रों का माता के नाम से भी निर्देश किया जाता था। ऋग्वेद में अनेक बार देवों को 'इळायास्पुत्रः', 'पुत्रो अदितेः' आदि कहा गया है।[2] ऐसे निर्देश केवल देवों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु मनुष्यों के प्रसङ्ग में भी हुए हैं—श्याव को वध्रिमती का पुत्र कहा गया है।[3] अनेक बार स्त्री देवों को विभिन्न पुरुष देवों की माता कहा गया है।[4] कई बार मरुतों का 'पृश्निमातरः' (पृश्नि जिनकी माता है) शब्द से निर्देश किया गया है।[5] अनेक स्थलों में माता का किसी नाम अथवा विशेषण शब्द के साथ समास हुए पुत्र के वाचक शब्दों से निर्देश किया गया है, जैसे, दानु को 'वृत्रपुत्रा'[6] तथा 'अदिति' को 'देवपुत्रा'[7],

---

१. देखिये, ऊपर पृ० १६२ तथा आगे।

२. ऋक् ३, २९, ३; ४, ४२, ४; ७, ४१, २; १०, १०१, १२ इत्यादि।

३. श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्। ऋक् १०, ६५, १२।

४. ऋक् १, ७२, ९; ८, ४७, ९; १०, ३६, ३ आदि।

५. ऋक् ५, ५७, २; ३; ५८, ५; ८, ७, ३, १७ आदि।

६. ऋक् १, ३२, ९।

७. ऋक् १, १०६, ३; १५९, १; १८५, ४; ४, ५६, २ आदि।

'सुपुत्रा',[1] 'राजपुत्रा'[2] आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। ऋग्वैदिक परिवार में माता का महत्त्व और गौरव इस बात से भी प्रकट है कि जैसे माता और पिता दोनों के लिये 'पितरौ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वैसे ही 'मातरौ'[3] अथवा 'मातरा'[4] शब्द का प्रयोग भी हुआ है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में केवल 'मातर्' शब्द का प्रयोग दोनों के संकेत के लिये पर्याप्त समझा गया था। जहाँ माता के साथ पिता के विषय में भी कहना था, वहाँ 'मातरा-पितरा'[5] जैसे समासयुक्त पद में पिता से पहले माता कहा गया है। संस्कृत भाषा में 'माता-पितरौ' जैसे द्वन्द्व समासों में पिता पर माता की प्राथमिकता से कुछ लोगों ने भारतीय आर्यों में मातृसत्ताक परिवारों के प्रचलन की कल्पना भी की है, परन्तु प्रो० मैक्समूलर ने इसका प्रतिवाद किया है।[6]

ऋग्वैदिक आर्यों के परिवार में माता का गौरव तथा महत्त्व इस बात से भी सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक ऋषियों ने अनेक देवों की माता के रूप में कल्पना की है और उनसे माता से प्राप्त होने वाले सुख, शान्ति तथा रक्षण की कामना की है। ऋग्वेद में जिस प्रकार द्यौ को पिता कहा गया है, उसी प्रकार पृथ्वी का बार-बार माता के रूप में उल्लेख हुआ है।[7] अदिति,[8] पृथिवी[9], सरस्वती[10], उषस्[11], रात्रि[12], रसा[13], इडा[14], पृश्नि[15] तथा बृहद्दिवा[16] आदि

---

१. ऋक् ३, ४, ११।

२. ऋक् २, २७, ७।

३. ऋक् १०,११५,१।

४. ऋक् १,१५६,३; ३,१,७; २,२; ५,७; ३३,३; ७,३,६; ७,३; ७५,४; ८,६६,६; ६,६,३; ६८,४; १०,३५,३ आदि।

५. ऋक् ४,६,७।

६. *Biographies of Words*, p. XIX.

७. ऋक् १,१६४,३३; ८,१०३,२; १०,६२,३।

८. ऋक् १,७२,६; ६,६७,४; ८,२५,३ आदि।

९. ऋक् ३,८,१; ५,४२,१६; ४३,१४; १५ आदि।

१०. ऋक् २,४१,१६।

११. ऋक् १,११३,१६; ४,२,१५; ५, ४५,२; ६; १०,२७, १४।

१२. ऋक् ५,५,६।

१३. ऋक् ५,४१,१५।

१४. ऋक् ५,४१,१६।

१५. ऋक् ५,५२,१६; ६,६६,३।

१६. ऋक् १०,६४,६।

को वैदिक कवियों ने कहीं अपनी माता तथा कहीं देवों और अन्य वस्तुओं की माता के रूप में निर्दिष्ट किया है। एक बार इन्द्र देव को भी पिता के साथ-साथ माता भी कहा गया है[1] : 'हे वसु शतक्रतु, तुम ही हमारे पिता हुए, तुम माता हुए, इसलिये हम तुम्हारे सौमनस्य की कामना करते हैं।' अग्नि को भी पिता और माता दोनों कहा गया है।[2]

ऋग्वेद में कुछ मातृक नाम (metronymic) भी पाये जाते हैं, जो माता की गौरवपूर्ण स्थिति की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। ऋषि दीर्घतमा को दो स्थलों में औचथ्य[3] (उचथ का पुत्र) कहा गया है, तो साथ ही मामतेय[4] (ममता का पुत्र) भी कहा गया है। सूर्य को आदितेय (अदिति का पुत्र) कहा गया है।[5] अदिति के पुत्रों को आदित्य भी कहा गया है।[6] ऋग्वेद में एक अन्य मातृक नाम ऐल[7] है जिसका पुरुरवस् के लिये प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आर्जुनेय,[8] औशिज[9] तथा पौतक्रत[10] आदि अन्य भी मातृक नाम हैं, लेकिन विद्वानों में इनके सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है।

परिवार में माता का स्थान केवल पिता से दूसरा था। ऋग्वैदिक ऋषियों ने जहाँ देवों के साथ पारिवारिक सम्बन्धों की स्थापना की है, वहाँ पिता के बाद दूसरे स्थान पर माता का भी उल्लेख किया है। ऋक् ८,९८,११ में उपासक ने इन्द्र को पहले पिता और फिर माता कहा है।[11] इसी

---

१. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ऋक् ८,९८,११।

२. पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्। ऋक् ६,१,५।

३. ऋक् १,१५८,१; ४।

४. ऋक् १,१४७,३; १५२,६; १५८,६; ४,४,१३।

५. ऋक् १०,८८,११।

६. ऋक् १०,७७,२।

७. ऋक् १०,९५,१८।

८. ऋक् ७,१९,२।

९. ऋक् १,१८,१; मिलाइये, *Vedic Index,* Vol. I, p. 130 (Auśija); p. 131 (Kakṣīvant).

१०. ऋक् ८,५६,२।

११. देखिये, ऊपर पा० टि० १।

प्रकार ऋक् ६,५०,७ में भी जहाँ अग्नि को मनुष्यों का पिता और माता कहा गया है, वही क्रम है।[1] जहाँ अनेक देवों के साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं, वहाँ भी पिता के बाद माता का उल्लेख किया गया है और फिर अन्य सम्बन्धों का। अप्, औषधि तथा सूर्य के सम्बन्धियों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।'[2] उपासक ने द्यौ, पृथिवी और अग्नि को सम्बोधन करते हुए भी उन्हें क्रमशः पिता, माता तथा भ्राता कहा है।[3]

२. माता के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

(अ) मातर् (आ) जनि, जनित्री (इ) प्रसू, सू (ई) अम्बा, अम्बि अथवा अम्बी (उ) नना।

(अ) **मातर्**—माता के वाचक शब्दों में से ऋग्वेद में सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द 'मातर्' (मातृ) है। 'मातर्' के समानप्रभव शब्दों का माता के लिये प्रयोग इण्डो-यूरोपीय काल से ही प्रचलित रहा है[4] और उत्तरवर्ती वैदिक और संस्कृत-साहित्य में भी इसका निरन्तर प्रयोग मिलता है। 'मातर्' शब्द कदाचित् √मा धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ 'काटना', 'उत्पन्न करना', 'बनाना', 'नापना' आदि हैं।[5] रौथ और बोतलिंक ने इसे बच्चों की बोली के 'मा' शब्द के अनुकरण पर बना हुआ माना है।[6] आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी 'मातर्' शब्द को 'तत', 'मा', 'मामा', 'दद' आदि शब्दों के समान बच्चों की बोली से विकसित ही स्वीकार करते हैं।[7]

ऋग्वेद में 'मातर्' शब्द का प्रयोग अधिकतर देवों तथा यज्ञ-प्रक्रिया के सम्बन्ध में हुआ है, फिर भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है, जहाँ मनुष्य माता के प्रसङ्ग आये हैं, अथवा मनुष्य माता का उपमान के रूप में उल्लेख हुआ है। ऋषि शुनःशेप प्रार्थना करता है—'अमर देवों में से किस

---

१. देखिये, पूर्व पृष्ठ पर पा० टि० २।

२. ऋक् १,१९१,६।

३. द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
ऋक् ६,५१,५।

४. देखिये, ऊपर पृ० ४८।

५. Fick : *Vergleichendes Wörterbuch, I, 165.*

६. *St. Petersberg Lexicon*, S. V., f. n.

७. Cf. Buck : pp. 93, 94, 103.

देव के चारु नाम का ध्यान करूँ, जो मुझे बन्धनमुक्त कर देवे, जिससे मैं फिर अपने पिता और माता को देख सकूँ।'[१] ऋक् ७,५५,५ में कहा गया है[२]—'माता सो जावे, पिता सो जावे, कुत्ता सो जावे तथा विश्पति सो जावे'।[३] इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी मनुष्य माता का उल्लेख हुआ है।[४] उपमान के रूप में भी ऋग्वेद में मनुष्य माता का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[५]

जैसा ऊपर कहा गया है, 'पितर्' शब्द के द्विवचन के समान 'मातर्' शब्द के द्विवचन का भी माता और पिता दोनों के अर्थ में प्रयोग होता है—

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा। ऋक् ८,६६, ६।

'द्यावा-पृथिवी (क्षोणी) तेरे विजयी पराक्रम से ऐसे चिपटते हैं जैसे माता पिता अपने बच्चे से चिपटते हैं।'[६]

नदी और जलों के प्रसङ्ग में 'तम' प्रत्ययान्त 'मातृ' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, जहाँ 'तम' प्रत्यय उत्कृष्ट अर्थ में जोड़ा गया प्रतीत होता है। डा० इरावती कार्वे का विचार है कि 'मातर्' शब्द का प्रयोग माता की कोटि की सभी स्त्रियों (चाची, ताई आदि) के लिये होता था और असली माता का उनसे भेद करने के लिये माता को 'मातृतमा' 'अम्बितमा' आदि तमप्रत्ययान्त शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता था।[७] परन्तु डा० इरावती कार्वे का यह विचार युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऋग्वेद में 'मातृतमा' तथा 'अम्बितमा' का प्रयोग नदी[८] तथा जलों[९] के प्रसङ्ग में ही हुआ है।

---

१. ऋक् १,२४,१। ऋक् १,२४,२ भी देखिये।

२. सायण के अनुसार वसिष्ठ ने अपने पिता वरुण के घर में इस स्वापन मन्त्र का प्रयोग किया था।

३. सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः। ऋक् ७,५५,५।

४. ऋक् १,११४,७; ५,३४,४; ८,१,६; १०,३४,१०।

५. देखिये, ऋक् ५,१५,४; ६,७५,४; ७,४३,३; १०,१८,११; ९४,१४।

६. और देखिये, ऋक् १,१५९,३; ३,१,७; २,२; ३३,३; ९,९,३; १८,५ आदि।

७. *Kinship Terminology and Kinship Usages* : (*A. B. O. R. I.*, XX, p. 76).

८. ऋक् १,१५८,५; २,४१,१६; ३,३३,३।

९. ऋक् ६,५०,७।

(आ) जनि, जनित्री—माता के वाचक 'जनि' और 'जनित्री' शब्द √जन् (उत्पन्न करना) धातु से निष्पन्न हैं।

'जनि' का ऋग्वेद में प्रायः पत्नी के अर्थ में प्रयोग हुआ है, परन्तु निम्न मन्त्र में माता अर्थ प्रतीत होता है[1], यद्यपि सामान्य स्त्री अर्थ से भी ऋक् की सङ्गति लग सकती है :

अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथाइव प्र ययुः साकमद्रयः। ऋक् ४,१६, ५।

"(उपासक इन्द्र की स्तुति में कहता है कि) वे (मरुत्) तुम्हारी ओर इस प्रकार दौड़े, जैसे माताएं बच्चे की ओर दौड़ती हैं। मेघ रथों के समान एक साथ मिल कर शीघ्रता से आगे बढ़े।"[2]

'जनित्री' शब्द 'जनितर्' (जनितृ) का स्त्रीलिङ्ग का रूप है और संज्ञा शब्द के रूप में इसका माता के अर्थ में प्रयोग हुआ है :

यो वृत्राय सिनमत्राभरिष्यत् प्र तं जनित्री विदुष उवाच।

ऋक् २,३०,२।

'जिसने वृत्र को अन्न दिया था, उसके विषय में माता (अदिति) ने बुद्धिमान् (इन्द्र) से बतला दिया।'

'मातर्' शब्द के समान 'जनित्री' शब्द के द्विवचन का भी माता और पिता दोनों के लिये प्रयोग हुआ है।

देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा। ऋक् ७,९७,८।

'देव के माता-पिता, दिव्य, द्यावा-पृथिवी ने अपने सामर्थ्य से बृहस्पति का वर्धन किया।'[3]

(ई) प्रसू, सू—माता के वाचक 'प्रसू' और 'सू' शब्द √सू 'प्रसव करना' अर्थ की धातु से निष्पन्न हैं। बच्चों को जन्म देने के कारण माता को 'सू' अथवा 'प्रसू' कहा गया है :

उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः। ऋक् १,३२,९।

'माता ऊपर थी, पुत्र नीचे था। दानु वत्स सहित धेनु के समान लेटी थी।'

'सू' शब्द 'पूर्वसू'[4] 'सकृत्सू'[5] जैसे समासयुक्त पदों में भी प्रयुक्त हुआ

१. मिलाइये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*, II, 125.

२. ग्रासमान ने इस ऋक् में 'जनि' का अर्थ पत्नी समझा है।
(*Wörterbuch zum Rigveda*, S. V., Jani, Janī).

३. और देखिये, ऋक् १,१८५,६; ३,३१,१२; १०,११०,६।

४. ऋक् २,३५,५। ५. ऋक् १०,७४,४।

है। इन शब्दों में 'सू' का अर्थ 'उत्पन्न करने वाली' है। 'प्रसू' शब्द का अर्थ माता भी है।[1] आलङ्कारिक भाषा में अग्नि को उत्पन्न करने वाली अरणियों को भी 'प्रसू' कहा गया है।[2]

(ई) **अम्बा, अम्बि अथवा अम्बी**[3]—ऋग्वेद में माता के वाचक अन्य शब्द 'अम्बा' और 'अम्बि' अथवा 'अम्बी' हैं। 'अम्बा' शब्द का ऋग्वेद में केवल सम्बोधन में प्रयोग हुआ है। 'अम्बि' शब्द का प्रयोग एक-एक बार प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में हुआ है और एक बार अतिशयार्थक 'तम' प्रत्ययान्त का सम्बोधन में। डा० इरावती कार्वे का विचार है कि ये शब्द कदाचित् प्रतिदिन की बोली के शब्द थे जो माता को पुकारने के लिये व्यवहृत होते थे, इसलिये इनका प्रायः सम्बोधन में ही प्रयोग हुआ है।[4]

ये शब्द बच्चों की बोली के अनुकरणात्मक शब्द हैं और कदाचित् इनका माता के अर्थ में प्रयोग इण्डो-यूरोपीय काल में ही प्रचलित हो गया था, क्योंकि इनके समानप्रभव शब्द यूरोपीय भाषाओं में भी पाये जाते हैं। जैसे, Germ.—Amme, 'a nurse'; Old Germ.—amma, Them.. ammôn, ammûn.[5]

दक्षिण भारतीय भाषाओं में 'अम्बा' का विकृत रूप 'अम्मा' हो गया है और प्रायः देवियों तथा स्त्रियों के नामों में जोड़ा जाता है।[6]

उपासक सरस्वती नदी से प्रार्थना करता है :

अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि। ऋक् २,४१,१६।

'हम अप्रशस्त जैसे हैं, हे माता, हमें प्रशस्ति प्रदान करो।'

इसी प्रकार एक अन्य ऋषि औषधियों का अम्बा शब्द से सम्बोधन करता

---

१. ग्रासमान : पूर्व निर्दिष्ट, 'प्रसू'।

लौकिक संस्कृत में भी 'प्रसू' का अर्थ माता होता है। (देखिये, अमरकोश २,६,२९)।

२. अन्तर्नवासु चरति प्रसूषु। ऋक् १,९५,१०।

३. मॉनेर विलियम्स ने ऋक् ८,७२,५ में 'अम्ब्यम्' को 'अम्बी' शब्द का द्वितीया विभक्ति का रूप माना है, (*Sanskrit English Dictionary*), लेकिन ग्रासमान ने 'अम्बि' शब्द का। (पूर्वनिर्दिष्ट)।

४. डा० इरावती कार्वे : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७७ पा० टि०।

५. मॉनेर विलियम्स : पूर्व निर्दिष्ट, अम्बा शब्द पर; ऊपर पृ० ४८; फ़िक : पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १८।

६. मॉनेर विलियम्स : वही।

है और उनकी स्तुति में कहता है :

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। ऋक् १०,९७,२।

'हे माता, तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और तुम्हारी उत्पत्ति सहस्रों प्रकार है।'

एक अन्य ऋक् में जलों का ऋत्विजों की अम्बि (माता) तथा 'जामि' (निकट सम्बन्धी) के रूप में कथन किया गया है :

अम्बयो यन्ति अध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। ऋक् १,२३,१६।

'यज्ञकर्ताओं की बहिनें, (जल) मातायें अपने मार्ग पर जा रही हैं।'

निम्न ऋक् में मेघ को विद्युत् रूप अग्नि की अम्बि अथवा अम्बी (माता) कहा गया है :

चरन्वत्सो रुशन्निह निदातारं न विन्दते।
वेति स्तोतव अम्ब्यम्॥ ऋक् ८,७२,५।

'कान्तिमान् घूमता हुआ वत्स (विद्युत् रूप अग्नि) बन्धन में डालने वाले को नहीं पाता; स्तुति के लिये माता[1] (मेघ) के समीप जाता है।'

एक बार सरस्वती नदी को 'अम्बितमा' शब्द से सम्बोधित किया गया है :

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। ऋक् २,४१,१६।

'हे श्रेष्ठ माता, श्रेष्ठ नदी, श्रेष्ठ देवी सरस्वती।'

(उ) **नना**—माता के अर्थ में प्रयुक्त एक अन्य शब्द 'नना' है। ऋग्वेद में इसका केवल एक बार प्रयोग हुआ है :

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। ऋक् ९,११२,३।

'मैं कवि हूँ, पिता वैद्य है, और माता चक्की पीसने वाली है।'

यह शब्द बच्चों की बोली के 'तत', 'दद,' 'मामा' जैसे शब्दों के समान है और इसका प्रयोग इण्डो-यूरोपीय काल से ही प्रचलित रहा है। जैसे, ग्रीक—νάννα, νέννα, अल्बानियन—nene।[2]

३. माता के वाचक शब्दों का मनुष्येतर के लिये प्रयोग

जैसा कि ऊपर कहा गया है, अनेक स्त्री देवों की माता के रूप में कल्पना की गई है।[3] इसलिये ऋग्वेद में माता के वाचक शब्दों का प्रायः देवों के

१. सायण ने 'अम्ब्यम्' का अर्थ 'स्तोता' किया है, जो कि त्रुटिपूर्ण है। देखिये, Monier Williams : *Sanskrit English Dictionary.*

२. देखिये, ऊपर पृ० ४८; फ़िक : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२६।

३. ऊपर पृ० २७१।

प्रसङ्ग में प्रयोग हुआ है।[१] कहीं ऋग्वैदिक कवियों ने अदिति, पृथिवी आदि देवियों के साथ अपना माता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित किया है,[२] कहीं देवों में ही परस्पर माता पुत्र का सम्बन्ध वर्णित किया है।[३] 'वत्स' शब्द के सान्निध्य में गौ के लिये 'मातर्' शब्द का बहुत बार प्रयोग हुआ है।[४] ऋक् ६,३३,५ में गौओं को यज्ञ की माता कहा गया है। जलों को भी 'मातर्'[५] और 'जनित्री'[६] कहा गया है। अग्नि को उत्पन्न करने के कारण अरणियों को भी माता कहा गया है।[७] उषस् को देवों के अतिरिक्त गौओं की भी माता कहा गया है।[८] इसी प्रकार स्तुति[९], सिन्धु,[१०] नदी,[११] मेघ,[१२] वनस्पति,[१३] भूमि,[१४] ओषधि[१५] तथा अरण्यानी[१६] को भी माता कहा गया है।

४. माता और सन्तान

(अ) **सन्तान से स्त्री के गौरव की वृद्धि**—ऋग्वैदिक समाज में माता के रूप में स्त्री की स्थिति उसके पत्नी रूप से भी अधिक अच्छी थी। ऋग्वेद के विवाहसूक्त में विवाह का प्रयोजन 'गार्हपत्य' (गृहपति का कर्त्तव्य) कहा गया है।[१७] गार्हपत्य में सबसे मुख्य कर्त्तव्य सन्तानोत्पादन था, जैसा कि

१. ऊपर पृ० २७१ पा० टि० ७—१६।
२. देखिये, ऋक् १,१६४,३३; ५,४१,१५; १०,६४,६ आदि।
३. देखिये, ऋक् १,११३,१६; ७,४१,२; ८,४७,६; ८,७३,१७ आदि।
४. देखिये, ऋक् १,३८,८; ६,४५,२५ आदि।
५. ऋक् ३,६,२; ४,७,६; ८,८६,४ आदि।
६. ऋक् १०,३०,१०।
७. ऋक् ५,११,३; ७,३,६; ८,६०,१५।
८. ऋक् १,११३,१६; ७,७७,२।
९. ऋक् ६,१६,४।
१०. ऋक् ६,६१,७।
११. ऋक् ६,१०२,४; १०,३५,२।
१२. ऋक् ६,७०,४।
१३. ऋक् १०,१,२; ४।
१४. ऋक् १०,१८,१०।
१५. ऋक् १०,६७,४।
१६. ऋक् १०,१४६,६।
१७. मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। ऋक् १०,८५,३६।

उपर्युक्त सूक्त की अगली ऋचाओं से प्रतीत होता है। ऋक् संख्या ३७ में पूषन् से प्रार्थना की गई है कि पूषा उसे (पत्नी को) शिवतमा बनावे जिसमें मनुष्य बीज का वपन करते हैं।[1] ऋक् संख्या ३८ में अग्नि को सम्बोधन करके कहा गया है कि अग्नि ने पतियों को सन्तान-सहित जाया प्रदान की।[2] ऋक् संख्या ४१ में अग्नि के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा गया है कि अग्नि ने मुझे धन दिया, पुत्र दिये और यह (पत्नी) प्रदान की।[3] ऋक् संख्या ४२ में पति और पत्नी को आशीर्वाद दिया गया है कि वे पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए अपने घर में प्रसन्न रहें।[4] ऋक् संख्या ४३ में दम्पती प्रजापति से प्रार्थना करते हैं कि प्रजापति उनके लिये सन्तान उत्पन्न करे।[5] ऋक् संख्या ४४ में पत्नी के लिये 'वीरसू' होने की कामना की गई है।[6] ऋक संख्या ४५ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि कामनाओं को पूर्ण करने वाला इन्द्र इस (वधू) को उत्तम पुत्रों वाली तथा सुन्दर भाग्य वाली बनावे तथा इसमें दस पुत्र उत्पन्न करे।[7] गृह्यसूत्रों के अनुसार वधू के पतिगृह में प्रवेश के समय जिस ऋक् का विनियोग किया गया है, उसमें भी पत्नी से अपने प्रिय को सन्तान द्वारा समृद्ध करने की कामना की गई है।[8] शिखा-मोचन में विनियुक्त ऋक् में भी पत्नी के लिये सुपुत्रा होने की कामना की गई हैं।[9] इस प्रकार वैवाहिक मन्त्र सन्तान, विशेष करके पुत्र, के विचारों से ओत-प्रोत हैं। सन्तान की इतनी महत्ता होने पर उसको उत्पन्न करने वाली स्त्री को अधिक आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाना स्वाभाविक ही था। सन्तान को जन्म देने से स्त्री को समाज तथा परिवार में अधिक सम्मान और विश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगता था, क्योंकि वीर पुत्रों को जन्म देने के

---

१. तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
२. पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह।
३. रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्।
४. क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।
५. आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः।
६. वीरसूर्देवृकामा स्योना।
७. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
   दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥
८. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यताम्। १०,८५,२७।
९. यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति। ऋक् १०,८५,२५।

कारण उसके नाम का आदरपूर्वक उल्लेख किया जाता था तथा उसकी प्रशंसा की जाती थी।[1] पृश्नि का मरुद्गणों की जन्मदात्री के रूप में उल्लेख किया गया है—'पृश्नि ने महान् संग्राम के लिये गतिशील मरुतों के दीप्तिमान् समूह को जन्म दिया।'[2] अदिति की राजपुत्रा[3] तथा सुपुत्रा[4] कहकर प्रशंसा की गई है। इन्द्र की माता अदिति का बलवान् पुत्र उत्पन्न करने वाली के रूप में उल्लेख हुआ है—'बलवान् माता (नारी) ने उस बलवान् इन्द्र को जन्म दिया।'[5] सिनीवाली का भी अनेक पुत्रों को जन्म देने वाली के रूप में उल्लेख हुआ है।[6] अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से इस बात का कथन किया गया है कि पुत्रों को जन्म देने से स्त्री 'महिषी' (मुख्य पत्नी) बन जाती है।[7]

यद्यपि ऋग्वेद में वन्ध्या स्त्री के प्रति किसी उपेक्षा या घृणा के भाव का कोई संकेत नहीं मिलता है, फिर भी, ऋग्वेद के 'मा नो अग्नेऽमतये माऽवीरतायै रीरधः'[8] (हे अग्नि, हमें अन्नाभाव तथा पुत्राभाव से हिंसित न कीजिये) आदि मन्त्रों के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि विवाह के पर्याप्त समय बाद तक भी यदि कोई पत्नी पुत्र को जन्म न दे सकती होगी तो उसे उपेक्षित जीवन व्यतीत करना पड़ता होगा और पुरुष सम्भवतया अन्य स्त्री से विवाह कर लेता होगा। अग्नि की उत्पत्ति का ऋग्वेद में बच्चे की उत्पत्ति के समान वर्णन किया गया है। ऋग्वेद ५,२,४ में कहा गया है कि जब अग्नि उत्पन्न होता है तो पलिक्नी (भूरे बालों वाली, अर्थात् प्राचीन ज्वालायें) भी युवतियाँ हो जाती हैं। इसमें सम्भवतया उस स्त्री के जीवन की झलक मिलती है, जिसने सन्तान के अभाव के कारण उपेक्षित जीवन व्यतीत किया है, लेकिन वृद्धावस्था में पुत्र को जन्म देने के कारण जिसका जीवन पुनः युवती स्त्री के समान आनन्द और हर्ष से सजीव हो गया है।

---

१. मक्षू स्थिरं शेवृधं सूत माता। ऋक् १०,६१,२०।

२. असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमयासां मरुतामनीकम्।
ऋक् १,१६८,९।

३. ऋक् २,२७,७।

४. ऋक् ३,४,११; ७,२,११।

५. तमु चिन्नारी नर्यं ससूव। ऋक् ७,२०,५।

६. या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी। ऋक् २,३२,७।

७. सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु। अथर्व० २,३६,३।

८. ऋक् ३,१६,५।

ऋग्वेद में पुत्र को कुल की वृद्धि एवम् अविच्छेद का हेतु माना गया है। जिस प्रकार पुत्र पिता एवम् उसके कुल की वृद्धि करने वाला था, उसी प्रकार वह अपनी माता को भी अमरता प्रदान करता था। ऋक् १०,९५,१० में पुरुरवस् कहता है—'जल (उर्वशी) से वीर पुत्र उत्पन्न होवे और उसकी माता उर्वशी दीर्घ आयु प्राप्त करे।'[1]

स्त्री का मान और गौरव केवल सन्तान उत्पन्न करने पर ही निर्भर नहीं था, अपितु इस बात पर भी निर्भर करता था कि सन्तान की संख्या कितनी है और वे पुरुष हैं या स्त्री। ऋग्वेद में पुत्रों की आदर्श संख्या दस[2] स्वीकृत प्रतीत होती है,[3] क्योंकि इन्द्र से वधू में दस पुत्र देने की कामना की गई है।[4] एक अन्य स्थान में भी दस पुत्रों का उल्लेख हुआ है। वसिष्ठ ऋषि कहता है—'जो मुझे असत्य ही यातुधान कहता है, वह दस पुत्रों से वियुक्त हो जाये।'[5] एक साथ अनेक बच्चों को जन्म देना भी स्वाभाविक ही बात समझी जाती थी। पर्शु मानवी का एक साथ बीस बच्चों को जन्म देने के कारण उल्लेख किया गया है और यह उसका सौभाग्य कहा गया है।[6] पृश्नि[7] (पृथिवी अथवा द्यौ) को एक बार प्रसव करने वाली, लेकिन बहुत पुत्रों

---

१. जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः। (मिलाइये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*).

२. मिलाइये, महाभारत, आदिपर्व १,११५, २१—४।

३. कुर्ग लोगों में दस बच्चों वाली स्त्री को 'मंगल' में सम्मानित किया जाता है। (देखिये, Shrinivas, M. N. : *Religion and Society among the Koorgs of South India*, p. 46).

४. ऋक १०,८५,४५; ऊपर पृ० २७९ पा० टि० ७ में उद्धृत।

५. अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह।

ऋक् ७,१०४,१५।

६. पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद्......॥

ऋक १०,८६,२३।

७. सायण ने यहाँ 'माता' से द्यौ का संकेत माना है और ग्रासमान ने पृथिवी का। (देखिये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*, IV, 250, f n. 4).

वाली कहा गया है।[1] ऋग्वेद में यमल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई विरुद्ध धारणा नहीं पाई जाती। ऐतरेयब्राह्मण में पत्नी अथवा गौ द्वारा यमल को जन्म दिये जाने पर आहिताग्नि के लिये प्रायश्चित का विधान अवश्य किया गया है।[2] अनेक आदिम समाजों में एक साथ एकाधिक सन्तान की उत्पत्ति भय और आशङ्का की दृष्टि से देखी जाती है और उसे स्त्री के व्यभिचार का परिणाम समझा जाता है। परन्तु ऋग्वेद में ऐसी धारणा का कोई संकेत नहीं मिलता। रामायण व महाभारत में भी एकाधिक सन्तान को व्यभिचार का परिणाम नहीं समझा गया है। लेकिन महाराष्ट्र में प्रचलित सीता के त्याग की कथा के आधार पर डा० इरावती कार्वे ने प्राचीन भारत में भी यमल-सन्तान को व्यभिचार का फल माने जाने की धारणा को स्वीकार किया है।[3] लेकिन यह धारणा ऋग्वेद-काल के लिये सत्य नहीं प्रतीत होती। यह सत्य है कि महाभारत में माद्री के यमल-सन्तान की उत्पत्ति का कारण अश्विनौ देवों का द्वन्द्व है। कदाचित् महाभारत-काल में प्रेमियों के बहुत्व को गर्भ के बहुत्व का कारण माना जाता हो; परन्तु ऋग्वेद में अश्विनौ की कृपा से जिन्हें पुत्र प्राप्त हुए हैं उनकी यमल सन्तान का उल्लेख नहीं हुआ है। इसलिये यह विश्वास किया जा सकता है कि ऋग्वेद-काल में गर्भ के बहुत्व का प्रेमियों के बहुत्व से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जाता था।

(आ) गर्भकाल, प्रसव तथा प्रसव से प्राप्त सौभाग्य—बच्चे के जन्म तथा तत्सम्बन्धी क्रियाकलाप और उपचारों के विषय में ऋग्वेद से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। केवल ५ वें मण्डल के ७८ वें सूक्त की अन्तिम तीन ऋचाओं में जिन्हें सायण ने गर्भस्राविण्युपनिषत् कहा है, बालक के जन्म के सम्बन्ध में कुछ संकेत हैं, लेकिन स्पष्टतः ये ऋचायें बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती हैं। गर्भावस्था की अवधि दस मास मानी गई है।[4] यहाँ मास का अभिप्राय चान्द्र मास है।[5] प्रसव का कष्ट उस काल में भी अत्यधिक अनुभव

---

१. सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्।
ऋक् १०,७४,४।

२. ऐत० ब्रा० ७,१।

३. *Bulletin of Deccan College Research Institute*, VIII, p. 423.

४. एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः। ऋक् ५,७८,७।

५. *Vedic Index*, I, 487.

किया जाता था। इन्द्र के सामान्य विधि से जन्म न लेने पर उसकी माता के मरणासन्न होने का उल्लेख किया गया है।[1] वैदिक आर्यों की दृष्टि में सुख और सुरक्षा पूर्वक प्रसव की अत्यधिक महत्ता थी। शिशु और माता दोनों के जीवन की कामना की जाती थी।[2] कुशल-पूर्वक प्रसव करने वाली माता को सौभाग्यशाली समझा जाता था। अग्नि के सम्बन्ध में, जिसकी उत्पत्ति का ऋग्वेद में अनेक बार शिशु के जन्म से रूपक बाँधा गया है, कहा गया है कि जब भली भाँति प्रसव करने वाली माता ने प्रसव किया तो उसने सौभाग्य (भग) प्राप्त कर लिया।[3] अपूर्ण गर्भ के स्राव को अनर्थ समझा जाता था और उसे किसी रोग अथवा दुरात्मा क्रव्याद् का कृत्य समझा जाता था। गर्भस्राव करने वाली दुरात्मा को भगाने के लिये मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद १०,१६२ में ऐसी ही ६ ऋचाओं का संग्रह है। जन्म के समय बच्चे का गुह्य नाम रखा जाता था[4] जो केवल माता-पिता को ही ज्ञात होता था।[5] ऐतरेय-आरण्यक १,३,३ के अनुसार ऋग्वेद १०,७१,१ में पुत्र के गुह्य नाम का उल्लेख हुआ है।

नीचे की अरणी में सुप्तावस्था में पड़े हुए अग्नि के विषय में आलङ्कारिक भाषा में कहा गया है: 'युवति माता (नीचे वाली अरणी) भुजाओं में गाढ आश्लिष्ट पुत्र (अग्नि) को छिपाकर रखती है, पिता (ऊपर वाली अरणी अथवा यजमान) को नहीं देती अर्थात् अरणी अग्नि को प्रकट नहीं करती।'[6] इस रूपक का आधार कदाचित् ऋग्वेद-कालीन वह प्रथा थी जिसके अनुसार प्रसव के समय बच्चे को पिता को नहीं दिखाया जाता था।[7]

---

१. ऋक् ४,१८,३।

२. निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि। ऋक् ५, ७८, ६।

३. सुषूसूत माता यदानशे भगम्। ऋक् ५,७,८।

४. ऋग्वेद, १०,५५, १–२ में इन्द्र के गुह्य नाम का उल्लेख हुआ है। देखिये, *Vedic Index*, I, 443, नामन्।

५. तं मातापितरौ विद्यातामोपनयनात्। आश्वलायन (ऐतरेयारण्यक १,३,३ पर सायणभाष्य में उद्धृत)।

६. कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
ऋक् ५ २,१।

७. ग्रामीण भारत में आजकल भी 'सौर' में पिता का प्रवेश निषिद्ध है।

(इ) **सन्तान के प्रति माता के कर्त्तव्य**—ऋग्वेद में माता द्वारा शिशु को स्तन-पान कराने का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[1] माता के स्तन-पान का दृश्य ऋग्वैदिक कवियों की दृष्टि में इतना समाया हुआ था कि उन्होंने देवों के वर्णन में भी स्तन-पान का आरोप किया है। 'अपां नपात्' के रूप में अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह प्रथम बार प्रसव करने वाली माता के दूध का पान करता है और माता उसे थपथपाती है।[2] आज के समान ऋग्वेद-काल में भी मातायें शिशु को आँचल में छिपाकर स्तन-पान कराती थीं।[3]

स्तनन्धय अवस्था के पश्चात् भी बच्चे के पालन-पोषण का भार माता पर रहता था। इस बात का ऋग्वेद में कई बार संकेत हुआ है। ऋषि धरुण आङ्गिरस अग्नि की स्तुति में कहता है—'माता के सदृश तुम प्रत्येक जन के भरण, धारण तथा दर्शन के लिये वृद्धि को प्राप्त होते हो।'[4] ऋषि त्रित भी अग्नि की स्तुति में कहता है—'स्नेह से पूर्ण माता कुलीन शिशु के समान तेरा वर्धन करती हुई पालन करती है।'[5]

भोजन बनाना तथा खिलाना भी माता का कार्य था। ऋषि विश्वामित्र ने इन्द्र की स्तुति में कहा है—'उस (इन्द्र) ने माता के समीप जाकर अन्न प्राप्त किया।'[6] यदि यह विश्वास किया जा सके कि वैदिक ऋषि जैसा व्यवहार अपनी माता से प्रतिदिन के जीवन में प्राप्त करते थे, वे वैसे ही व्यवहार की देवों से कामना करते थे, तो यह कहना बिल्कुल सत्य होगा कि माता अपने पुत्र को उत्तम से उत्तम भोजन देती थी। एक ऋषि जलों से प्रार्थना करता है—'जो तुम्हारा सर्वाधिक हितकारी रस है, स्नेहमयी माता के सदृश तुम उसे हमें दो।'[7] एक अन्य ऋक् में अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है—

---

१. ऋक् १,१८६,५; ३,३३,१०; १०,७९,३।

२. ऋक् २,३५,५; १३।

३. अपीवृतो अधयन्मातुरूधः। ऋक् १०,३२,८।

४. मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनञ्जनं धायसे चक्षसे च।
ऋक् ५,१५,४।

५. शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना।
ऋक् १०,४,३।

६. उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट। ऋक् ३,४८,३।

७. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः॥ ऋक् १०,९,२।

'माता (उषस्) ने पुत्र (अग्नि) के लिये सब से उत्तम भाग दिया।'[1] दो अन्य ऋचाओं में कदाचित् पारिवारिक जीवन के उस दृश्य का संकेत निहित है जब माता भोजन हाथ में लिये बालक के पीछे पीछे घूमती है, परन्तु अपनी बाल-क्रीडाओं में संलग्न बालक माता के वचन की ओर ध्यान नहीं देता है।[2]

बच्चों के लिये वस्त्र बुनना, और उन्हें स्वच्छ रखना भी माता के कार्यों में सम्मिलित था। ऋषि प्रतिरथ आत्रेय सूर्य की स्तुति में कहता है—'उपासक लोग इस (सूर्य) के लिये स्तुति-गान तथा पूजा-कर्म करते हैं; मातायें पुत्र के लिये वस्त्र बुनती हैं।'[3] (अर्थात् उषा अथवा दिशायें सूर्य को प्रकाश से आच्छादित कर देती हैं)।[4] उषा अथवा दिशाओं द्वारा सूर्य को प्रकाश से आच्छादित करने की क्रिया में माता द्वारा पुत्र के लिये वस्त्र-वयन के आरोप का आधार अवश्य ही वैदिक ऋषि का दैनिक जीवन का अनुभव रहा होगा। ऋग्वेद ९,३३,५ में माता द्वारा बच्चे के प्रसाधन का संकेत प्रतीत होता है—'ऋत की युवती मातायें द्यौ के शिशु (सोम) का प्रसाधन करती हैं।'[5]

बच्चों की सामान्य देख-रेख करना माता तथा कुल की अन्य स्त्रियों का कार्य था। यदि बच्चे को कोई कष्ट होता था और बच्चा क्रन्दन करता था तो मातायें अन्य कार्य त्याग कर बच्चे की ओर दौड़ पड़ती थीं।[6] पिता के समान माता भी विपत्ति में सन्तान की रक्षा करती थी।[7] दिव्य माता-पिता द्यावा-पृथिवी से प्रार्थना की गई है—'मधुर वचन वाले, शोभन हाथों वाले

---

१. ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधात्। ऋक् २,३८,५।

२. अत उ त्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रति चरन्त्यन्नैः।
ऋक् १०,१,४।
शिशूला न क्रीळयः सुमातरः। ऋक् १०,७८,६।

३. वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
ऋक् ५,४७,६।

४. ग्रिफिथ: *Hymns of the Rigveda*, II, p. 252 f. n. 6.

५. अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः। मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम्॥

६. अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भम्। ऋक् ४,१९,५।

७. ऋक् ५,४२,२।

और यशस्वी पिता और माता प्रत्येक युद्ध में हमारी रक्षा करें'।[1] आर्येतर मातायें तो पुत्र के साथ युद्ध में भी जाती थीं और पुत्र की रक्षा करने का प्रयत्न करती थीं।[2]

माता सन्तान (विशेष करके पुत्री) के विवाह में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग लेती थीं। वह पुत्री की योग्य पति की प्राप्ति में सहायता करती थी तथा उसका आकर्षक प्रसाधन करके समन में जाने के लिये तैयार करती थी।[3]

(ई) **माता को वीर पुत्रों पर गर्व**—ऋग्वेद में अदिति का ओजस्विनी माता के रूप में चित्रण हुआ है और वह अपने वीर पुत्रों के पराक्रमपूर्ण कार्यों पर गर्वित चित्रित की गई है।[4] जैसा ऊपर कहा गया है, वीर सन्तान से समाज में माता की प्रतिष्ठा एवम् गौरव की वृद्धि होती थी और वीर तथा पराक्रमी पुत्रों को जन्म देने के कारण माता का प्रशंसात्मक उल्लेख किया जाता था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि माता को अपने वीर पुत्रों पर गर्व होता। ऋषि वामदेव ने इन्द्र की माता अदिति के मुख से कहलाया है—'मेरे पुत्र ने अपने महान् आयुध से वृत्र को मार डाला और इन नदियों को विमुक्त कर दिया'।[5]

ऋग्वेद में एक अन्य ओजस्विनी माता तथा पत्नी इन्द्राणी है। वह भी अपने पति, पुत्र तथा पुत्रियों पर समान रूप से गर्वित चित्रित की गई है। वृषाकपायी-सूक्त (ऋग्वेद १०,८६) में वृषाकपि द्वारा तिरस्कृत होने पर इन्द्राणी कह उठती है—'यह दुष्ट प्राणी मुझे वीर-हीन की तरह समझता है, लेकिन मैं वीर पुत्रों की माता, इन्द्र की पत्नी तथा मरुतों की मित्र हूँ।'[6] इसी प्रकार शत्रुहन्ता पुत्रों के शौर्य पर गर्वित शची कहती है— मेरे पुत्र

---

१. पिता माता मधुवचाः सुहस्ता भरे भरे नो यशसावविष्टाम्।
ऋक् ५,४३,२।

२. ऋक् १,३२,९।

३. सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषा। ऋक् १,१२३,११।

४. देखिये, ऊपर पृ० २८० पा० टि० ४ तथा ५।

५. ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून्।
ऋक् ४,१८,७।

६. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा॥ ऋक् १०,८६,९।

शत्रुओं का वध करने वाले हैं और मेरी पुत्री विराट् है।'[1]

मातायें पुत्रों के शौर्य एवम् पराक्रम पर केवल गर्वित ही नहीं होती थीं, अपितु उन्हें बल-कर्म करने के लिये प्रेरित करती थीं तथा उनके असाधारण कार्यों का प्रशंसात्मक वर्णन करके उत्साहित करती थीं। ऋक् ७,९८,३ में कहा गया है कि जब इन्द्र ने जन्म लेते ही बल-कर्म के लिये सोम का पान किया तो उसकी माता ने उसकी महिमा का कथन किया।[2] इन्द्र की स्तुति में ऋषि कुरुसुति काण्व ने कहा है—'जैसे ही इन्द्र उत्पन्न हुआ, तो उसने अपनी माता से पूछा कि कौन बलवान् और प्रसिद्ध हैं?' इस पर शवसी (बलवती माता) ने और्णवाभ तथा अहीशुव बतलाये और कहा—पुत्र, तू उन्हें तथा अन्य शत्रुओं को जीतने वाला हो।'[3] ऋक् १०,७३,१ में भी इन्द्र की माता द्वारा उसे उत्साहित किये जाने का कथन किया गया है।[4]

जैसे ही माता अपने बलवान् तथा पराक्रमी पुत्र पर गर्व और अभिमान अनुभव करती थी, वैसे ही वह निर्बल और निर्वीर्य पुत्र पर लज्जित भी होती थी और अपने दुर्बल पुत्र को किसी को दिखाना नहीं चाहती थी। ऋषि वामदेव ने कहा है—'इन्द्र की माता ने इन्द्र को दुर्बल[5] जानकर उसे अपने लिये अपमानजनक समझा, अतः उसे छिपाकर रक्खा, लेकिन इन्द्र वीर्य से युक्त था, उसने अपना कवच धारण किया और सहसा उठ खड़ा हुआ और उसने उत्पन्न होते ही द्यावापृथिवी को भर दिया।'[6]

(उ) माता और सन्तान का पारस्परिक व्यवहार—ऋग्वैदिक समाज में माता को प्रेम, दया तथा सहानुभूति की मूर्ति समझा जाता था। ऋग्वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक तत्त्वों और देवों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने में उन्हें माता के रूप में कल्पित किया है। दासों द्वारा बाँधकर नदी में फेंक

---

१. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। ऋक् १०,१५९,३।

२. जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।

३. ऋक् ८,७७, १–२; मिलाइये, ऋक् ८,४५, ४–५।

४. अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा।

५. सायण ने छिपाने का कारण यह दिया है कि इन्द्र जिस स्थान में उत्पन्न हुआ था, वह उस जैसे महान् देव के योग्य न था।

६. अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्।
अथोदस्थात्स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः॥
ऋक् ४,१८,५।

दिया गया दीर्घतमा जब नदी में से सुरक्षित निकल आया तो कृतज्ञता-ज्ञापन में कहता है—'जब दासों ने दृढता से बाँधकर फेंक दिया तो सर्वाधिक मातृ-स्वरूपिणी नदियों ने मुझे निगला नहीं।'[१] इसी प्रकार जलों को 'मातृतम भिषक्' कहा गया है।[२] ऋग्वेद में माता और सन्तान के प्रेम की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से हुई है। बच्चे माता के अधोवसन का आँचल पकड़कर घूमते थे।[३] जब बच्चा दूध पीता था तो माता उसे थपथपा कर अपना स्नेह प्रकट करती थी।[४] स्तनों में दूध आ जाने पर माता बच्चे को दूध पिलाने के लिये व्यग्र हो उठती थी।[५] माता द्वारा बच्चे को अङ्क में बैठाकर खिलाने की विभिन्न परिस्थितियों का उल्लेख हुआ है। ऋषि विश्वामित्र ने इन्द्र को सम्बोधन करके कहा है : 'इन्द्र, द्यावा-पृथिवी तेरे लिये इस प्रकार सोम धारण करते हैं, जैसे माता बच्चे को रखती है।'[६] यज्ञभूमि में स्थित अग्नि की माता के अङ्क में स्थित के रूप में कल्पना की गई है।[७] ऋषि वसिष्ठ देवों को दर्भ पर बैठने के लिये आह्वान करता हुआ कहता है : 'माता की गोद में बैठे हुए शिशुओं के समान देव यहाँ दर्भ के पृष्ठ पर बैठें।'[८] रात्रि के अङ्क से निकलते हुए सूर्य को लक्ष्य करके एक ऋषि ने कल्पना की है : 'माता सुन्दर शिशु को गोद में लेकर शान्त कर रही है, लेकिन वह मान नहीं रहा है।'[९] माता के आँचल को सुख एवम् शान्ति का आश्रय समझा जाता था। मृत व्यक्ति को दफ़नाते हुए भूमि से प्रार्थना की गई है : 'हे भूमि, इसे ऐसे आच्छादित कर लो, जैसे माता पुत्र को आँचल से ढक लेती है।'[१०]

---

१. न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमबाधुः।
ऋक् १,१५८,५।

२. ऋक् ६,५०,७।

३. ऋक् १,१४०,९।

४. ऋक् २,३५,१३; १०,११४,४।

५. ऋक् ३,३३,१०।

६. ऋक् ३,४६,५; ५,१६,१।

७. ऋक् ५,१,६।

८. आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु।
ऋक् ७,४३,३।

९. गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति।
ऋक् १०,२७,१६।

१०. माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि। ऋक् १०,१८,११

जैसे माता सन्तान से प्रेम रखती थी, वैसे ही सन्तान भी माता का ध्यान रखती थी। ऋग्वेद में पिता के साथ-साथ माता के आयुष्य की भी कामना की गई है। एक ऋषि रुद्र से प्रार्थना करता है : 'हे रुद्र, तुम हमारे पिता को न मारो, और न हमारी माता को मारो, हमारे प्रिय शरीरों को हानि न पहुँचाओ।'[१] एक अन्य ऋषि ने उषस् की स्तुति में कहा है : 'धन को प्राप्त करने वाले हम उस उषस् की स्तुति करते हैं; हम उसके प्रति माता के लिये पुत्रों के समान होवें।'[२]

माता का सन्तान के प्रति व्यवहार पिता और भाई के व्यवहार की अपेक्षा अधिक उदार होता था। एक ऋषि इन्द्र से कहता है : 'हे इन्द्र, तू मेरे पिता और कृपण भाई से अधिक उदार दाता है; हे वसु, उदारतापूर्वक धन देने में तू और मेरी माता समान प्रतीत होते हैं।'[३] अच्छी मातायें अपने बच्चों को खेलने से नहीं रोकती थीं।[४] कभी कभी बच्चे खेल में माता को तंग भी कर देते थे।[५] माता का प्रेम का शासन इतना मृदु होता था कि कभी कभी बच्चे दुर्व्यसनी हो जाते थे और माता को पश्चात्ताप करना पड़ता था।[६] माता को सन्तान से इतना प्रेम होता था कि घर के अन्य सदस्य जब उसे घोर अपराध के कारण त्याग देते थे, तो भी माता उससे सहानुभूति रखती थी। जब देवों ने इन्द्र का त्याग कर दिया तो इन्द्र की माता को इसका अत्यधिक दुःख हुआ और उसने इन्द्र की ओर लक्ष्य करके द्रवित हृदय से कहा : 'हे पुत्र, यह देव तुम्हें त्याग रहे हैं।'[७]

५. माता और पुत्र में यौन सम्बन्ध ?

पूर्व अध्याय में कहा गया है कि ऋग्वेद में पिता-पुत्री में यौन-सम्बन्ध के असंदिग्ध प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि ऋग्वैदिक आर्यों की ऐसी आदिम अवस्था नहीं थी जिसमें पिता और पुत्री में यौन सम्बन्ध हो सकते हों। यह बात माता

---

१. ऋक् १,११४,७।

२. ऋक् ७,८१,४।

३. ऋक् ८,१६।

४. शिशूला न क्रीळयः सुमातरः। ऋक् १०,७८,६।

५. क्रीळयो न मातरं तुदन्तः। ऋक् १०,९४,१४।

६. ऋक् १०,३४,१०।

७. उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवा।
ऋक् ४,१८,११।

और पुत्र के मध्य यौन-सम्बन्ध के विषय में और भी अधिक सत्य है। ऋग्वेद मे ऐसा केवल एक प्रसङ्ग है, जिसमें माता और पुत्र के मध्य यौन-सम्बन्ध का संकेत माना जा सकता है,[१] जहाँ देव पूषा को माता का दिधिषु (प्रेमी) कहा गया है। ऋग्वेद में द्यौ के पुत्र होने से सूर्य और उषा को भाई और बहिन कहा गया है और उषा के पश्चात् सूर्य का उदय होता है, इसलिये उषा को सूर्य की माता तथा सूर्य को उषा का पुत्र भी कहा गया है।[२] लेकिन उषा की सुन्दरी युवती के रूप में कल्पना की गई है और सूर्य उषा के पीछे आता है, इसलिये सूर्य को उषा का जार भी कहा गया है।[३] एक स्थल में उषा को सूर्य (स्वसर) की पत्नी कहा गया है।[४] इस प्रकार ऋग्वैदिक कवि द्वारा पूषा की 'माता के दिधिषु' और 'बहिन के जार' रूप में कल्पना किये जाने का प्रबल आधार प्रकृति की घटना तथा ऋग्वैदिक दैवत-कथा का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद में ऐसी ही प्राकृतिक घटनाओं एवम् दैवत-कथाओं के सम्मिश्रण के आधार पर अन्य देवों के विषय में भी ऐसी कल्पनायें की गई हैं। क्योंकि सब देव द्यौ के पुत्र हैं, इसलिये अग्नि और उषस् भाई-बहिन हैं; परन्तु उषा काल में यज्ञीय अग्नि प्रज्ज्वलित होता है, इसलिये अग्नि उषस् का जार है। इस प्राकृतिक घटना और दैवत-कथा के सम्मिश्रण ने ऋग्वैदिक कवि की इस कल्पना को जन्म दिया है : 'हितकारी (अग्नि) हितकारिणी (उषा) के साथ आया; प्रेमी बहिन के पीछे-पीछे आता है।'[५] देवों के निकटाभिगमन से ऋग्वैदिक समाज में निकटाभिगमन की प्रथा का निष्कर्ष निकालना अथवा यह कल्पना करना कि इन उदाहरणों में आदिम अवस्था की स्मृतियाँ अवशिष्ट हैं, सुदृढ आधार पर प्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता।

डा० एस० सी० सरकार ने पौराणिक परम्परा को ऋग्वैदिक परम्परा से प्राचीनतर मानकर पुराणों के उद्धरणों से यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद से पूर्व काल में माता और पुत्र का यौन-सम्बन्ध अनैतिक नहीं समझा जाता था

---

१. मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। ऋक् ६,५५,५।

२. Ragozin : *Vedic India*, p. 226.

३. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
ऋक् १,११५,२।

४. उषा याति स्वसरस्य पत्नी। ऋक् ३,६१, ४।

५. भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
ऋक् १०,३,३।

और ऋग्वेद-काल तक आते-आते आर्यों में माता और पुत्र का विवाह सम्बन्ध निषिद्ध हो गया था। लेकिन या तो कुछ ऋग्वैदिक कवियों के परिवारों में माता और पुत्र के विवाह की प्रथा अवशिष्ट रह गई थी या प्राचीन प्रथा की स्मृतियाँ परम्परा से प्राप्त थीं, इसलिये कवि ने अपने इष्ट देव को 'मातुर्दिधिषुम्' कहा है।[1]

परन्तु रामायण, महाभारत तथा पुराणों को वैदिक काल की प्रथाओं एवम् परम्पराओं के लिये प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रो० रौथ के अनुसार महाभारत का समय बुद्ध-काल के बाद का है और उसमें वेद-विषयक ज्ञान अत्यधिक अपूर्ण परिलक्षित होता है; उसमें वैदिक आख्यानों को उनकी मूल भूमि से तोड़ दिया गया है।[2] प्रो० मैक्समूलर का कथन है कि यदि वीरगाथा-काव्य (महाभारत) वैदिक युग के लिये निरापद् प्रमाण नहीं हो सकता तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वही आपत्ति पुराणों के विषय में और भी अधिक बलपूर्वक उठाई जा सकती है।[3] महाभारत और पुराणों में यद्यपि समाज की आदिम अवस्थाओं के चित्रण मिलते हैं, लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनमें प्राचीन परम्पराओं को सत्य रूप में सुरक्षित रखा गया है। ऋग्वैदिक देवों तथा पुरुषों के आख्यानों के विषय में पुराणों में जो विस्तृत वर्णन मिलते है, वह उत्तरवर्ती लेखकों के वेदविषयक अज्ञान तथा स्वच्छन्द कल्पना का परिणाम है। रागोजिन ने सत्य ही कहा है कि जब प्राकृतिक घटनाओं को वीरगाथाओं में परिणत कर दिया जाता है, जैसे कि अनिवार्य रूप से सभी प्राकृतिक-घटनाओं को किया गया है, तो उत्तरवर्ती कवि स्वयं को कमनीय विषम स्थिति में पाते हैं और वे अपने कथन का स्वयं अभिप्राय न जानते हुए अपने प्रियतम वीरों और राजकुल-प्रवर्तकों के विषय

---

१. *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, pp. 139—41.

२. प्रो० मैक्समूलर द्वारा '*History of Ancient Sanskrit Literature*' पृ० ३१ पर उद्धृत।

३. "And if it be unsafe to use the epic poems as authorities for the Vedic age, it will readily be admitted that the same objection applies with still greater force to the Purāṇas."

(*History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 31).

में बड़े शान्त भाव से घृणित और उद्वेगजनक बातें वर्णित कर देते हैं।[१]

—: o :—

१. "But bring down all this to earth—as all nature-myth has invariably been brought down, to become Heroic Epos—and see in what a fine tangle the later poets will find themselves, what horrible deeds they will calmly relate to their most cherished ancient heroes and founders of royal houses, without the least conciousness or recollection of the original real meaning of what they tell!" (*Vedic India*, p. 215).

अध्याय ८

भाई और बहिन

पारिवारिक सम्बन्धों में स्थान के विचार से पिता और माता के पश्चात् क्रमशः भाई और बहिन आते हैं। ऋग्वेद में जहाँ पिता, माता, भाई और बहिन का उल्लेख हुआ है, वहाँ इसी क्रम में इनका उल्लेख किया गया है।[1] ऋग्वेद में एक अन्य प्रसङ्ग में भी पिता और माता के पश्चात् भाई का ही उल्लेख किया गया है, जिससे स्पष्ट रूप से भाई का महत्व प्रकट होता है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में भी पिता, माता, भाई और बहिन का इसी क्रम में उल्लेख हुआ है।[3] इसलिये पिता और माता का निरूपण कर चुकने के पश्चात् वर्तमान अध्याय में भाई और बहिन के विषय में प्रकाश डालना उचित ही है।

यहाँ यह बात और उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्णित पारिवारिक सम्बन्धों के नामों की ऋग्वेद में जैसी विविधता पाई जाती है, भाई और बहिन के नामों की उतनी विविधता नहीं है। भाई के वाचक शब्दों का ऋग्वेद में अत्यधिक संयत प्रयोग हुआ है। यद्यपि भाई के वाचक शब्द 'भ्रातर्' का मनुष्येतरों—परस्पर देवों तथा देवों और ऋषियों—के मध्य स्थापित सम्बन्ध के लिये भी प्रयोग हुआ है, परन्तु वहाँ भी 'भ्रातर्' शब्द का मूल अर्थ लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि इन स्थलों में भी देवों की एक दूसरे के अथवा ऋषि के भाई के रूप में कल्पना की गई है।

१. भाई के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

(अ) भ्रातर् (आ) जामि (इ) सजात।

(अ) भ्रातर्—ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य में भाई के लिये सर्वाधिक प्रचलित शब्द 'भ्रातर्' है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में इस

---

१. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।

ऋक् १,१९१,६।

२. यस्यावधीत् पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते।

ऋक् ५,३४,४।

३. स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वा……। ७,१५,२।

सम्बन्ध के लिये प्रयुक्त होने वाले शब्द प्रायः इसी के तद्भव शब्द हैं।[१] 'भ्रातर्' शब्द के समानप्रभव (cognate) शब्दों का अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में भी 'भाई' के अर्थ में प्रयोग होता है।[२] 'भ्रातर्' शब्द की निष्पत्ति 'ले जाना'[३] अथवा 'पालन करना'[४] अर्थ वाली √भर् अथवा √भृ धातु से मानी जाती है। सम्भवतया प्रारम्भ में भाई के सम्बन्ध की कल्पना बहिन को 'ले जाने वाला' अथवा 'पालन करने वाला' के रूप में हुई थी।[५] कम से कम ऋग्वेद में भाई का बहिन के लिये अत्यधिक महत्त्व है, इसलिये यह सम्भावना बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है कि भाई को 'भ्रातर्' नाम बहिन की रक्षा करने वाला होने के कारण दिया गया हो। अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में भी भाई के वाचक शब्द संस्कृत √भर् धातु के समान अर्थ वाली धातुओं से ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।[६] इसलिये यह सम्भव है कि मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में भी भाई के सम्बन्ध की कल्पना बहिन की अपेक्षा से ही की गई हो। यास्काचार्य ने भी 'भ्रातर्' शब्द की व्युत्पत्ति 'ले जाना' अथवा 'पोषण करना' अर्थ वाली 'भृ' धातु से मानी है, परन्तु भाई को 'भ्रातर्' कहने का हेतु यह दिया है कि वह 'भाग का हरण करता है अथवा पालनीय होता है।'[७] उणादि-सूत्र[८] के अनुसार 'भ्रातर्' शब्द √भ्राज् धातु से तृन् प्रत्यय जुड़कर बना है।[९] परन्तु 'भ्रातर्' शब्द की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ दुरूह तथा भाषा-विज्ञान

---

१. अवधी, गुजराती, मारवाड़ी—भाई; सिन्धी—भाओ; आसामी, बंगाली, उड़िया,—भाइ; मैथिली,—भाय्; मराठी—भाऊ (*F. O. C. P*, Voll. II, p. 496–98)

२. देखिये, ऊपर पृ० ५०; अवस्ता—brātar, आर्मिनियन—Elbair; गोथिक—brōpar; लिथु०—broterétis; प्रा० स्लाव—bratrû.

३. Max Müller : *Biogarphies of Words*, p. xx.

४. *Vedic Index*, II, 113.

५. मिलाइये, वही; Buck, p. 107

६. Zend—√bar; Greek—√φερω; Latin—√fero; Eng. √bear.

७. भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्त्तव्यो भवतीति वा। निरुक्त ४,२६।

८. उणादिसूत्र २,९६।

९. देखिये, शब्दकल्पद्रुम, 'भ्राता'।

के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं हैं।[1]

ऋग्वेद में 'भ्रातर्' शब्द का प्रयोग मनुष्यों और देवों दोनों के प्रसङ्ग में हुआ है। एक ऋषि ने अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा है: 'हम अनुज भ्राता का ऋण न प्राप्त करें।'[2] इन्द्र की निर्भीकता का वर्णन करते हुए एक अन्य ऋषि ने कहा: 'इन्द्र जिसके पिता अथवा माता अथवा भाई का वध करता है, इन्द्र उससे भी भयभीत नहीं होता।'[3] एक अन्य स्थल में अग्नि को नदियों का 'जामि' बतलाते हुए कहा है: 'अग्नि नदियों का ऐसे ही जामि है, जैसे भाई बहिनों का होता है।'[4] इन स्थलों में स्पष्ट ही मनुष्य भाइयों का उल्लेख किया गया है। अनेक बार देवों को परस्पर एक दूसरे का भाई कहा गया है।[5] ऋषियों ने अनेक स्थलों में देवों के साथ अपना भाई का सम्बन्ध स्थापित किया है और उन्हें भाई कहा है।[6]

(आ) जामि—भाई के अर्थ में प्रयुक्त दूसरा शब्द 'जामि' है। लेकिन ऋग्वेद में 'जामि' शब्द का भाई के अर्थ में प्रयोग अत्यन्त सीमित तथा संदिग्ध है। मूल रूप में कदाचित् 'जामि' का अर्थ 'रक्त से सम्बद्ध' था,[7] लेकिन ऋग्वेद में 'जामि' का सामान्य रूप से सम्बन्धी के अतिरिक्त 'स्वसर्' के विशेषण के रूप में तथा 'स्वसर्' (बहिन) के अर्थ में अत्यधिक प्रयोग हुआ है। 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति और मूल धात्वर्थ के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रो० ग्रासमान ने 'जामि' का 'जामातर्' से सम्बन्ध जोड़ते हुए √ग्रम्, √यम् धातु से 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति मानी है और 'जामि' को 'यम' का समानार्थक स्वीकार किया है।[8] वाल्डे और पोकोर्नी 'जामि' शब्द को √जम् 'विवाह करना' अर्थ की धातु से निष्पन्न

१. Shastri (Dr.) D. N.: *Ṛgvedic Conception of Brother* (P. T. A. I. O. C) 15th Session Bombay, 1949.

२. मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेः। ऋक् ४,३,१३।

३. देखिये, ऊपर पृ० २९३ पा० टि० २।

४. जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्राम्। ऋक् १,६५,४।

५. ऋक् १,१६१,१; १६४,१; १७०,२; ४,१,२; ६,५५,५; ५६,२।

६. ऋक् १,१७०,३; ३,५३,५; ८,४३,१६।

७. *Vedic Index*, I, 284 'जामि'; ग्रासमान ने *Wörterbuch zum Rigveda* में मूल अर्थ 'Verbunden' (सम्बद्ध) स्वीकार किया है।

८. ग्रासमान: *Wörterbuch zum Rigveda*, 'जामातृ', 'जामि'।

मानते हैं।[1] सेण्ट-पीटर्स-बर्ग लेक्सिकन में 'जामि' शब्द का सम्बन्ध √जन् (उत्पन्न करना) धातु से स्वीकार किया गया है। यास्काचार्य ने भी 'जामि' की निरुक्ति √जन् 'उत्पन्न करना' तथा √जम् 'जाना' अर्थ की धातु से की है।[2] सम्भवतया 'जामि' शब्द √जम् धातु से निष्पन्न है, लेकिन यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में 'जम्' धातु का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं हुआ है, केवल 'जमदग्नि' शब्द में ही 'जम्' धातु का प्रयोग दिखलाई देता है, जिसमें स्पष्ट ही इसका अर्थ 'विवाह करना' नहीं है। ग्रीक भाषा के बहिन अथवा पुत्री के पति के लिये प्रयुक्त 'γαμβρος' शब्द और 'मैं विवाह करता हूँ' के अर्थ को प्रकट करने वाली क्रिया 'γαμέο' तथा संस्कृत-भाषा के 'जामातर्' शब्द के अर्थ तथा रूप सादृश्य से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा में 'जम्' जैसी कोई धातु थी। डा० इरावती कार्वे ने वाल्डे और पोकोर्नी के अनुसार 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति √जम् 'विवाह करना' अर्थ की धातु से मानकर यह मन्तव्य प्रकट किया है[3] कि मूल रूप में 'जामि' शब्द विवाह-साथी का वाचक था और भाई तथा बहिन परस्पर एक दूसरे के विवाह-साथी होते थे, इसलिये भाई और बहिन एक दूसरे के 'जामि' कहे जाते थे। लेकिन डा० इरावती का कार्वे यह मन्तव्य इण्डो-यूरोपीय काल की केवल आदिम अवस्था के लिए ही सम्भव हो सकता है।[4]

ग्रिफ़िथ के अनुसार निम्न ऋक में 'जामि' का अर्थ भाई है[5] :

विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवत्। ऋक् १०,२३,७।

'हे देव, हम भाई सदृश तेरे रक्षण को जानते हैं।'[6]

---

१. देखिये, *A. B. O. R. I.*, XX, p. 111, f. n. 1.

२. जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यं जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति। निरुक्त ३,६।

३ *A. B. O. R. I.*, XX, pp. 110, 111; ऊपर पा० टि० १।

४. देखिये ऊपर, पृ० २४३।

५. *Hymns of the Rigveda*, Vol. IV, p. 147.

६. ग्रासमान ने 'जामिवत्' का अर्थ 'Wie Blutsverwandte' (रक्त के सम्बन्धी के समान) किया है। (*Wörterbuch zum Rigveda*)। गेल्डनर ने (*Der Rigveda*, III, 160) इसका अनुवाद 'Wie die eines Verwandte' (एक सम्बन्धी की प्रमति के समान) किया है।

प्रो० लुडविग ने ऋक् ३, ३१, २—न जामये तान्वो रिक्थमारैक्—में 'जामि' का अर्थ भाई किया है।[1] इन दोनों ही स्थलों में 'जामि' का भाई अर्थ संदिग्ध है। ऋग्वेद में 'जामि' के सामान्य सम्बन्धी और बहिन के अर्थ में हुए प्रयोगों का विवेचन आगे किया जायेगा। द्विवचनान्त और बहुवचनान्त 'जामि' शब्द का भाई-बहिन के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में द्यावा और पृथिवी को 'जामि' कहा गया है।[2] एक स्थल में मनुष्यों के प्रसङ्ग में भी भाई और बहनों का बोध कराने के लिये 'जामयः' का प्रयोग हुआ है :

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

ऋक् १०,१०,१०।

'आगे वह युग आयेंगे, जब भाई-बहिन ऐसे कार्य करेंगे, जो भाई-बहिनों के योग्य नहीं हैं।'

(इ) **सजात**—भाई के लिये प्रयुक्त एक अन्य शब्द 'सजात' है। सामान्यतया, जैसा कि शब्द की निरुक्ति (स+जात) से प्रकट है, 'सजात' का अर्थ 'एक साथ उत्पन्न हुए' या 'एक कुल में उत्पन्न' है, इसलिये इस शब्द का प्रयोग एक कुल में उत्पन्न एक पीढ़ी के सम्बन्धियों के लिये होता है। प्रो० मॉनेर विलियम्स ने इसका वैदिक भाषा में भाई अर्थ स्वीकार किया है।[3] ऋग्वेद में 'सजात' का केवल एक बार 'ज्ञासः' के साथ प्रयोग हुआ है, जहाँ 'सजातान्' को 'ज्ञासः' के समानान्तर रक्खा गया है।[4] ग्रिफिथ ने 'सजात' का अर्थ भाई किया है।[5]

२. बहिन के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

(अ) स्वसर् (आ) जामि।

(अ) **स्वसर्**—ऋग्वेद में नियमित एवं निश्चित रूप से बहिन के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द 'स्वसर्' अथवा 'स्वसृ' है। 'स्वसर्' शब्द की निरुक्ति अनिश्चित है। प्रो० मैक्समूलर ने संस्कृत 'स्वसर्' शब्द को 'स्वस्ति' शब्द में पाई जाने वाली √स्वस् 'अच्छा रहना' अर्थ वाली समासयुक्त धातु से निष्पन्न

---

१. देखिये, ऊपर पृ० २६२।

२. ऋक् १,१५६,४; ५,१६,४।

३. *Sanskrit-English Dictionary*.

४. वि ह्यख्यं मनसा वस्य इच्छन्निन्द्राग्नी ज्ञास उत वा सजातान्।

ऋक् १,१०६,१।

५. *Hymns of the Rigveda*, I, 184.

माना है।[1] प्रो० मैक्समूलर का विचार है कि सम्भवतः प्रारम्भ में परिवार की कुशलता का ध्यान रखने वालों को 'स्वसर्' शब्द से बोधित किया जाता हो।[2] यास्काचार्य[3] ने 'स्वसर्' की निरुक्ति 'सु+असा' अर्थात् 'अत्यधिक निर्भर' अथवा 'स्वेषु सीदति' अर्थात् 'अपने लोगों पर निर्भर रहने वाली' की है।[4] परन्तु 'स्वसर्' के समानप्रभव (cognate) शब्दों का अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में भी बहिन के लिये प्रयोग होता है,[5] इसलिये मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द को संस्कृत-भाषा की धातुओं से सिद्ध नहीं किया जा सकता।[6]

ऋग्वेद में मनुष्यों तथा देवों दोनों के प्रसङ्ग में बहिन के लिये 'स्वसर्' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋक् १,६५,४ में कहा गया है कि अग्नि सिन्धुओं का ऐसे ही जामि है जैसे भाई बहिनों का होता है।[7] ऋक् १०,१०, १२ में भी मनुष्य बहिन की ओर ही संकेत किया प्रतीत होता है। सिनीवाली को देवों की स्वसा कहा गया है।[8] अग्नि[9], भग[10], पूषन्[11] और अश्विनौ[12] की अपेक्षा में उषस् को स्वसा कहा गया है। गौ को आदित्यों की स्वसा कहा गया है।[13] अदिति को अप्, औषधि और सूर्य की स्वसा कहा गया है[14]।

---

१. *Biographies of Words,* Introduction, p. XXII.

२. वही।

३. निरुक्त ११,३२।

४. सिद्धेश्वर वर्मा : *Etymologies of Yāska,* p. 93.

५. लैटिन—Soror, आयरिश—siur, गोथिक—swistar, नू० उ० ज०—Schwester, लिथु०—sesuo, प्रा० स्लाव—sestra, अंग्रेजी—sister आदि।

६. बहिन के लिये प्रयुक्त मूल इण्डो-यूरोपीय शब्द की व्याख्या के लिये ऊपर पृ० ५० देखिये।

७. देखिये ऊपर पृ० २९५ पा० टि० ४।

८. ऋक् २,३२,६।

९. ऋक् १०,३,३।

१०. ऋक् १,१२३,५।

११. ऋक् ६,५५,४; ५।

१२. ऋक् १,१८०,२।

१३. ऋक् ८,१०१,१५।

१४. ऋक् १,१९१,६।

ऋग्वेद में अनेक बार उषस् और रात्रि को एक दूसरे की स्वसा कहा गया है।[1] 'भ्रातर्' शब्द के समान 'स्वसर्' शब्द का भी ऐसी वस्तुओं के लिये भी प्रयोग हुआ है, जो परस्पर ठीक ठीक उस तरह सम्बद्ध नहीं हैं।[2] उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में अङ्गुलियों[3], नदियों[4], अग्निशिखाओं[5] और ऋतुओं[6] को 'स्वसारः' कहा गया है। पणियों ने सरमा को बहिन के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा है।[7] विश्वामित्र ऋषि ने नदियों को 'स्वसारः' सम्बोधन किया है।[8] द्यावापृथिवी को भी 'स्वसारा' कहा गया है।[9]

(आ) **जामि**—ऋग्वेद में, जैसा कि पहले कहा गया है, 'जामि' शब्द का भाई और सामान्य सम्बन्धी के अतिरिक्त बहिन के लिये भी प्रयोग हुआ है। यास्काचार्य ने ऋक् ३,३१,२ की व्याख्या करते हुए 'जामि' का अर्थ बहिन (स्वस्रे) किया है।[10] ऋक् १,१२३,५ में जहाँ उषस् को वरुण की जामि कहा गया है, 'जामि' का अर्थ बहिन है। इन्द्र की स्तुति में एक उपासक ने कहा है : 'हे इन्द्र, यह स्तुतिकर्ता ध्यान द्वारा तेरे लिये यज्ञ में पैर रखती हुई बहिन के समान इस सुन्दर स्तुति को भेजता है।'[11] सोम की स्तुति में एक अन्य ऋक् में कहा गया है : 'सामगान में निपुण, सामगान करता हुआ, विद्वान् (सोम) शब्द करता हुआ (कलश की ओर) ऐसे जाता है, जैसे कोई मित्र की बहिन की ओर जाता है।'[12]

---

१. ऋक् १,११३,३; १२४,८; ३,५५,११।

२. देखिये, *Vedic Index*, II, 495—96.

३. ऋक् १,७१,१; ३,२६,१३; ४,६,८; ६,१,७; ७२,३ आदि।

४. ऋक् ६,८६,३६।

५. ऋक् १०,५,५।

६. *Vedic Index*, II, 496.

७. ऋक् १०,१०८,६।

८. ऋक् ३,३३,६।

९. उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम।
ऋक् ३,५४,७।

१०. निरुक्त ३,६।

११. इमां इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः।
जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे॥ ऋक् ८,१२,३१।

१२. साम कृण्वन्त्सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेत्यभि सख्युर्न जामिम्।
ऋक् ६,६६,२२।

'स्वसर्' शब्द के समान 'जामि' शब्द का भी आलङ्कारिक रूप में सोम का सवन करने वाली अङ्गुलियों[1], स्तुतियों[2] तथा सोम में मिलने वाले दूध अथवा जलों[3] के लिये भी प्रयोग हुआ है।

'जामि' शब्द का ऋग्वेद में 'स्वसर्' के साथ विशेषण के रूप में भी प्रयोग हुआ है। द्यावा-पृथिवी को 'जामी स्वसारा' कहा गया है।[4] सोम का सवन करने वाली अङ्गुलियों को भी 'जामि स्वसर्' कहा गया है।

स्वसार ईं जामयो मर्जयन्ति सनाभयो वाजिनमूर्जयन्ति। ऋक् ९, ८९, ४।

'सनाभि जामि बहिनें (अंगुलियाँ) बलवान् (सोम) को भूषित करती हैं तथा बलवान् बनाती हैं।'

जलों को भी अग्नि की 'जामि स्वसर्' कहा गया है:

ऋतस्य योनावशयद् दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम्। ऋक् ३, १, ११।

'गृह के हितकारी अग्नि ने जामि बहिनों (नदी-जलों) की सेवा के निमित्त ऋत के अङ्क में शयन किया।'[5]

लौकिक संस्कृत में बहिन के लिये प्रचलित 'भगिनी' शब्द का प्रयोग वैदिक भाषा में नहीं हुआ है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यास्काचार्य के निरुक्त में हुआ है।[6]

३. भाई और बहिन के सम्बन्ध का स्वरूप

सामान्यतया एक पिता की पुरुष सन्तान उसकी अन्य पुरुष या स्त्री सन्तान की अपेक्षा में 'भाई' कही जाती है और स्त्री सन्तान पुरुष या स्त्री सन्तान की अपेक्षा में 'बहिन'। ऋग्वेद में भाई और बहिन के वाचक 'भ्रातर्' और 'स्वसर्' शब्दों के प्रयोग से भी ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल में

---

१. ऋक् ९,२६,५।
२. ऋक् ८,१०२,१३।
३. ऋक् ८,७२,१४।
४. ऋक् १,१८५,५।
५. मिलाइये, अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसॄणाम्। ऋक् ३,१,३।
६. निरुक्त ३,६।

भी एक पिता की सन्तानों में पुरुष सन्तानें 'भाई' और स्त्री सन्तानें 'बहिन' कहलाती थीं। ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि पुरुष देव है, परन्तु उन्हें एक माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण 'भ्रातरा' कहा गया है।[१] मरुतों को जिनकी पुरुष देवों के रूप में कल्पना की कई है, इन्द्र के भाई कहा गया है।[२] उषस् और रात्रि स्त्री देव हैं, उनका 'स्वसर्' शब्द से निर्देश किया गया है।[३] साथ ही ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण भी हैं, जहाँ स्त्री देवों को पुरुष देवों की बहिन कहा गया है[४], फलतः पुरुष देव स्त्री देवों के भाई कहे जा सकते हैं।

लेकिन ऋग्वेद में बहिन की अपेक्षा में भाई के महत्त्व और 'भ्रातर्' शब्द के व्युत्पत्ति-प्राप्त अर्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप में भाई के सम्बन्ध की उद्भावना विशेषकर बहिन की अपेक्षा से हुई थी। कोई भाई बहिन की रक्षा करने वाला होने के कारण बहिन की अपेक्षा में भाई कहलाता था। एक पिता की दो पुरुष सन्तान केवल गौणवृत्ति से परस्पर भाई कहलाते थे। 'भ्रातर्' शब्द के व्युत्पत्तिगम्य अर्थ का अन्वेषण करते हुए अनेक विद्वानों ने भाई के रक्षा-कार्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है[५], परन्तु, भाई विशेष करके बहिन की रक्षा करने के कारण भाई कहलाता था और ऋग्वेद में पिता से अधिक भाई बहिन के पालन और रक्षण का उत्तरदायी था, इस तथ्य की युक्तियुक्त एवम् विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने ऑल-इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स के बम्बई अधिवेशन में पढ़े गये एक लेख में की है।[६]

'भ्रातर्' शब्द की व्युत्पत्ति के अतिरिक्त ऋग्वेद का साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि ऋग्वैदिक काल में पिता तथा अन्य सम्बन्धियों की अपेक्षा भाई

---

१. समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा।
ऋक् ६,५९,२।

२. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव। ऋक् १,१७०,२।

३. स्वसा स्वस्त्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्। ऋक् १,१२४,८।

४. ऋक् १,१२३,५; १८०,२; २,३२,६।

५. Macdonell and Keith : *Vedic Index*, II, 113; Grassman : *Wörterbuch zum Rigveda*, bhrātr.

६ यह लेख *Proceedings and Transactions of All India Oriental Conference*, fifteenth session, Bombay, Nov. 1949, में प्रकाशित हुआ है और इस अनुच्छेद का आधारस्रोत यही लेख है।

का बहिन के प्रति अत्यधिक महत्त्व तथा उत्तरदायित्व था। यद्यपि ऋग्वेद के दशम मण्डल में, जो कि निश्चित रूप से ऋग्वेद के अन्य भागों की अपेक्षा अर्वाचीन है, पुत्री के विवाह में पिता की प्रधान भूमिका लक्षित होती है,[१] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के प्राचीन भागों की रचना के काल में अथवा उससे पूर्ववर्ती काल में पिता की अपेक्षा भाई का ही बहिन के रक्षण, पालन तथा विवाह से अधिक सम्बन्ध था।[२] कुल की कन्याओं के विवाह आदि के विषय में पिता ने ऋग्वैदिक काल के उत्तर काल में ही उत्तरदायित्व लिया प्रतीत होता है। ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों में कुल की कन्याओं के विषय में पिता की अपेक्षा भाई का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतीत होता है। ऋग्वेद में अनेक बार बिना भाई वाली कन्याओं के पथभ्रष्ट हो जाने तथा अनैतिक आचरण करने का संकेत किया गया है। परिवार में भाई और बहिन की अपेक्षाकृत निकटता को सिद्ध करने में यह बात अत्यधिक महत्त्व की है कि ऋग्वेद में संदिग्ध साधनों द्वारा जीविका अर्जित करने वाली तथा धन-प्राप्ति के लिये अपने रूप का प्रदर्शन करने वाली कन्यायें तथा अपने पतियों से द्वेष करने वाली पत्नियाँ भ्रातृविहीन कही गई हैं। ऐसी स्त्रियों को एक बार भी पितृविहीन नहीं कहा गया है।[३] देवी उषस् का काव्यमय वर्णन करते हुए एक ऋषि ने कहा है :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥

ऋक् १, १२४, ७।

'भ्रातृहीन के समान देवी उषस् अपने रथ पर चढ़कर धन-प्राप्ति के लिये पुरुषों के सम्मुख जाती है। (वह) पति की कामना करने वाली, सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित पत्नी के समान मुस्कराती हुई अपने रूप का प्रदर्शन करती है।'[४]

यास्काचार्य ने भी इस ऋक् को भ्रातृहीन कन्या के विवाह-निषेध के पक्ष में उद्धृत किया है। एक अन्य ऋक् में पापी जनों की प्रकृति के सम्बन्ध

---

१. देखिये, ऊपर पृ० २३८–४०।

२. Shastri (Dr.) D.N. : *The Rgvedic Conception of a Brother* (P. T. A. I. O. C., Bombay, 1949, p. 261).

३. वही।

४. यास्काचार्य ने इस ऋक् का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है (देखिये ऊपर पृ० २५३, पा० टि० ३); परन्तु वह उतना बुद्धिगम्य नहीं है।

में कहा गया है :

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।

पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ।। ऋक् ४,५,५ ।

'भ्रातृहीन तथा पति से द्वेष करने वाली दुराचारिणी स्त्रियों के समान इधर-उधर घूमने वाले, असत्य और अनृत करने वाले पापी जनों ने इस गहन पद को उत्पन्न किया है।'

इस प्रकार ऋग्वैदिक साक्ष्य से यह विदित होता है कि भ्रातृहीन कन्यायें केवल अनैतिक जीवन ही नहीं व्यतीत करती थीं, अपितु भाई के अभाव में पतियों से भी घृणा करने लगती थीं। इसका अभिप्राय यह है कि भ्रातृहीन कन्यायें या तो विवाह से विमुख रहती थीं या यदि विवाह भी करतीं थीं तो अपने पति के प्रति सच्ची नहीं रहती थीं। यदि उपर्युक्त ऋक् में 'पतिरिपो न जनयो दुरेवाः' का अभिप्राय यह हो कि भ्रातृहीन विवाहित स्त्री अपने विवाहित पति के प्रति सच्ची नहीं रहती थी, तो इससे ऋग्वैदिक लोगों का यह विश्वास प्रकट होता है कि भाई का सान्निध्य बहिन को उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करने तथा अपने पति के प्रति सच्ची रहने में सहायक होता था[1]। कदाचित् सभी इण्डो-यूरोपीय-भाषाभाषी जातियों में विवाह से पूर्व बहिन की यौन-नैतिकता का उत्तरदायित्व भाई का होता था। रूस में यदि विवाह के पश्चात् वधू को कौमार्यहीन पाया जाता था, तो उसके भाई के गले में रस्सी डालकर उसे सबके सामने अपमानित किया जाता था[2]। भ्रातृहीन कन्या को अयोग्य घोषित करने का कदाचित् एक कारण यह भी था कि लोग उसके आचरण को संदिग्ध दृष्टि से देखते थे।[3]

भाई बहिन के केवल पालन-पोषण एवम् नैतिक आचरण के लिये ही उत्तरदायी नहीं था, अपितु वह बहिन के लिये योग्य पति का अन्वेषण करने तथा परम्परागत विधि से सम्मानपूर्ण विवाह करने के लिये भी उत्तरदायी था। भाई अपनी बहिन के पति को पर्याप्त उपहार 'यौतक' के रूप में प्रदान करता था। उदार देवों, इन्द्र और अग्नि की प्रशंसा में एक ऋषि ने इस प्रकार कहा है :

---

१. Shastri (Dr.) D. N. : *The Rgvedic Conception of a Brother* (P. T. A. I. O. C., Bomby, 1949, p. 263).

२. *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. 5 : 'Teutonic and Slav family.'

३. अन्य सम्भावित कारणों के लिये देखिये पृ० २५२–५४।

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात् ।
ऋक् १,१०९,२ ।

'मैंने सुना है कि तुम दोनों कुत्सित जमाता[1] और यहाँ तक कि साले (पत्नी के भाई) से भी अधिक देने वाले हो।'

इस ऋक् से यह प्रकट है कि इस ऋक् के रचयिता कवि के काल में अपने श्वसुर को धन देकर वधू प्राप्त करने वाला जामाता श्वसुर के प्रति अपनी उदारता के लिये प्रसिद्ध था, परन्तु बहिन का सम्मानपूर्ण विवाह करने वाला भाई बहिन के साथ दहेज में दी जाने वाली धनराशि के लिए और भी अधिक प्रसिद्ध था। यहाँ यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ कन्या पर धन लिया जाता था वहाँ जामाता से धन लेने वाला कन्या का पिता कहा गया है, भाई नहीं; लेकिन जहाँ कन्या के साथ यौतक दिया जाता था, वहाँ धन देने वाला कन्या का भाई कहा गया है, न कि पिता।[2] पिता पुत्री को बेचकर धन प्राप्त कर सकता था, लेकिन भाई बहिन के सम्मान की रक्षा करने का प्रयत्न करता था।

बहिन के लिये पति प्राप्त करना भाई का कर्त्तव्य था, यह बात ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम-यमी संवाद-सूक्त की निम्न ऋक् से लक्षित होती है:

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
ऋक १०,१०,११ ।

'क्या भाई हुआ जो (बहिन) अनाथ (अ+नाथ=बिना पति के) रहे। क्या बहिन हुई जो (भाई पर) विपत्ति आये।'

यद्यपि यह ऋक् कामपीडित यमी ने अपने भाई यम को अपने साथ विवाह के लिये प्रेरित करने के लिये कही है, फिर भी इसमें स्पष्ट रूप से यह संकेत निहित है कि उस काल में बहिन के लिये नाथ (रक्षक अथवा पति) उपलब्ध करना भाई का कर्त्तव्य था।

ऋग्वेद-काल में विवाह-विधि में भी भाई का महत्त्वपूर्ण भाग प्रतीत होता है। यद्यपि ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त में वर्णित विवाह-विधि में कन्या के

१. यास्काचार्य ने 'विजामातुः' का अर्थ 'असमाप्ताज्जामातुः' करते हुए सूचित किया है कि 'दाक्षिणाज' क्रीतापति को विजामाता कहते हैं। (निरुक्त ६,९)।

२. Shastri (Dr.) D. N.: *The Ṛgvedic Conception of a Brother* (P. T. A. I. O. C., Bombay. 1 49, p. 262).

विवाह में भाई की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका लक्षित नहीं होती है, लेकिन इसका कारण कदाचित् यह है कि सूर्या-सूक्त ऋग्वेद-काल में प्रचलित विवाह-विधि पर पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं डालता। गृह्यसूत्रों में वर्णित 'सप्तपदी' विधि कदाचित् सुदूर प्राचीन काल से ही विवाह-विधि का एक अङ्ग थी और इस विधि को सम्भवतया भाई सम्पन्न कराता था। इसका कुछ धूमिल-सा संकेत ऋक् ८,१२,३१ में प्रतीत होता है। ऋषि पर्वत काण्व ने इन्द्र के प्रति स्वरचित स्तुति प्रस्तुत करते हुए कहा है :

इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः।
जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे। ऋक् ८,१२,३१।

'हे इन्द्र, स्तुतिकर्ता तेरे लिये ध्यानपूर्वक इस शोभन स्तुति को भेजता है, जैसे मानो यज्ञ में पद भरती हुई बहिन को।'[1]

यास्काचार्य के अनुसार ऋक् ३,३१,२ में भी बहिन का विवाह करना भाई का कर्त्तव्य बतलाया गया है।[2] दुर्गाचार्य के अनुसार इस ऋक् के द्वितीय चरण का अभिप्राय यह है कि आत्मज पुत्र बहिन को भगिनी-पति के लिये सन्तान उत्पन्न करने योग्य बनाता है अर्थात् उसका पोषण करता है।[3]

ऋग्वेद की ऊपर उद्धृत ऋचाओं से यह स्पष्ट है कि बहिन के पोषण, नैतिक आदर्शों के पालन तथा विवाह के विषय में मुख्य रूप से भाई

---

१. मिलाइये, Geldner : *Der Rigveda*, II, 310.

यद्यपि इस ऋक् का उत्तरार्ध स्पष्ट नहीं है, और इसका ऋग्वेद के टीकाकारों ने अनेक प्रकार से अर्थ किया है (देखिये, ग्रिफ़िथ ३,१७५), लेकिन कन्या के जीवन में विवाह-यज्ञ की महत्ता के कारण यहाँ 'अध्वरे' का अर्थ 'विवाह-यज्ञ' किया जा सकता है और 'पिप्रतीम्' स्त्रीलिङ्ग विशेषण के कारण 'जामि' का अर्थ 'बहिन' ही सम्भव है, न कि 'बन्धु', जैसा कि सायण ने किया है। सायण ने 'पिप्रतीम्' का अन्वय 'सुष्टुति' के साथ किया है, जो कि क्लिष्ट है। गेल्डनर ने भी 'जामि' का अर्थ बहिन किया है।

२. निरुक्त में 'चकार गर्भं सनितुर्निधानम्' का अर्थ इस प्रकार किया गया है :

'चकारैनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राभस्य।' ३,६।

३. भगिनीभर्तुः प्रसवसमर्थां करोति—पुष्णातीत्यर्थः। निरुक्त ३,६ पर दुर्गाचार्य की टीका।

का कर्त्तव्य था, न कि पिता का। क्योंकि यदि कन्या के प्रति ये कर्त्तव्य मुख्य रूप से पिता के होते और भाई का उत्तरदायित्व केवल पिता के पश्चात् होता तो दुराचारिणी कन्याओं को पितृहीन कहना अधिक स्वाभाविक होता, न कि भ्रातृहीन।[१] इसलिये ऋग्वैदिक साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि भाई के सम्बन्ध की उद्भावना मुख्य रूप से बहिन की अपेक्षा में ही हुई थी और पिता के रहते हुए भी बहिन के विवाह तथा सदाचार के प्रति भाई का ही उत्तरदायित्व था। कुछ विद्वानों ने भाई-बहिन के सम्बन्ध में लिखते हुए किसी उचित आधार के बिना ही यह मान लिया है कि भाई पितृहीन बहिनों के पालन-पोषण का भार वहन करता था।[२] डा० अविनाश चन्द्र दास ने ऋग्वेद की उन ऋचाओं का निर्देश करते हुए, जिनमें भ्रातृहीन कन्याओं के भाग्यहीन होने का उल्लेख हुआ है, उनके पितृहीन होने की भी कल्पना कर ली है[३] जो सर्वथा निराधार है।

भाई का बहिन की दृष्टि में यह महत्त्व केवल ऋग्वेद के काल तक ही सीमित नहीं है। अथर्ववेद में भी भ्रातृहीन बहिनों को 'हतवर्चसः' अर्थात् 'वर्चस् हीन' कहा गया है।[४] निरुक्त में उद्धृत एक मन्त्र में भ्रातृहीन स्त्रियों को 'हतवर्मन्' कहा गया है।[५] यदि निरुक्तकार द्वारा की गई ऋक् ३,३१,२ की व्याख्या सही न भी हो तो भी इससे कम से कम यास्काचार्य की समकालीन पारिवारिक परिस्थिति पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। यास्काचार्य के काल में बहिन का पालन-पोषण भाई का कर्त्तव्य समझा जाता था। निरुक्तकार द्वारा की गई 'स्याल' शब्द की निरुक्ति[६] से प्रतीत होता है कि यास्क के समय में

१. Shastri (Dr.) D. N.: *The Ṛgvedic Conception of a Brother* (P. T. A. I. O. C., Bombay, 1949, p. 263).

२. देखिये, *Vedic Index*, II, 113 : "In Vedic literature the brother plays the part of protector of his sister when bereft of her father."

३. *Ṛgvedic Culture*, p. 368 : "a fatherless and a brotherless spinster was considered unlucky and pitied, as she was in danger of being seduced and going astray."

४. अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः। अथर्व० १,१७,१।

५. निरुक्त ३,४। निरुक्त में उद्धृत यह मन्त्र कुछ पाठान्तर के साथ ऊपर की पादटिप्पणी में उद्धृत अथर्ववेद का मन्त्र ही प्रतीत होता है।

६. स्याल्लाजानावपतीति वा। निरुक्त ६,९।

तथा उससे पर्याप्त समय पूर्व से भाई का विवाह की एक विधि लाज-होम में महत्त्वपूर्ण भाग होता था।[1] भाई की यह भूमिका वैदिक विवाह-पद्धति के वर्तमान रूप में भी चली आ रही है।

भाई और बहिन के प्रेम का उद्घाटन बौद्ध साहित्य में भी हुआ है। एक बौद्ध-जातक कथा में पति और पुत्र की अपेक्षा भाई को ही प्राथमिकता दी गई है।[2]

भाई के सम्बन्ध की कल्पना बहिन की अपेक्षा में हुई थी, इसकी पुष्टि लौकिक संस्कृत भाषा में बहिन के लिये प्रचलित शब्द के शाब्दिक अर्थ के पर्यालोचन से भी होती है। लौकिक संस्कृत में प्रचलित शब्द 'भगिनी' है और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में बहिन के वाचक शब्द इसी से विकसित हुए हैं।[3] 'भगिनी' का शब्दार्थ 'भग (=सौभाग्य अथवा धन) वाली' है। कोई कन्या इसलिये भाग्यशालिनी कहलाती थी क्योंकि वह भाई अथवा भाइयों वाली होती थी।[4] वाचस्पत्यकोश में 'भगिनी' की जो व्युत्पत्ति दी गई है,[5] वह असम्भव तथा क्लिष्ट कल्पनामात्र है और केवल उत्तर काल की अधःपतन की भावना को ही प्रकट करती है जिसमें स्त्रियों पर सब प्रकार की हीनता के भाव आरोपित किये गये हैं। पाणिनि के व्याकरण[6] के अनुसार द्विवचनान्त 'भ्रातर्' शब्द का अर्थ 'भाई और बहिन' होता है, 'दो भाई' नहीं।[7] इससे भी यही संकेत मिलता है कि भाई का सम्बन्ध विशेष रूप से बहिन के साथ था, इसलिये भाषा की प्रयोग-पद्धति में दोनों के लिये एक ही शब्द का प्रयोग पर्याप्त समझा गया था।

---

१. कुमार्या भ्राता शमीपलाशाँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति। पारस्कर-गृह्यसूत्र १,६,१।

२. जातक संख्या ६७ (हरिदत्त वेदालङ्कारः हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० २५६ में निर्दिष्ट)।

३. अवधी—बहिनि; मराठी—बहिन; गुजराती—बीन; बङ्गाली—बोन् आदि (*F. O. C. P.* Vol. II, p. 496).

४. मिलाइये, *Vedic Index*, II, 93, 'भगिनी'।

५. भगं यत्नः पित्रादीनां द्रव्यादानेऽस्त्यस्या इति इनिः।

६. भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्। अष्टाध्यायी १,२, ६८।

७. देखिये, Shastri (Dr.) D. N. : *The Ṛgvedic Conception of a Brother* (P. T. A. I. O. C., Bombay 1949, p. 264).

बहिन के प्रति भाई के कर्त्तव्यों का आदर्श आज तक हमारे देश के रीति-रिवाजों और पर्वों में अनवरत रूप से सुरक्षित चला आ रहा है। 'रक्षा-बन्धन" और 'भ्रातृ-द्वितीया' के त्यौहार प्रतिवर्ष भाई और बहिन के प्रेम की स्मृति जागरित करते हैं। भारतीय लोक-गीतों में भी विवाहित बहिन का भाई के प्रति गाढ प्रेम तथा आदर-भाव चित्रित हुआ है।

४. कृत्रिम भाई-बहिन

पहले एक अध्याय में यह प्रदर्शित किया गया है कि ऋग्वेद-काल में औरस पुत्र के अभाव में कृत्रिम पुत्र बना लिया जाता था और कभी कभी औरस पुत्रों के रहते हुए भी किसी गुणवान् व्यक्ति को पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। इसी प्रकार ऋग्वेद-काल में सम्भवतया कृत्रिम भाई और बहिन बना लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। कृत्रिम विधि से स्थापित किया गया भाई का सम्बन्ध दो पुरुषों के मध्य भी हो सकता था तथा एक पुरुष और एक स्त्री के मध्य भी।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध पणि–सरमा संवाद से भी यह प्रकट होता है कि ऋग्वेद-काल में वैदिक आर्यों में पुरुषों द्वारा ऐसी स्त्रियों को, जो वस्तुतः बहिनें नहीं थीं, बहिन बनाया जा सकता था और उनका बहिन के समान पालन-पोषण किया जाता था। इन्द्र द्वारा दूत-कार्य में नियुक्त सरमा ने जब गायों को चुरा कर दूर गुह्य स्थान में छिपे हुए पणियों का पता लगा लिया तो पणियों ने उसे बहिन के रूप में स्वीकार करके अपनी सम्पत्ति में भागीदार बनाने का प्रस्ताव रक्खा था,[1] लेकिन कर्त्तव्य-परायण सरमा ने पणियों के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।[2]

पणियों द्वारा सरमा को बहिन के रूप में अपनाने के दो उद्देश्य हो सकते हैं। प्रथम, पणियों के विचार से सरमा देवों द्वारा सताई हुई नारी थी, इसलिये उसे बहिन के रूप में स्वीकार करके और अपने ऊपर उसके पालन-पोषण का भार लेकर उसे देवों के अत्याचार से मुक्त करना चाहते थे। द्वितीय, जो कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में पणियों का हृदयगत उद्देश्य प्रतीत होता है, यह था कि किसी प्रकार लोभ में आकर सरमा देवों को उनका गुह्य स्थान प्रकट न करे।

---

१. एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥
ऋक् १०,१०८,९।

२. नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वम्। ऋक् १०,१०८,१०।

लेकिन ऋग्वेद-काल में कृत्रिम भाई बहिन का सम्बन्ध स्थापित करने के क्या कारण थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता ।[1]

५. भाई और बहिन का परस्पर व्यवहार

भाई और बहिन के पारस्परिक व्यवहार के विषय में यद्यपि ऋग्वेद से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, फिर भी ऋग्वेद में इस विषय में जो भी साक्ष्य उपलब्ध हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि भाई और बहिन का परस्पर का व्यवहार अत्यधिक प्रेमपूर्ण होता था और उनका परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था । उषाकाल में यज्ञभूमि में आहुति देने के लिये घृत रखा जाता था । इस घटना का एक ऋग्वैदिक कवि ने निम्न प्रकार से आलङ्कारिक भाषा में वर्णन किया है, जिससे भाई-बहिन का एक दूसरे के प्रति प्रेम, आदर तथा औत्सुक्य का भाव प्रकट होता है :

यदी मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित ।
तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते ।। ऋक् २,५,६ ।

'जब बहिन (उषस्) माता (वेदी) के समीप घृत लिये खड़ी रहती है, तो (भ्रातृस्थानीय[2]) अध्वर्यु उन (उषाओं) के आने पर, वृष्टि के आने पर यव के समान, हर्षित होता है ।'

एक अन्य ऋक् में स्वसा (उषस्) द्वारा अश्विनौ को बल और शक्ति के लिये लाने की कामना की गई है :

युवमत्यस्याव नक्षथो यद् विपत्मनो नर्यस्य प्रयज्योः ।
स्वसा यद् वां विश्वगूर्ती भराति वाजायेट्टे मधुपाविषे च ।।

ऋक् १,१८०,२ ।

'तुम, दूर गमन करने वाले, मनुष्यों के हितकारी और पवित्र सूर्य (अत्य=अश्व) को दौड़कर पकड़ लेते हो । सब के द्वारा स्तुति किये गये और मधु का पान करने वाले (अश्विनौ), मैं प्रार्थना करता हूँ कि बहिन (उषस्) तुम्हें बल और शक्ति के लिये (वाजाय, इषे) लावे ।'

---

१. कृत्रिम भाई और बहिन बनाने की प्रथा अनेक देश और जातियों में प्रचलित है और भिन्न-भिन्न समाजों में उसकी विधियाँ और उससे उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्य भी अलग अलग पाये जाते हैं । देखिये, (*E. R. E.*, Vol. II, पृ० ८५७—७१) ।

२. यद्यपि यहाँ भाई का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन 'स्वसा' की अपेक्षा से अध्वर्यु को 'भ्राता' समझा जा सकता है ।

ऊपर उद्धृत ऋक् से प्रकट है कि ऋग्वैदिक कवि बहिन को भाई के लिये प्रेरणा का स्रोत समझते थे और भाई अनेक पौरुष के कार्य करने के लिये बहिन से प्रेरणा प्राप्त करता था।

ऋग्वेद में अग्नि की 'अपां नपात्' अर्थात् 'जलों का पुत्र अथवा पौत्र' के रूप में कल्पना की गई है, लेकिन कुछ स्थलों में अग्नि और जलों में भाई और बहिन का सम्बन्ध माना गया है और अग्नि द्वारा बहिनों की सेवा करने का कथन किया गया है। एक ऋषि ने वर्णन किया है :

अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसॄणाम्। ऋक् ३,१,३।
'देवों ने दर्शनीय अग्नि को जलों के अन्दर बहिनों की सेवा में पाया।'[१]

प्रो० लुडविग ने इस ऋक् में 'अपसि' के स्थान पर 'उपसि' संशोधन प्रस्तुत किया है।[२] यदि प्रो० लुडविग का यह संशोधन स्वीकार कर लिया जाये तो इस ऋक् में पारिवारिक जीवन का वह दृश्य प्रतिबिम्बित होता है, जो प्रतिदिन ऐसे समाजों में देखने को मिलता है, जिनमें माता को घर के काम-काजों में लगे रहना पड़ता है और घर के छोटे बच्चों की देख-भाल किशोरावस्था की लड़कियों को करनी पड़ती है।

ऋग्वेदकाल में भाई और बहिन की घनिष्ठता उन प्रसङ्गों से भी प्रकट होती है जहाँ अपरिचित और अपने कुल से असम्बद्ध स्त्रियों को अपने अनुकूल करने के लिये बहिन बनाने का प्रस्ताव किया गया है अथवा उन्हें बहिन कहा गया है। भाई और बहिन के सम्बन्ध के साथ इतनी उदात्तता, पवित्रता तथा पारस्परिक हित की भावनायें जुड़ी हुई थीं कि अपने से असम्बद्ध स्त्री को विशुद्ध निर्दोष भावना से बहिन बनाया जा सकता था और वह अपने 'धर्म भाई' के हित में प्रवृत्त रहती थी।

ऋषि विश्वामित्र रथ और गाड़ी लेकर नदी के तट पर पहुँचा; परन्तु उसे इन्द्र के आदेश से उमड़ती हुई नदियों को देखकर पार करने का साहस न हुआ। इस पर ऋषि ने नदियों को सम्बोधित करके कहा : 'हे बहिनों, तुम कवि की बात सुनो, वह तुम्हारे पास रथ और गाड़ी लेकर दूर से आया है। हे सिन्धुओं, तुम नीची हो जाओ, अपनी धाराओं के साथ धुरी से नीचे

१. ऋक् ३,१,११ में भी ऐसा ही भाव अभिव्यक्त हुआ है।
२. देखिये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*, I, 406, f. n. 3.

होकर पार होने योग्य बन जाओ।'[1] इस पर नदियों ने अविलम्ब ऋषि का वचन मान लिया और कहा : 'हे कवि, हम तुम्हारा वचन मानते हैं, तुम रथ और गाड़ी लेकर दूर से आये हो।'[2]

पणियों द्वारा सरमा को बहिन बनाने के प्रस्ताव का पहले उल्लेख किया जा चुका है।[3] यद्यपि इन्द्र और अङ्गिरसों के भय से सरमा ने पणियों की बहिन बनना स्वीकार नहीं किया, लेकिन यह बिल्कुल सम्भव प्रतीत होता है कि यदि सरमा पणियों की बहिन बनना स्वीकार कर लेती तो वह अवश्य अपने 'धर्म भाई' पणियों का पक्ष लेती। बृहद्देवता के अनुसार सरमा ने पणियों का दूध पी लिया था और बदले में इन्द्र को पणियों द्वारा चुराई हुई गायों का भेद नहीं कहा था।[4]

ऋषि विश्वामित्र द्वारा नदियों को और पणियों द्वारा सरमा को बहिन बनाने के प्रस्ताव से यह सिद्ध होता है कि भाई और बहिन में अत्यधिक निकटता थी और बहिन भी भाई के हित-साधन के लिये उसी प्रकार आबद्ध थी, जैसे भाई बहिन की रक्षा एवम् पालन-पोषण के लिये आबद्ध था। ऋक् १०,१०,११ में ऐसी बहिन की निन्दा की गई है, जो भाई पर संकट (निर्ऋति) आने देवे।[5] परम्परा के अनुसार अगस्त्य की स्वसा को ऋक् १०,६०,६ का ऋषि कहा जाता है। इस ऋक् में उसने अपने भाई अगस्त्य की सन्तान के लिए राजा असमाति से दो रोहित अश्व जोड़ने की प्रार्थना की है।[6]

पत्नी की तुलना में बहिन का परिवार में क्या स्थान था, यह निश्चित

---

१. ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः॥
ऋक् ३,३३,९।

२. आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
ऋक् ३,३३,१०

३. ऊपर पृ० ३०८।

४. बृहद्देवता ८,२४-३६।

५. किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्। ऋक् १०,१०,११।

६. अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता। ऋक् १०,६०,६।

ग्रिफ़िथ ने 'अगस्त्यस्य नद्भ्यः' का अर्थ 'अगस्त्य की बहिन के पुत्र' किया है। सीग ने भी इसका अर्थ 'बहिन के पुत्र' किया है; परन्तु मैक्डानल के विचार में 'पौत्र' अर्थ अधिक सम्भव है। (देखिये, *Vedic Index*, 1, 438).

नहीं किया जा सकता। ऐतरेयब्राह्मण में राका को देवों की पत्नियों पर प्राथमिकता देनी चाहिये या नहीं, इस विषय पर हुए विवाद में एक पक्ष द्वारा राका को, जो कि देवों की स्वसा है, प्राथमिकता दी गई है, लेकिन दूसरे पक्ष ने इसका विरोध किया है।[1] ऐतरेयब्राह्मण में बहिन की अपेक्षा पत्नी का स्थान ऊँचा प्रतीत होता है।[2] ऋग्वेद १०,८५,४६ से भी यही प्रतीत होता है कि पत्नी अपने पति की बहिन पर शासन करती थी।

९. भाई-बहिन में यौन-सम्बन्ध ?

डा० सरकार[3] तथा डा० इरावती कार्वे[4] के अनुसार प्रारम्भिक ऋग्वैदिक काल में भाई और बहिन के विवाह की प्रथा प्रचलित थी और भाई-बहिन के विवाह को केवल ऋग्वेद-काल के उत्तर भाग में ही निकटाभिगमन और पाप माना गया था, लेकिन भाई-बहिन के विवाह की घटनायें यदा-कदा फिर भी होती रहती थीं, जिनका उत्तरवर्ती साहित्य में उल्लेख हुआ है। दोनों ही विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि में ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती वैदिक एवम् अन्य साहित्य से प्रमाण उद्धृत किये हैं। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इन विद्वानों ने ऋग्वैदिक समाज में विलक्षण प्रथायें खोज निकालने की चेष्टा में संदिग्ध प्रमाणों पर अत्यधिक विश्वास कर लिया है। यह सत्य है कि ऋग्वेद-काल में विवाह के लिये वर्जित सम्बन्धियों का वृत्त उतना विस्तृत नहीं था, जितना कि धर्मशास्त्रों तथा निबन्ध ग्रन्थों में पाया जाता है और कदाचित् ऐसे युवा और युवति का विवाह भी सम्भव था, जो आज की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार विवाह-वर्जित हैं और जिन्हें आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में सामान्यतया सम्बोधन में भाई और बहिन कहा जाता है और केवल निर्देश करते समय जिनका 'तयेरा', 'चचेरा', 'ममेरा', 'फुफेरा', 'मौसेरा' आदि जैसे विशेषण प्रयुक्त करके 'सगे' भाई-बहिनों से भेद किया जाता है। शतपथब्राह्मण में चौथी और तीसरी पीढ़ी में जात्यों के विवाह

---

१. ऐतरेयब्राह्मण ३,३७—'जाम्यै वै पूर्वपेयमिति यत्तन्नादृत्यम्'।

२. देखिये, Keith : *Rigveda Brāhmaṇas Translated*, p. 188.

'Therefore a sister, though of the same womb, lives as inferior to a wife, though of a different womb."

३. *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 47—76.

४. *Kinship Usages and Family Organization* (*A. B. O. R. I.*, XX, pp. 220—222).

की अनुमति दी गई है।[1] लेकिन यह स्मरणीय है कि अनेक गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में, जिनका शतपथब्राह्मण से कुछ ही शताब्दियों का अन्तर स्वीकार किया जा सकता है, सगोत्र कन्या (चाचा, ताऊ आदि की पुत्री) से विवाह का निषेध किया है,[2] जिससे वैदिक भारत में निकट सम्बन्धियों के विवाह-निषेध का सामान्य प्रचलन प्रतीत होता है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में भी विवाह-अनुमत और विवाह-वर्जित समुदायों में भेद किया प्रतीत होता है।[3]

ऋग्वेद काल में भाई और बहिन के विवाह-सम्बन्ध की प्रथा के सम्बन्ध में दृढ आधार पर कोई निष्पक्ष एवम् युक्तियुक्त मत निश्चित करने के लिये आवश्यक है कि ऋग्वेद के एतद्विषयक साक्ष्य का पूर्ण रूप से निरूपण किया जाये और उससे निकलने वाले सम्भावित परिणामों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार किया जाये।

ऋग्वेद में भाई-बहिन के विवाह-सम्बन्ध को सूचित करने वाले साक्ष्य को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) जहाँ भाई-बहिन के सम्बन्ध में स्थित देवों का दम्पती के रूप में कथन किया गया है, (२) जहाँ देवों को बहिन का 'जार' या 'गर्भधारण करने वाला' कहा गया है, (३) यम-यमी-संवाद सूक्त और (४) रक्षोहग सूक्त।

(१) ऋग्वेद में द्यावा-पृथिवी को 'जामी' और 'स्वसारौ' कहा गया है तथा साथ ही सब देवों के माता-पिता कहे जाने के कारण पति और पत्नी भी माने गये हैं। युगलदेव अश्विनौ का, जो कि सविता और उषस् के पुत्र हैं,[4] ऋग्वेद में कई बार सूर्या सावित्री के पतियों के रूप में उल्लेख किया गया

१. तस्मात्समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहे इति वि देवं दीव्यमाना जात्या आसते। एतस्मादु तत्। शतपथब्रा० १,८,३,६। मिलाइये, *Vedic Index,* I,236; काणे: *Vedic Basis of Hindu Law,* pp. 5—6.

२. हिरण्य० गृ० सू० १,१९,२; गोभिल गृ० सू० ३,४,४; आप० धर्म० २,५,११,१५; *History of Dharmaśāstra,* Vol. II, pt. I, pp. 436–37.

३. विवाह्यो जनः सगोत्रः समानजन इति धानञ्जप्यः। ८,२,११ (*History of Dharmaśāstra,* Vol. II, Pt. I, p. 481, f. n. 1122 में उद्धृत)।

४. डा० इरावती कार्वे: *Kinship Usages and Family Organization* (*A. B O. R. I.,* XX, p. 220)। ऋक् १,१८०,२ में उषस् को अश्विनौ की 'स्वसा' कहा गया है।

है[1] और सूर्या अथवा सूर्य की दुहिता का उनके रथ पर चढ़ने का कथन किया गया है।[2]

(२) भाई और बहिन के विवाह की प्रथा को प्रकट करने वाला सबसे प्राचीन संकेत ऋग्वेद के छठे मण्डल में है, जहाँ देव पूषा को बहिन का जार तथा माता का प्रेमी कहा गया है।[3] यहाँ स्पष्ट ही पूषा की माता और बहिन से उषस् का अभिप्राय है और क्योंकि पूषा जो कि सूर्य का ही रूप है, उषस् के पश्चात् आता है, इसलिये उसे उषस् का जार अथवा 'दिधिषु' (प्रेमी) कहा गया है। ऋग्वेद में अन्यत्र भी देवों द्वारा सूर्या को पूषा के लिये दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[4]

ऋग्वेद में देव पूषा की भाँति देव अग्नि को भी उषस् का जार कहा गया है।[5] एक अन्य ऋषि ने उषा-काल में प्रदीप्त किये जाते हुए अग्नि का इस प्रकार कवित्वमय चित्रण किया है: 'सुन्दर (अग्नि) सुन्दरी (उषस्) के साथ आया; प्रेमी (अग्नि) बहिन (उषस्) के पीछे-पीछे जाता है।'[6]

एक अन्य ऋषि ने अग्नि द्वारा बहिन (औषधियों) में गर्भ धारण किये जाने का कथन किया है।[7] एक अन्य ऋषि ने सोम का सवन करने वाले प्रस्तरों की स्तुति में कहा है: 'बुद्धिमान् (ग्रावाणः) ने बहिनों (अङ्गुलियों) का आलिङ्गन करके वाद्य-ध्वनि से पृथिवी को गुँजाते हुए नृत्य किया।'[8]

इन ऊपर निर्दिष्ट स्थलों में देवों में भाई-बहिन के विवाह अथवा यौन

---

१. ऋक् ४,४३,६।

२. ऋक् ५ ७३,५; १,३४,५; ११६,१७ आदि।

३. पूषणं न्वजाश्वमुप स्तोषाम वाजिनम्। स्वसुर्यो जार उच्यते ॥
मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। ऋक् ६,५५,४–५।

४. यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम्। ऋक् ६,५८,४।

५. अबोधि जार उषसामुपस्थात्। ऋक् ७,९,१।
और भी मिलाइये, ऋक् ७,१०,१।

६. भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
ऋक् १०,३,३।

७. अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे।
ऋक् १०,२१,८।

८. संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुराघोषयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः।
ऋक् १०,९४,४।

सम्बन्धों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अब प्रश्न है, क्या इनके आधार पर ऋग्वैदिक समाज की प्रथा के विषय में कोई निश्चित परिणाम निकाला जा सकता है ? यहाँ देवों के सम्बन्ध में भाई-बहिन के यौन सम्बन्धों की कल्पना अनेक प्रसङ्गों में की गई है, इसलिये यह सहज परिणाम निकाला जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में भाई और बहिन में विवाह-सम्बन्ध होता होगा, जिसका संकेत ऋग्वैदिक ऋषियों द्वारा देवों के विषय में की गई कल्पना में हुआ है। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कवियों की कल्पना का आधार सर्वदा ही उनके चारों ओर घटने वाली घटनायें ही नहीं होती हैं, दूसरे ऋग्वैदिक कवियों की देवों में पारिवारिक सम्बन्ध एवम् उनके व्यवहार की कल्पना का आधार उनके नेत्रों के सामने घटने वाली प्राकृतिक घटनायें थीं। इसलिये उनकी कल्पनाओं के आधार पर प्राचीन काल में ऐसी सामाजिक प्रथाओं को आरोपित करना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता है।[1] इन दैवत-आख्यानों से ऐसे परिणाम निकालना तब और भी असंगत हो जाता है जबकि इनके विरुद्ध प्रमाण उपलब्ध हों, जैसा कि आगे प्रदर्शित किया जायेगा।

(३) ऋग्वेद-काल में भाई और बहिन के विवाह की प्रथा सिद्ध करने के लिये ऋग्वेद के यम-यमी-संवाद सूक्त को उद्धृत किया जाता है। इस सूक्त में काम-पीडित यमी अपने भाई यम से विवाह का प्रस्ताव करती है, परन्तु यम दृढता से उसके प्रस्ताव का प्रतिषेध करता है। एक आलोचक का कथन है कि ऋग्वेद का वर्तमान यम-यमी-संवाद सूक्त अपूर्ण है और कभी यह सूक्त अधिक लम्बा रहा होगा और उसमें अन्त में यम ने अवश्य ही यमी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया होगा।[2] लेकिन यम-विषयक परम्परा से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि यम ने यमी के प्रस्ताव को स्वीकार किया हो। वैदिक विचारधारा के अनुसार पुरुष सन्तान द्वारा स्वयं को अमर कर लेता है: जब तक सन्तान जीवित रहती है, तब तक वह भी जीवित रहता है। परन्तु वैदिक परम्परा में यम सबसे पहला मर्त्य है, जिसकी मृत्यु हुई है।[3] इसलिये सम्भव यही है कि यम ने यमी के प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया और वह निःसन्तान

१. मिलाइये, "The early legends of the gods wedding their daughters and sisters seem to me, however, no proof of such custom in men." Hopkins E. W. : *J. A. O. S.*, 13, 345 (quoted by Dr. Kapadia in *Hindu Kinship*, p. 50, f. n. 17).

२. देखिये, *A. B. O. R. I.*, XX, p. 221.

३. अथर्ववेद १८,३,१३।

ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस कल्पना की पुष्टि ईरानी परम्परा से भी होती है। पहलवी परम्परा में 'यिम विवङ्घत्' (वैदिक 'यम वैवस्वत') को एक पौराणिक राजा के रूप में चित्रित किया गया है, जिसने मनुष्य जाति के नाश की भी चिन्ता न करके अपनी बहिन 'यिमेह्' से विवाह करना अस्वीकार कर दिया। यद्यपि पहलवी परम्परा के अनुसार 'यिमेह्' ने 'यिम' की मदावस्था में उससे मैथुन कर लिया है, लेकिन यिम की दृढता से पहलवी लेखकों की भाई-बहिन के विवाह के विषय में असहमति की भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है।

यम-यमी-संवाद सूक्त के आलोचन से प्रतीत होता है कि इस सूक्त के रचयिता ने काम-पीडित यमी के मुख से भाई-बहिन के यौन-सम्बन्ध के औचित्य में अनेक युक्तियाँ दी हैं, लेकिन साथ ही यम के मुख से उनका खण्डन किया है। सूक्त के रचयिता का मत स्पष्ट रूप से निकट-सम्बन्धियों के विवाह-सम्बन्ध के विरुद्ध है, जैसा कि उसने अपने नायक यम के आचरण से प्रतिपादित किया है। कई विद्वानों ने इस सूक्त में यमी के वचनों को समाज की पूर्वकालीन अवस्था को सूचित करने वाला माना है, परन्तु ऐसा स्वीकार करने के लिये कोई दृढ आधार नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि यमी के वचनों में समाज की पूर्वकालीन अवस्था की स्मृति मानी जाये, तो यह अधिक स्वाभाविक होता कि यम यमी के वचन का खण्डन यह कहकर करता कि पहले जंगली जीवन में निकट सम्बन्धियों का विवाह हो सकता था, अब नहीं। लेकिन इसके विपरीत यम ने यमी के प्रस्ताव का प्रतिषेध यह कहकर किया है कि आगे वह युग आयेंगे जब भाई-बहिन उनके अयोग्य कार्य करेंगे।[१] यम के इस वचन में वही भावना परिलक्षित होती है जिससे आगे आने वाले युग की निन्दा की जाती है। यह आश्चर्य की बात है कि डा० सरकार[२] ने यम के इस वचन में कवि द्वारा अपने समकालिक अथवा कुछ पूर्ववर्ती काल की सामाजिक स्थिति का संकेत किया गया माना है।

यमी के यह प्रस्ताव करने पर कि यम पति के रूप में उसके शरीर का स्पर्श करे[३], यम ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो हमने पहले कभी नहीं किया

१. आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
ऋक् १०,१०,१०।

२. *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p, 74.

३. जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः। ऋक् १०,१०,३।

है, उसे अब कैसे करें; सत्य बोलते हुए अब असत्य कैसे बोलें ?[1] इससे स्पष्ट है कि सूक्त के रचियता की जानकारी में भाई और बहिन का विवाह कभी नहीं हुआ है। ऋक् १०,१०,१२ में स्पष्ट रूप से बहिन के साथ गमन को पाप कहा गया है।[2] अथर्ववेद में भी बहिन को दूषित करने वाले के लिये अधोलोक निश्चित किया गया है।[3]

(४) ऋग्वेद में भाई-बहिन के यौन-सम्बन्धों को सिद्ध करने वाला सब से प्रबल साक्ष्य कदाचित् रक्षोहण-सूक्त (ऋक् १०,१६२) में निहित है। इस सूक्त में गर्भस्राव करने वाले अथवा शिशु को नष्ट करने वाले रोग अथवा रक्षस् को दूर भगाने के लिये प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संकलन है। इस सूक्त में ऐसा विश्वास किया गया है कि गर्भस्राव का कारण कोई रोग अथवा भूत-पिशाच है और भूत-पिशाच इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकता है। इस सूक्त की पाँचवी ऋक् में उन पुरुषों का कथन किया गया है, जिनका रूप धारण करके कोई भूत-पिशाच किसी स्त्री के समीप पहुँच सकता है।

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ऋक् १०,१६२,५।

'जो भाई, पति अथवा प्रेमी का रूप धारण करके तेरे समीप आता है और जो तेरी सन्तान (प्रजा) को मारना चाहता है, हम उसे यहाँ से भगाते हैं।'

यहाँ भाई का पति और जार के साथ उल्लेख किया गया है और यह समझा गया है कि रक्षस् किसी स्त्री के समीप जाने के लिये उसके भाई का रूप धारण कर लेता था जिससे वह उसके समीप धोखा देकर अनायास जा सके। इससे प्रतीत होता है कि भाई और बहिन में सामान्य रूप से यौन-सम्बन्ध होता था। लेकिन इसके विरुद्ध यहाँ दो ऐसे कारण हैं जिससे ऋग्वेद-काल में भाई-बहिन के यौन-सम्बन्ध की सिद्धि में इस साक्ष्य में भी कुछ बल नहीं रह जाता। प्रथम, इस सूक्त का विषय ऋग्वेद की विचारधारा की संगति में नहीं है, इसलिये यह ऋग्वेद में प्रक्षेप हो सकता है। यह तो निश्चित ही है कि यह अपेक्षाकृत बहुत ही उत्तरकाल की रचना है, जैसा कि ऋग्वेद-

---

१. न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
ऋक् १०,१०,४।

२. पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। ऋक् १०,१०,१२।

३. अथर्व० २०,१२८,२।

संहिता में इसकी स्थिति से प्रकट है। अतः यह सूक्त ऋग्वैदिक आर्यों की उस आदिम अवस्था की सामाजिक अवस्था को चित्रित नहीं करता है, जिसमें भाई-बहिन का विवाह समाज में अनुमोदित प्रथा हो सकती थी। दूसरे, इस ऋक् को भाई-बहिन के यौन-सम्बन्ध की सिद्धि में उद्धृत किये जाने का आधार 'निपद्यते' शब्द का अर्थ है। यह समझा जाता है कि यहाँ 'निपद्यते' का अर्थ 'काम-भावना से समीप जाना या साथ लेटना' है।[1] परन्तु यह स्मरणीय है कि 'पद्' का धात्वर्थ केवल 'जाना' है और भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में 'जाना' क्रिया के भिन्न-भिन्न अभिप्राय हो सकते हैं। इसलिये भाई, पति और प्रेमी तीनों के साथ 'पद्' धातु का अर्थ एक समान नहीं हो सकता है। किसी भी समाज में किसी स्त्री के समीप भाई, पति और प्रेमी के 'जाने' का एक-सा अभिप्राय नहीं समझा जाता है। फिर, यदि तीनों के जाने की प्रक्रिया में कोई भी भेद-भाव न होता तो 'रक्षस्' को तीन वैकल्पिक रूप धारण करने की क्या आवश्यकता थी? ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऋक् उस समाज का संकेत करती है जिसमें विवाहित बहिन की ससुराल में भाई के जाने की प्रथा प्रचलित हो गई थी और इसलिये यह समझा जाने लगा था कि भूत-पिशाच किसी स्त्री के समीप उसके भाई का रूप धारण करके धोखा दे सकता था।

ऊपर ऋग्वेद के उस साक्ष्य का निरूपण किया जा चुका है जिसे भाई-बहिन के यौन-सम्बन्धों की सिद्धि में उद्धृत किया जाता है, लेकिन इस साक्ष्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इससे ऋग्वैदिक काल में भाई-बहिन का विवाह-सम्बन्ध समाज से अनुमोदित सामान्य प्रचलित प्रथा के रूप में सिद्ध नहीं होता।

ऋग्वेद-काल में भाई और बहिन के विवाह-सम्बन्ध की प्रथा का प्रचलन इसलिये भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, जैसा कि पहले कहा जा चुका है,[2] कि जिस समाज में भाई और बहिन में विवाह-सम्बन्ध होता है, उसमें विवाह-जात सम्बन्धियों के वाचक शब्दों का आविर्भाव नहीं होता है। दूसरे, ऋग्वेद के सूर्या-विवाह-सूक्त[3] से यह स्पष्ट है कि कन्या विवाह होने पर पितृकुल से पतिकुल में जाती थी और उसके लिये किसी औपचारिक विधि का

---

१. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 220.

२. देखिये, ऊपर पृ० २४४।

३. सूर्या-विवाह-सूक्त को रक्षोहण-सूक्त से अर्वाचीन सिद्ध नहीं किया जा सकता।

आश्रय लिया जाता था[1], इसलिये पितृकुल और पतिकुल एक नहीं हो सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यतया विवाह सम्बन्ध दो दूरस्थ कुलों में होता था, क्योंकि ऋग्वेद १०,८५,३२ से प्रकट होता है कि वधू को पतिकुल में जाते समय दुर्गम मार्ग से होकर जाना पड़ता था जिसमें दस्यु आदि का भय रहता था, इसलिये उनसे रक्षा के लिये प्रार्थना की जाती थी।[2]

ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों संहिताओं के विवाह-सूक्तों में वर्णित विवाह-विधि में एक ऐसी विधि आती है, जिसमें नव-विवाहित वर-वधू के मध्य में वास करने वाले गन्धर्व (विश्वावसु) को हटाने के लिये पूजा की जाती है और यह प्रार्थना की जाती है कि वह पिता के साथ रहने वाली तथा सुव्यक्त अङ्गों वाली किसी अन्य कन्या के समीप चला जावे और नव-विवाहित कन्या को छोड़ देवे।[3] गृह्यसूत्रों में यह विधि चतुर्थी-कर्म का अङ्ग मानी गई है।[4] डा० इरावती कार्वे का विचार है कि यह गन्धर्व कोई ऐसा व्यक्ति था जिसका विवाह से पूर्व कन्या पर अधिकार होता था और सम्भवतया वह कन्या का भाई होता था। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि ऋग्वेद में मनुष्य पति से पहले कन्या के तीन (मनुष्येतर) पति सोम, गन्धर्व और अग्नि कहे गये हैं।[5] फिर, 'गन्धर्व' से भाई का अर्थ कैसे लिया जा सकता है? यदि गन्धर्व भाई है, तो सोम और अग्नि कौन हैं? इसलिये डा० कार्वे का विचार तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। वी० एम० श्रीनिवास शास्त्री[6] और श्री रघुनाथराव[7] ने विवाह-सूक्त में निर्दिष्ट सोम गन्धर्व और अग्नि की व्याख्या कन्या के शारीरिक एवम् मानसिक विकास से की है, जो ऋग्वैदिक ऋचाओं की ठीक व्याख्या प्रतीत

---

१. प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। ऋक् १०,८५,२५।

२. मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ ऋक् १०,८५,३२।

३. ऋग्वेद १०,८५,२१–२२; अथर्व० १४,२,३३–३५।

४. देखिये, *History of Dharmaśāstra,* Vol. II, pt. I, pp. 202–4.

५. सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। ऋक् १०,८५,४०।
और मिलाइये, ऋक् १०,८५,४१।

६. *Marriage After Puberty*, pp. 5—6.

७. *Aryan Marriage*, pp. 26—27.

होती है।[१] सम्भवतः गन्धर्व विश्वावसु कदाचित् वह रहस्यात्मक शक्ति (mystic power) थी जो कन्या के कौमार्य की रक्षा करती थी, जिसमें विश्वास के कारण धर्मभीरु लोग कन्या को दूषित करने से भयभीत होते थे और जिससे नव-दम्पती को निर्दिष्ट अवधि तक ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में सहायता मिलती थी। महाभारत में द्रौपदी के सतीत्व की रक्षा के लिये गन्धर्व की ही कल्पना की गई है।[२]

डा० इरावती कार्वे ने वाल्डे और पोकोर्नी के कोश के आधार पर 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति 'जम्' (विवाह करना) धातु से मानकर 'जामि' का अर्थ 'विवाह के साथी' किया है और इस आधार पर यह माना है कि मूलरूप में भाई-बहिन दोनों को 'जामि' इसलिये कहा जाता था कि उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होता था। इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'जामि' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है और उसके आधार पर इतना महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि 'जामातर्' शब्द का 'जामि' अथवा 'जम्' धातु से सादृश्य है और 'जामातर्' का सम्बन्ध विवाह से हो सकता है, परन्तु ऋग्वेद में 'जम्' धातु का 'विवाह करना' अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है।[४] ऋग्वेद में 'जामि' का अर्थ 'विवाह-साथी' नहीं हो सकता, क्योंकि ऋग्वेद के प्राचीन भाग में 'जामि' का प्रयोग ऐसे प्रसङ्गों में हुआ है जहाँ इसका अर्थ 'निकट सम्बन्धी' ही हो सकता है।[५] 'जामि' शब्द के अर्थ-विकास की दिशा—निकट सम्बन्धी > भाई, बहिन > कुल की स्त्रियाँ—यह प्रतीत होती है।

डा० सरकार ने पौराणिक साक्ष्य के आधार पर यह कहा है[६] कि प्राचीन भारत में (ऋग्वैदिक काल से पूर्व) भाई-बहिन के विवाह की प्रथा सामान्यतया प्रचलित थी और यह प्रथा सीमित रूप में ऋग्वैदिक-काल में तथा ऐतिहासिक काल में भी अवशिष्ट रह गई थी। डा० सरकार का पुराणों में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा का आधार 'पितृकन्या' शब्द है, जिसका अर्थ 'पिता की पुत्री'

---

१. मिलाइये, A. C. Dass : *Rgvedic Culture*, p. 376.

२. विराटपर्व १३,१८।

३. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 219—220.

४. देखिये, ऊपर पृ० २९६।

५. देखिये, आगे अध्याय १० अनु० ५ 'जामी'

६. *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, pp. 116—135.

अर्थात् बहिन समझा गया है। लेकिन पुराणों के यह प्रसङ्ग दैवताख्यानपरक (mythological) हैं। इनमें जिन 'पितृकन्याओं' का कथन किया गया है वे पितरों (भिन्न-भिन्न लोकों में रहने वाले भिन्न-भिन्न कोटि के पितरों) की मानसी कन्यायें मानी गई हैं।[१] इसलिये इन पौराणिक प्रसङ्गों को ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार करना और इनके आधार पर प्राचीन समाज में निकटाभिगमन की प्रथा का प्रचलन आरोपित करना न्यायसंगत नहीं है।[२] वायु-पुराण में निकटाभिगमन को नरक का हेतु कहा गया है।[३]

डा० सरकार द्वारा भाई-बहिन के विषय में ऐतरेयब्राह्मण से उद्धृत साक्ष्य के विषय में पहले कहा जा चुका है।[४] ऐतरेयब्राह्मण में पत्नी को 'अन्योदर्या' कहा गया है,[५] जिससे प्रतीत होता है कि ऐतरेयब्राह्मण के काल में पत्नी अन्य कुल से आती थी। जैमिनीयब्राह्मण में मिथुन को 'अजामि' अर्थात् सम्बन्धी से भिन्न कहा गया है।[६]

प्राचीन भारत में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा के प्रचलन में बौद्ध-साहित्य से भी उदाहरण दिये जाते हैं। दशरथ-जातक कथा के अनुसार राम और सीता भाई-बहिन थे। काशी के राजकुमार उदय ने अपनी सौतेली बहिन उदयभद्दा से विवाह किया था।[७] हिमालय में वास करने वाले ओक्काकों के पुत्रों ने भी अपनी बहिन से विवाह किया था।[८] लेकिन बौद्ध साहित्य के उदाहरण ऋग्वैदिक अथवा वैदिक आर्यों की सामाजिक प्रथा पर प्रकाश नहीं डालते हैं। कदाचित् वैदिक आर्यों के बाहर भारतीय समाज में निकट सम्बन्धियों के भी विवाह की प्रथा प्रचलित थी। बौधायन-धर्मसूत्रों में दक्षिणी भारत में मामा की लड़की से विवाह की प्रथा स्वीकार की गई है। लेकिन

---

१. मत्स्य पुराण, पितृवंशानुकीर्तन अध्याय १५ (वेङ्कटेश्वर प्रेस)।

२. मिलाइये, Kapadia (Dr.) K. M. : *Hindu Kinship*, p. 49.

३. वायु० अनुषङ्गपाद, अध्याय ३६, श्लोक १५४–५५ (राजेन्द्र लाल मित्र का संस्करण, १८८८)।

४. देखिये ऊपर, पृ० २४५।

५. ऐत० ब्रा० ३,३७।

६. अथो यद् एवाजामि तन्मिथुनं तत् प्रजननम्। जैमि० ब्रा० १,३००। (डा० लोकेश चन्द्र का संस्करण)।

७. रति लाल मेहता : *Pre-Buddhist India*, p. 278.

८. डा० कापडिया : ऊपर उद्धृत, पृ० ५० पा० टि० १५।

वैदिक ऋषियों के निकटाभिगमन के प्रति विद्वेष भाव से प्रकट है कि वैदिक आर्यों में कभी भाई-बहिन के विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी।

७. भाइयों का परस्पर व्यवहार

ऋग्वेद में यद्यपि भाई के सम्बन्ध की उद्भावना, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विशेष रूप से बहिन की अपेक्षा में हुई थी लेकिन किसी भाई का रक्षण कार्य केवल बहिन तक ही सीमित नहीं था। भाई बहिनों के समान अपने छोटे भाइयों के भी भरण-पोषण एवं रक्षण का ध्यान रखता था। ऋग्वेद के साक्ष्य से स्पष्ट है कि भाइयों में परस्पर अत्यधिक सौहार्द होता था और वे मिलकर कार्य करते थे और परस्पर एक दूसरे की सहायता करते थे। ऋग्वैदिक ऋषियों ने अनेक बार देवों के साथ अपना भाई का सम्बन्ध स्थापित किया है,[1] जिससे भाइयों की परस्पर निकटता प्रतीत होती है।

यद्यपि ऋक् १,१०९,१ में इन्द्राग्नि की स्तुति में यह कहा गया है कि इन्द्र और अग्नि के अतिरिक्त अन्य कोई सहायता करने वाला (प्रमति) नहीं है, परन्तु ऋक् से स्पष्ट है कि भाई परस्पर एक दूसरे की आर्थिक सहायता करते थे और एक भाई दूसरे भाई के पास आर्थिक सहायता के लिये जाता था।[2] एक स्थल में इन्द्र द्वारा अपने भाई बृहस्पति के पालन करने और हवि में भागी बनाने का कथन किया गया है।[3] भाई परस्पर मिलकर अपने शत्रुओं का प्रतिरोध करते थे। इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह अपने भाई (विष्णु) के बिना साथी (मरुतों) के साथ सातवें असुर (वृत्र) की मायाओं को पराभूत नहीं करता है।[4]

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ५१ की एक ऋक् में अग्नि के सम्बन्ध में एक मनोरञ्जक उपाख्यान का संकेत हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि भाई

---

१. देखिये, ऊपर पृ० २९५।

२. वि ह्यख्यं मनसा वस्य इच्छन्निन्द्राग्नी ज्ञास उत वा सजातान्।
नान्या युवत्प्रमतिरस्ति मह्यं स वां धियं वाजयन्तीमतक्षम्॥
ऋक् १,१०९,१।

३. बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्।
ऋक् ४,५०,७।

४. स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः।
ऋक् १०,९९,२।

पारस्परिक स्पर्धा से बचने का प्रयत्न करते थे और जिस कार्य में पहले कोई भाई असफल हो जाता था, दूसरा भाई उस कार्य को करने से घबराता था। जब जल में छिपे हुई अग्नि से वरुण ने प्रार्थना की कि वह देवयान मार्गों को सुलभ बनाये और देवों के लिये हवि ले जाये तो अग्नि ने उत्तर दिया : 'जैसे रथी मार्ग का वरण करता है, उसी प्रकार अग्नि के बड़े भाइयों ने इस कार्य का वरण किया है; हे वरुण, इसलिये मैं डर से दूर आ गया हूँ, और ऐसे कम्पित हो रहा हूँ जैसे साँड धनुर्धारी की पतञ्चिका से डरता है।'[1] सायण ने अग्नि के इस उत्तर की कुछ भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। उसके अनुसार अग्नि के हविर्वहन से डर कर भाग आने का कारण यह था कि हवि का वहन करते हुए उसके तीन बड़े भाई—भूपति, भुवनपति और भूतानांपति—क्रमशः नष्ट हो गये थे।[2] लेकिन भाई के वध का प्रतिशोध लेना भाई का कर्त्तव्य था।[3] भाई के प्रति किये गये पाप के लिये प्रायश्चित्त किया जाता था। एक उपासक ने वरुण से प्रार्थना की है : 'हे वरुण, हमने हितकर्ता, मित्र, सखा, भाई तथा अपने अथवा पराये पड़ौसी के प्रति जो कोई पाप किया हो, हमें उससे मुक्त करो'।[4] जिन भाइयों के सजात्य और बन्धु समान होते थे, कदाचित् उनमें परस्पर अधिक प्रेम और घनिष्ठता होती थी। एक उपासक ने अश्विनौ की इसी प्रकार की घनिष्ठता की ओर संकेत करके उन दोनों की सहायता की कामना की है।[5] यदि पिता की अनेक पत्नियाँ होती थीं तो एक

---

१. अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः।
तस्माद् भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः॥
ऋक् १०,५१,६।

२. उपाख्यान के लिये देखिये, तैत्ति० सं० २,६,६; बृहद्देवता ७,६१–८०। (बृहद्देवता में नष्ट हुई अग्नियों के नाम—वैश्वानर, गृहपति और पावक दिये हैं)।

पुराणों में सगर के पुत्रों के नाश की कथा से यह परिणाम निकाला गया है कि खोये हुए भाइयों की खोज करने के लिये नहीं जाना चाहिये (देखिये, शब्द-कल्पद्रुम 'भ्राता')।

३. ऋक् ५,३४,४; ऊपर पृ० १९५, पा० टि० १ में उद्धृत।

४. अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥
ऋक् ५,८५,७।

५. समानं वां सजात्यं समानो बन्धुरश्विना। अन्ति षद्भूतु वामवः॥
ऋक् ८,७३,१२।

माता के गर्भ से उत्पन्न भाइयों में अधिक घनिष्ठता होती थी। एक उपासक ने देवों की स्तुति में कहा है: 'हे उदार देवों, हम माता के गर्भ में हुई तुम्हारी भ्रातृता का सामान्य रूप से तथा अलग अलग कथन करते हैं।'[1] सायण के अनुसार युगलों में अधिक घनिष्ठता होती थी।[2]

साथ ही ऋग्वेद में ऐसे संकेत भी हैं जिनसे प्रतीत होता है कि भाइयों में सर्वदा ही एकता तथा पारस्परिक सहानुभूति नहीं रहती थी। उनमें जब तब संघर्ष तथा वैमनस्य भी चलता रहता था। यद्यपि ऋग्वेद में मरुतों को इन्द्र के सहायक के रूप में चित्रित किया गया है, जिस कारण इन्द्र का एक नाम 'मरुत्वत्' भी है,[3] लेकिन फिर भी एक सूक्त से ऐसा प्रतीत होता है कि अगस्त्य ऋषि द्वारा मरुतों को हवि दिये जाने के कारण इन्द्र अगस्त्य पर कुपित हो गया था। अगस्त्य ने इन्द्र को सम्बोधन करके कहा है: 'इन्द्र, तुम हमें क्यों मारना चाहते हो? मरुत् तुम्हारे भाई हैं; उनके साथ अच्छी प्रकार यज्ञ-भाग भोगो; हमें युद्ध में न मारो।'[4] एक स्थल में भाई को 'अनृजु'[5] कहा गया है तथा दूसरे स्थल में 'अभुञ्जन्'[6] कहकर उसकी निन्दा की गई है।

८. अग्रजाधिकार

प्रायः सभी समाजों में आयु के लिये कुछ मान एवम् प्रतिष्ठा पाई जाती है। अनेक समाजों में आयु के साथ कुछ अधिकार भी संलग्न होते हैं। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने ज्येष्ठ पुत्र अथवा ज्येष्ठ भाई के विशेषाधिकारों को स्वीकार किया है, लेकिन ज्येष्ठ के अधिकारों का इतिहास प्राचीन ज्ञात काल से एक समान नहीं रहा है। ज्येष्ठ के अधिकारों में कई ऊँच नीच आई हैं और भिन्न भिन्न धर्मशास्त्रकारों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था दृष्टिगत होती है।[7] ऐसा

---

१. प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या। मातुर्गर्भे भरामहे ॥
ऋक् ८,८३,८।

२. सायणभाष्य ऋक् ८,८३,८ पर।

३. Macdonell : *Vedic Mythology*, p. 57.

४. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः। ऋक् १,१७०,२।

५. मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेः। ऋक् ४,३,१३।

६. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः। ऋक् ८,१,६।

७. Sen-Gupta, N. C.: *Evolution of Ancient Indian Law*, pp. 173—77.

प्रतीत होता है कि वैदिक युग में सब स्थानों में ज्येष्ठ के अधिकार एक समान नहीं थे। ऋग्वेद-काल में ज्येष्ठ के अधिकारों के विषय में कोई स्पष्ट एवम् निश्चित संकेत नहीं है, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल के आर्य परिवारों में ज्येष्ठ के कुछ विशेषाधिकार अवश्य थे।

ऋग्वेद में बड़े भाई के लिये 'ज्येष्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है[1] अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में बड़े पुत्र को भी 'ज्येष्ठ' कहा गया है।[2] ऋग्वेदकाल में आर्यों में बड़े भाई को कुछ विषयों में प्राथमिकता दी जाती थी, इसके ऋग्वेद में कई संकेत मिलते हैं। ऋक् ४,३३,५ में ऋभुओं की ज्येष्ठता और कनिष्ठता का उल्लेख किया गया है।[3] इस ऋक् के विषय से ऐसा प्रतीत होता है कि बड़ा भाई छोटे भाइयों को कोई कार्य करने का आदेश देने का अधिकारी था और छोटे भाई उसका पालन करने को तैयार रहते थे। सायण के अनुसार ऋक् १,१६१,१ में यह चित्रित किया गया है कि अग्नि देवों का सन्देश लेकर ऋभुओं के पास पहुँचा और ऋभुओं के जैसा रूप बना लिया तो अपने सदृश चौथे को देखकर ऋभुओं को सन्देह हुआ : 'हमारे पास श्रेष्ठ (ज्येष्ठ) आया है ? या यविष्ठ (कनिष्ठ) आया है ?'[4] इससे भी यही प्रतीत होता है कि भाइयों में छोटे और बड़े के प्रति व्यवहार के पृथक्-पृथक् नैतिक आदर्श थे। देवों में इन्द्र को ज्येष्ठ कहने से भी यही प्रतीत होता है।[5] मरुतों का निषेधात्मक उदाहरण भी ज्येष्ठ भाई की प्राथमिकता को सिद्ध करता है। मरुतों की स्तुति में कहा गया है : 'इन मरुतों में न कोई ज्येष्ठ है और न कोई कनिष्ठ है, ये भाई सौभाग्य के लिए एक साथ वृद्धि को प्राप्त हुए।'[6] यहाँ यद्यपि मरुतों में छोटे-बड़े के भेद का अभाव कहा गया है, परन्तु इसमें सामान्यतया छोटे-बड़े भाइयों में भेद किये जाने का संकेत छिपा हुआ है।

कदाचित् पारिवारिक धार्मिक कृत्यों में तथा भोज आदि में बड़े भाई को प्राथमिकता दी जाती थी। एक उपासक प्रार्थना करता है : 'अदिति हमें

---

१. ऋक् ४,३३,५; १०,११,२।
२. *Vedic Index*, I, 292, 'Jyeṣṭha'.
३. ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह।
कनिष्ठ आह चतुस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद् वचो वः॥
४. किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन्। ऋक् १,१६१,१।
५. यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः। ऋक् ८,८३,९।
६. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
ऋक् ५,६०,५।

इष्ट के मध्य में स्थापित करे, हमारा मुख्य ज्येष्ठ भाई स्तुति करता है।'[१]

ऋग्वेद में इन्द्र को देवों का ज्येष्ठ भाई कहा गया है,[२] इसलिये सोम-सवन करने वाले को आदेश दिया गया है कि वह ज्येष्ठ के क्रम से इन्द्र के लिये सोम का सवन करे।[३] विवाह में कदाचित् बड़े भाई को प्राथमिकता दी जाती थी। यद्यपि ऋग्वेद में इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, लेकिन अथर्ववेद में बड़े के अविवाहित रहते हुए छोटे भाई के विवाह कर लेने पर छोटे भाई तथा पिता के पाप-मोचन के लिये मन्त्र दिया गया है,[४] इसलिये यह कल्पना की जा सकती है कि कदाचित् ऋग्वेद-काल में भी ऐसी प्रथा रही हो।

ज्येष्ठ के साम्पत्तिक एवम् दाय-सम्बन्धी अधिकारों के सम्बन्ध में ऋग्वेद-काल में कोई निश्चित प्रथा नहीं प्रतीत होती। ऋग्वेद-काल में पिता की प्रभुता (patria-potesta) की प्रबलता थी, इसलिए कदाचित् पिता अपनी इच्छा से किसी भी पुत्र को दाय का अधिकारी बना सकता था और अपनी इच्छानुसार पुत्रों में सम्पत्ति का विभाजन कर सकता था। ज्येष्ठ के साम्पत्तिक विशेषाधिकार के सम्बन्ध में ऋग्वेद से कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत वृद्ध पिता की सम्पत्ति के हरण के उल्लेख में अनेक हरण करने वालों का निर्देश हुआ है[५] और पैतृक धन के स्वामी अनेक पुत्रों की प्रार्थना की गई है।[६] सन्तानों में धन के विभाजन का वर्णन किया गया है।[७] तैत्तिरीयसंहिता में मनु द्वारा पुत्रों में दाय के विभाजन का उल्लेख हुआ है।[८] परन्तु उत्तरवर्ती संहिताओं में पैतृक सम्पत्ति में ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकारों का अत्यधिक बहुलता से उल्लेख हुआ है जिससे प्रकट है कि वैदिक आर्यों में ज्येष्ठ के कुछ विशेषाधिकार अवश्य रहे हैं।[९] अविभाज्य सम्पत्ति

---

१. इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति
ऋक् १०,११,२।

२. देखिये, ऊपर पूर्व पृष्ठ पा० टि० ५।

३. ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय। ऋक् ८,२,२३।

४. अथर्व० ६,११२,३।

५. वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त।
ऋक् १,७०,५।

६. ऋक् १,७३,९।

७. प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते। ऋक २,१३,४।

८. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। तैत्ति० सं० ३,१,९,४।

९. देखिये, ऊपर पृ० २०६ तथा आगे।

तथा पद के उत्तराधिकार में सामान्यतया ज्येष्ठ को ही प्राथमिकता देने की प्रथा थी। वैदिक काल के अन्तिम भाग में तो निश्चित रूप से सामान्यतया ज्येष्ठ को ही राजा आदि पद का उत्तराधिकारी माना जाता था और ज्येष्ठ की किसी अयोग्यता के कारण यदि दूसरा भाई अधिकारी हो जाता था तो उसे अधर्म समझा जाता था। निरुक्तकार के ज्ञात 'इतिहास' के अनुसार शन्तनु कौरव्य के राज्य में १२ वर्ष तक वर्षा न होने का कारण यह था कि उसने अपने बड़े भाई देवापि को लाँघ कर अपना अभिषेक कराया था. इस पर शन्तनु ने देवापि को राज्य देना चाहा, परन्तु देवापि ने शन्तनु का पुरोहित होकर केवल यज्ञ कराना स्वीकार किया और उन पर वर्षकामसूक्त (ऋक् १०,६८) आविर्भूत हुआ।[1] देवापि और शन्तनु का ऋग्वेद के उक्त सूक्त में उल्लेख हुआ, परन्तु ऋग्वेद में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे यह पता लगे कि वे दोनों भाई थे।[2] इसलिये निरुक्त में दिये गये आख्यान की ऋग्वेद-काल के लिये सत्यता संदिग्ध ही है।

ज्येष्ठ के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्येष्ठ कदाचित् अपने अधिकार के बल पर ही पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता था, बल्कि वह पिता के प्रतिनिधि के रूप में छोटे भाइयों के आदर का पात्र था। इस तथ्य का उद्घाटन जैमिनीयब्राह्मण तथा पञ्चविंशब्राह्मण के एक अतिमनोरञ्जक आख्यान में हुआ है।[3] 'वरुण अन्य देवों के साथ आनन्द भोगता था। उसने देवों के राज्य की कामना की। उसने प्रजापति के समीप सौ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य-वास किया। (प्रजापति ने) उसे (वरुणसाम) देकर कहा—यह मेरा रूप ही राज्य है, जाओ, देव तुम्हें राजा बनायेंगे। वरुण देवों के पास गया। उसे आता देखकर देव आदर में अपने स्थानों से नीचे उतर आये। वह देवों से बोला—नीचे न उतरो; तुम मेरे भाई हो, जैसे तुम हो, वैसा ही मैं हूं। वे बोले—नहीं, ऐसा नहीं है। जैसा हमारे पिता प्रजापति का रूप है, वैसा ही यह तुझमें देखते हैं। और वे उसके लिये नीचे उतर कर खड़े हो गये। उसके लिये यह राजा की आसन्दी (आसन, गद्दी) रक्खी और उसे इस आसन्दी पर अभिषिक्त कर दिया।'

---

१. निरुक्त २,१०; बृहद्देवता ७, १५५–५६।

२. *Vedic Index*, I, 378.

३. जैमिनीयब्राह्मण ३,१५२; पञ्चविंश ब्रा० १३,६,१२।

अध्याय ६

पति और पत्नी

पूर्व अध्यायों में पिता, माता पुत्र, पुत्री, भाई और बहिन—इन पारिवारिक सम्बन्धों का विवेचन किया जा चुका है जो एक ऐसे छोटे परिवार के सदस्यों के मध्य में होते हैं जिसमें केवल माता-पिता (parents) तथा सन्तान (children) रहते हैं। इस छोटे परिवार के दो मुख्य सदस्यों का, जो सन्तान की दष्टि में पिता और माता हैं, पति-पत्नी के रूप में भी महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होना है। ऋग्वैदिक आर्यों के समाज में पति और पत्नी का युग्म जिस परिवार का मूल स्तम्भ होता था, पति उस परिवार से प्रायः अपने जन्मकाल से ही सम्बद्ध होता था, परन्तु पत्नी उस परिवार में दूसरे परिवार से आती थी। लेकिन वह अन्य परिवार में जन्म लेने और पालन-पोषण प्राप्त करने पर भी समाज-सम्मत विधि से पति के परिवार में आकर और पति के साथ मिलकर नये परिवार को जन्म देती थी। ऋग्वैदिक समाज में माता अथवा पत्नी जिस परिवार का निर्माण करती थी, उस परिवार में वह यद्यपि अन्य परिवार से आती थी, फिर भी वह उस परिवार का अभिन्न अङ्ग हो जाती थी और अपने पैतृक परिवार से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में समाविष्ट विवाह-विधियों में वधू के औपचारिक रूप से पितृलोक से विच्छिन्न होकर पति-लोक से आबद्ध हो जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[१] यद्यपि पति और पत्नी का सम्बन्ध विवाह-जात सम्बन्ध है, तथापि पति-पत्नी का युग्म ही एकाकी परिवार का मूल आधार होता है, इसलिये छोटे ऋग्वैदिक परिवार के सदस्यों के सम्बन्धों के विवेचन में पति और पत्नी का विवेचन उपयुक्त ही है।

१. ऋग्वेद-काल में सुव्यवस्थित विवाह प्रथा

आधुनिक नृतत्त्वविद् (anthropologists) प्रत्येक नृसमाज में परिवार एवम् विवाह-प्रथा का विकास अनियमित यौन-सम्बन्ध की अवस्था (promiscuity) से मानते हैं। सम्भव है ऋग्वैदिक आर्यों के पूर्वज भी अपनी आदिम अवस्था में अनियमित यौन-सम्बन्ध की अवस्था में रहे हों, लेकिन यह अवस्था

१. ऋक् १०,८५,२३–२४; अथर्व० १४,१,१७–१८।

निश्चित रूप से इण्डो-यूरोपीय-भाषाभाषी जातियों के अलग-अलग भागों में विभक्त हो जाने से बहुत पहले रही होगी। महाभारत में समाज की ऐसी अवस्था का निर्देश किया गया है जिसमें कोई विवाह सम्बन्धी मर्यादा नहीं थी।[1] लेकिन महाभारत में समाज की ऐसी अवस्था का निर्देश तत्कालीन समाज में नियम विरुद्ध समझी जाने वाली किन्हीं घटनाओं के औचित्य की सिद्धि में अथवा निन्दा-वचनों में किया गया है, इसलिये महाभारत के ऐसे उल्लेखों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया जा सकता।[2] यदि महाभारत के वचनों पर विश्वास भी किया जा सके तो यह मानना पड़ेगा कि महाभारत अवश्य ही ऋग्वेद से प्राक्कालीन अवस्था का चित्र उपस्थित करता है, जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार है।[3] क्योंकि ऋग्वेद में ऐसा कोई भी संकेत नहीं है जिससे ऋग्वैदिक समाज में अनियमित यौन-सम्बन्धों का प्रचलन सिद्ध होता हो।[4] ऋग्वेद के प्राचीन भाग में भी घर (अस्तम्) का केन्द्र-बिन्दु पत्नी ही है। ऋषि विश्वामित्र ने सोमपान करके हर्षित हुए इन्द्र से प्रार्थना की है: 'हे इन्द्र, तुमने सोम-पान कर लिया है, तुम घर जाओ। तुम्हारे घर में कल्याणी जाया प्रतीक्षा करती है।'[5] इतना ही नहीं, ऋषि विश्वामित्र के अनुसार पत्नी ही घर है, इसलिये वह इन्द्र से प्रार्थना करता है: "मघवन्, पत्नी ही घर है वही योनि है, इसलिये रथ में जुड़े हुए घोड़े तुझे वहाँ ले जायें।'[6] एक अन्य ऋषि ने भी इन्द्र से यही प्रार्थना की है: 'हे इन्द्र, तुम अपने दोनों घोड़े जोड़ो और हवि (अन्धस्) से हर्षित होते हुए तुम अपनी प्रिय पत्नी के पास जाओ।'[7] देवों में केवल इन्द्र की ही पत्नी की कल्पना नहीं की गई है अपितु सभी

---

१. महाभारत १,११३ (पूना संस्करण)।

२. मिलाइये, Kapadia, (Dr.) K. M. : *Hindu Kinship*, pp. 51, 52.

३. A. C. Dass : *Rgvedic Culture*, p. 100.

४. वही।

५. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।
ऋक् ३,५३ ६।

६. जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु॥
ऋक् ३,५३,४।

७. तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी।
ऋक् १,८२,५। ऋक् १ ८२,६ भी देखिये।

तैंतीस देवों को पत्नीयुक्त कहा गया है ।[१] ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग मण्डल ४ में द्यावा-पृथिवी से पत्नीयुक्त विशालगृह देने की प्रार्थना की गई है ।[२] एक अन्य स्थल में अग्नि से देव-पूजक यजमानों को पत्नीयुक्त करने की कामना की गई है ।[३] ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन भागों में अनेक बार पति की कामना करने वाली वधू अथवा जाया का उल्लेख हुआ है ।[४] ऋग्वैदिक काल में विवाह एक पुरुष और एक स्त्री के मध्य होता था और सामान्यतया समाज में एक-पति-पत्नी विवाह (monogamy) की प्रथा ही प्रचलित थी ।

बहु-पत्नी विवाह (polygamy) की प्रथा के भी ऋग्वेद में कई स्पष्ट एवम् असंदिग्ध निर्देश हैं[५] और दो सूक्तों में सपत्नियों के नाश के लिये मन्त्र दिये गये हैं[६], लेकिन बहु-पत्नी विवाह की प्रथा केवल राजाओं, धनी पुरुषों तथा पुरोहितों तक ही सीमित रही होगी । ऋग्वेद में अनेक पत्नियों द्वारा पीडित पुरुष की दुर्दशा का संकेत हुआ है ।[७] एक स्थल में दो पत्नी वाले पीडित पति को दो बाँसों के बीच में रथ में जुड़े हुए घोड़े का उपमान बनाया गया है ।[८]

ऋग्वेद में कुछ स्थलों में एक स्त्री के प्रसङ्ग में अनेक पुरुषों का उल्लेख भी हुआ है ।[९] इसलिये कुछ विद्वानों का विचार है कि ऋग्वैदिक काल में बहु-

---

१. पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ।
ऋक् ३,६,९ ।

२. नू रोदसी बृहद्भिर्नो वरूथैः पत्नीवद्भिरिषयन्ती सजोषाः ।
ऋक् ४,५६,४ ।

३. तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि । ऋक् १,१४,७ ।

४. देखिये, ऋक् ४,३,२; ५,३७,३; ९,८२,४; १०,७१,४; ९१,१३ आदि ।

५. ऋक् ७,१८,२; २६,७; १०,४३,१ ।

६. ऋक् १०,१४५; १५९ ।

७. सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः । ऋक् १, १०५, ८; १०,३३,२ ।

८. उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः ।
ऋक् १०,१०१,११ ।

९. ऋक् ७,३३,१२; ८,१७,७; १०,८५,३७; ३८ ।

पति-विवाह की प्रथा भी प्रचलित रही है।[1] महाभारत से द्रौपदी के पाँच पतियों का उदाहरण दिया जाता है[2] और भारतवर्ष के कुछ स्थानों में अभी तक बहु-पति विवाह की प्रथा प्रचलित है।[3] कुछ विद्वान् प्राचीन भारत में प्रचलित नियोग[4] प्रथा का सम्बन्ध बहु-पति विवाह की प्रथा से जोड़ते हैं।[5] परन्तु अधिकतर विद्वानों ने वैदिक आर्यों में बहु-पति-विवाह की प्रथा का निषेध किया है।[6] 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों का विचार है कि नियोग प्रथा का बहु-पति प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।[7]

ऋग्वेद में मनुष्यों के प्रसङ्ग में एक पत्नी के अनेक पतियों का कोई संकेत नहीं है। डा० सरकार[8] ने ऋग्वैदिक काल में बहु-पति विवाह प्रथा सिद्ध करने के लिये ऋग्वेद के जिन प्रमाणों को उद्धृत किया है, वे सब संदिग्ध हैं और उनमें प्रायः दैवताख्यानपरक उल्लेख हैं। उषस् के दो पति अश्विनौ[9] और रोदसी के अनेक पति मरुतों[10] के उल्लेख से ऋग्वैदिक आर्यों में बहु-पति-

१. Sarkar (Dr.) S. C. : *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, pp. 78—81; Mayr : *Indisches Erbrecht* (*Vedic Index, I, 479, f n.* 50 में निर्दिष्ट)।

२. पाण्डवों को कई विद्वानों ने आर्येतर कबीले से सम्बद्ध माना है, जिनमें बहु-पति विवाह की प्रथा प्रचलित थी। (देखिये, कापडिया : पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ १०९ पादटिप्पणी ६१)।

३. देखिये, Mayne : *A Treatise on Hindu Law and Usage*, pp. 51, 52.

४. देखिये, ऊपर पृ० १८४।

५. Sarkar (Dr.) S. C. : *Op. Cit.*; p. 78; West and Bühler : *Hindu Law*, p. 419 (कापडिया : पूर्व निर्दिष्ट में पृ० १०६ पा० टि० ५५ में उद्धृत)।

६. वैदिक इण्डैक्स १,१७९, पा० टि० ५० में वेबर, जॉली, हॉपकिन्स, श्राडर, डेल्ब्रूक के ग्रन्थों को वैदिक आर्यों में नियोग प्रथा के विरोध में उद्धृत किया गया है।

७. 'The Niyoga has, of course, nothing to do with polyandry' (*Vedic Index*, I, 479 f. n. 55); मेन : पूर्व निर्दिष्ट, पृ०, ५२,५३,१९२।

८. पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ ७८–८१।

९. ऋक् १,११९,५; १०,३९,११।

१०. ऋक् १,१६७,४–६।

विवाह को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऋग्वैदिक कवियों की इन कल्पनाओं का आधार प्राकृतिक घटनायें हैं और इनके आधार पर उनकी पारिवारिक प्रथाओं के विषय में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। ऋग्वेद ८,२९,८ में जहाँ एक स्त्री के साथ दो पुरुषों के सहचरण और सहवास का उल्लेख किया गया है,[1] वहाँ भी सूर्या और अश्विनौ का ही संकेत किया गया प्रतीत होता है। डा० सरकार ने ऋग्वेद के विवाह-सूक्त की ऋक् संख्या ३७ में—'पुनः पतिभ्यो जायां दाः'—'जायाम्' एकवचन के साथ 'पतिभ्यः' बहुवचन, ऋक् संख्या ३८ में 'प्रहराम शेपम्' उत्तम पुरुष बहुवचन तथा ऋक् संख्या ४० में 'तुरीयस्ते मनुष्यजाः' में 'मनुष्यजाः' बहुवचन के प्रयोग से एक पत्नी के अनेक पतियों का निर्देश माना है। परन्तु इन स्थलों में बहुवचन के प्रयोगों का कारण वेबर (Weber) ने 'majestatis causa', ज़िमर (Zimmer) ने 'generic plural' और डेल्ब्रूक (Delbrück) ने 'mythology' बतलाया है।[2] डा० सरकार ने विवाह-सूक्त की ऋक् संख्या ४० और ४१ में जहाँ कन्या के मनुष्य पति से पहले सोम, गन्धर्व और अग्नि तीन दिव्य पतियों का उल्लेख किया गया है, उसे पूर्व काल की प्रचलित बहु-पति-विवाह प्रथा का अवशेष कहा है, जिसे बहु-पति-विवाह की प्रथा के शनैः शनैः लुप्त हो जाने पर प्रतीक (allegory) का रूप दे दिया गया है।[3] लेकिन डा० सरकार के इस कथन की पुष्टि के लिये कोई आधार नहीं खोजा जा सकता। विवाह-सूक्त की ऋक् संख्या ४४ के 'वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे' में 'देवृकामा' (देवर की कामना करने वाली) में भी डा० सरकार को वधू के देवरों के साथ यौन-सम्बन्धों की झलक दिखलाई देती है। इस ऋक् में 'देवृकामा' का अर्थ 'देवर से यौन-सम्बन्ध की इच्छा करने वाली', जैसा कि डा० सरकार ने समझा है,[4] सम्भव नहीं है, क्योंकि ऋक् संख्या ४६ में वधू को 'देवरों पर शासन करने वाली' कहा गया है।[5] यदि देवरों का भी

---

१. विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः।

२. डा० सरकार : पूर्वनिर्दिष्ट पृ० ८०, पा० टि० ६।

३. 'All that is said about the three previous husbands of every bride, in the marriage hymns and elsewhere, is best understood as relic of a gradually disused custom of polyandry which was transformed into an allegory.' (*Op. Cit.* p. 80).

४. वही. पृ० ७९—'desiring union with brothers-in-law.'

५. सम्राज्ञी अधि देवृषु। ऋक् १०,८५,४६।

पति के समान अधिकार होता तो जैसे ऋग्वेद में जाया पति की आज्ञाकारी और प्रिय चित्रित की गई है, वैसे ही देवरों के प्रति भी की जाती, लेकिन ऋग्वेद में देवरों के प्रति स्त्री के ऐसे कर्त्तव्यों का संकेत नहीं है। आश्वलायन-गृह्यसूत्र ४,२,१८ भी देवर, शिष्य अथवा वृद्ध दास द्वारा विधवा को अपनी पत्नी बना लेने की सिद्धि में निश्चित एवम् असंदिग्ध प्रमाण नहीं है। आश्वलायनगृह्यसूत्र के इस प्रसङ्ग में पति-शोक में विधुर पत्नी को विधवा के पति के छोटे भाई अथवा शिष्य अथवा वृद्ध दास द्वारा सान्त्वना देकर घर ले आने का उल्लेख हो सकता है।[1] ऐतरेय तथा गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से स्त्री के अनेक पति होने का निषेध किया गया है। यज्ञ-प्रक्रिया के प्रसङ्ग में कहा गया है कि एक पुरुष के एक से अधिक स्त्रियाँ होती हैं, लेकिन एक स्त्री के एक से अधिक पति नहीं होते।[2]

डा० इरावती कार्वे ने ऋग्वेद-काल में एक अन्य प्रकार की बहु-पति-विवाह की प्रथा की कल्पना की है।[3] इसके अनुसार वैदिक काल मे केवल बड़े भाई का विवाह होता था और वही सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होता था, छोटे भाइयों को बड़े भाई की पत्नी पर यौन अधिकार प्राप्त थे और यदि छोटा भाई विवाह करता था तो वह बड़े भाई के विरुद्ध पाप करता था।[4] लेकिन डा० इरावती कार्वे ने अपनी कल्पना की पुष्टि में जो वैदिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, वह इस कल्पना को असंदिग्ध रूप से पुष्ट नहीं करते। यह सत्य है कि अथर्ववेद में बड़े भाई से पहले छोटे भाई के विवाह करने को पाप समझा गया है,[5] लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि केवल

---

१. डा० सरकार ने वैदिक आर्यों में बहु-पति-विवाह की प्रथा सिद्ध करने में अत्यधिक उत्साह से काम लिया है, जो इस बात से प्रकट है कि उन्होंने आश्वलायनगृह्यसूत्र के उक्त स्थल में 'जरद्दास' के स्थान पर 'जार-दास' पाठान्तर का सुझाव दिया है और यह माना है कि बूढ़ा नौकर भी अपनी विधवा स्वामिनी से विवाह कर लेता था। (देखिये, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७६ पादटिप्पणी ७)।

२. ऐतरेयब्राह्मण ३,२३; गोपथ ब्रा० उत्तरभाग ३,२०।

३. *A. B. O. R. I*, XX, p. 223–229.

४. *Ibid*, p. 223—"The younger brothers were allowed access to the wife or wives of the eldest brother, and if a younger brother married, he sinned against the elder brother."

५. अथर्व० ६,११२,३।

बड़ा ही भाई विवाह कर सकता था। अथर्ववेद के इस मन्त्र में जिसके पाप की मुक्ति की बात कही गई है, वह छोटा भाई नहीं है[1] बल्कि बड़ा भाई है और सम्भवतया वह पाप जिससे मुक्ति के लिये प्रार्थना की गई है, कन्या पक्ष की वे आशङ्कायें हैं जिनके कारण छोटे भाई का पहले विवाह हो जाने पर बड़े भाई के विवाह में कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ऋग्वेद में छोटे भाई की पत्नी की अपेक्षा में बड़े भाई के सम्बन्ध के वाचक शब्द का अभाव भी कोई दृढ हेतु नहीं है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में पति के बड़े भाई के लिये प्रयुक्त 'जेठ' के समानप्रभव शब्दों में ऋग्वेद में बड़े भाई के लिए प्रयुक्त 'ज्येष्ठ' शब्द का अर्थ-संकोच[2] (Contraction of meaning) मात्र है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में 'वर' शब्द का अर्थ 'वरण करने वाला' है, दुल्हा (bridegroom) नहीं। ऋग्वेद में दुल्हे को 'वधूयु' कहा गया है।[3] किसी पुरुष की ओर से कन्यापक्ष से बातचीत चलाने वाले को 'वर' कहा जाता था। सूर्या का 'वधूयु' सोम था और अश्विनौ 'वरा' (वरौ) थे।[4] कदाचित् विवाह-यात्रा में 'वधूयु' के साथ जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को 'वर' कहा जाता था और उनमें जो मुख्य होता था, जो प्रायः 'वधूयु' का पिता या कुल का कोई वृद्ध पुरुष होता था, 'ज्येष्ठ वर' कहलाता था और वह वर-पक्ष की ओर से विवाह में किया जाने वाला लेना-देना करता था।[5] इसलिये अथर्ववेद ११,८,१–२ में 'वराः' में 'दुल्हे' और 'ज्येष्ठवरः' में 'सब में बड़ा दुल्हा' अर्थ देखना ठीक नहीं है, जैसा कि डा० इरावती कार्वे ने किया है।[6] अथर्ववेद के इस स्थल में स्पष्ट रूप से 'संकल्प' के गृह से 'जाया' लाने वाला अर्थात् दुल्हा 'मन्यु' कहा गया है।[7] ऋग्वेद-काल में केवल ज्येष्ठ भाई के विवाह का

---

१. यजुर्वेद की संहिताओं में बड़े भाई को 'परिवित्त' और छोटे भाई को 'परिविविदान' कहा गया है (देखिये, *Vedic Index*, I, 496)।

२. यदि कोई शब्द अपने अर्थों में से केवल किसी विशिष्ट अर्थ में सीमित हो जाता है तो इसे भाषा-विज्ञान में अर्थ-संकोच (Contraction of meaning) कहा जाता है।

३. ऋक् १०,८५,९।

४. सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। ऋक् १०,८५,९।

५. कुछ स्थानों में अब भी बारात में "बड़े' माने जाने वाले बाराती को कन्या-पक्ष की ओर से 'सरदारी' का 'रुपया' दिये जाने की प्रथा है।

६. *A. B. O. R. I*, XX, p. 120.

७. यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।

अधिकारी होने का मत ऋग्वेद के अन्य प्रसङ्गों के विरोध में भी पड़ता है। ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवों में भाई का सम्बन्ध स्थापित किया गया है, लेकिन उनकी अलग अलग पत्नियों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं।[१] ऋग्वेद में इन्द्र को देवों में ज्येष्ठ कहा गया है,[२] लेकिन इन्द्र के भाई के पुत्रों का भी उल्लेख हुआ है।[३]

डा० इरावती कार्वे ने आपस्तम्बधर्मसूत्र (२,२७,३)—कन्या कुलायैव दीयते—से यह परिणाम निकाला है कि वधू पर कुल के प्रत्येक व्यक्ति को यौन-अधिकार प्राप्त थे।[४] लेकिन आपस्तम्बधर्मसूत्र में उपर्युक्त वचन नियोग को सपिण्डों तक सीमित रखने के लिये हेतु रूप में कहा गया है, इसलिये इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वधू पर सभी भाइयों का यौन-अधिकार होता था।[५]

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ऐसा उदाहरण जिसे भाई की पत्नी पर छोटे भाई के यौन-अधिकारों की सिद्धि में उद्धृत किया जा सकता है, केवल ममता का है, जिसका बृहद्देवता में उल्लेख हुआ है।[६] लेकिन बृहद्देवता के इस एक उदाहरण से वैदिक समाज में इस प्रथा का प्रचलन नहीं माना जा सकता। क्योंकि स्वयं बृहद्देवता ६,३५–३९ में वर्णित एक अन्य आख्यान से प्रतीत होता है कि पत्नी के साथ छोटे भाई के यौन-सम्बन्ध को पाप समझा जाता था। 'देवृ-प्रथा' (levirate) भी इस दिशा में संकेत करती है कि सब भाइयों का एक स्त्री पर पत्नी के रूप में अधिकार नहीं था। क्योंकि यदि कोई स्त्री सब भाइयों की साधारण (common) पत्नी हो तो जब तक एक भी भाई जीवित है, तब तक वह विधवा नहीं हो सकती। फिर, ऋग्वेद के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि विधवा और देवर के प्रेम-व्यवहार में देवर अपने अधिकारों

---

१. ऋक् ५,४६,८।

२. ऋक् ८,८३,९।

३. उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान्मघवन्तित्विषाणः।
ऋक् १०,५५,१।

४. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 224.

५. मिलाइये, Meyer, J. J.: *Sexual Life in Ancient India*, p. 171, f. n. 2.

६. बृहद्देवता ४,११–१४। आख्यान का यह भाग केवल 'दीर्घतमस्' की व्याख्या के लिये कल्पित किया गया प्रतीत होता है।

का प्रयोग नहीं करता था, अपितु विधवा ही पहल करके देवर को अपनी ओर आकृष्ट करती थी।[१]

ऋग्वेद-काल में सम्भवतः प्रत्येक पुरुष का विवाहित होना अनिवार्य था। जैसे अविवाहित कन्या के 'अग्रू', पितृषद्' और 'अमाजुर्' नाम पड़ जाते थे, इसी तरह अविवाहित पुरुष को भी 'अग्रु' कहा जाता था।[२] ऋग्वेद में 'अग्रु' को 'जनि' की कामना करते पाया जाता है।[३] अविवाहित पुरुष को सम्भवतया बूढ़ा होने पर भी बच्चा कहा जाता था। ऋग्वेद में अपत्नीक पुरुषों को पत्नी प्राप्त करा देना इन्द्र का महान् अनुग्रह कहा गया है और इसके लिये इन्द्र की प्रशंसा की गई : 'हे इन्द्र, कोई अन्य तुझसे अधिक उदार नहीं है, तूने पत्नी-रहित पुरुषों (अमेनान्) को भी पत्नी वाला (जनिवतः) कर दिया।'[४]

२. पति के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

ऋग्वेद में विवाह और वधू आदि के प्रसङ्ग में पुरुष के लिये अनेक शब्दों— जार, मर्य, जनिधा, जनिवत्, वर, वरेयु, वधूयु, दिधिषु, हस्तग्राभ, भर्ता तथा पति—का प्रयोग हुआ है, लेकिन वस्तुतः इन शब्दों में से सम्बन्ध के वाचक केवल अन्तिम दो शब्द हैं।

(अ) जार—ऋग्वेद में 'जार' का प्रयोग 'कना' और 'योषा' के साथ हुआ है।[५] 'जार' का अर्थ प्रेमी है। लेकिन ऋग्वेद-काल में इसका उत्तरकाल में पाया जाने वाला 'उपपति' अर्थ नहीं है, न ही इसका बुरे अर्थ में प्रयोग है, क्योंकि देवों को भी 'जार' कहा गया है।[६] एक स्थल में अग्नि को प्राचीन ऋत्विक् तथा अध्वर का जार कहा गया है।[७] 'जार' शब्द के साथ कदाचित् यौन-सम्बन्धों का भाव संलग्न नहीं था, लेकिन कन्या और उसके जार में अवैध यौन-सम्बन्धों की सम्भावना को सर्वथा असम्भव नहीं कहा जा सकता

---

१. को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्। ऋक् १०,४०,२।

२. ऋक् ५,४४,७ में 'अग्रु' को 'जनिवत्' के विकल्प में रक्खा गया है।

३. जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः। ऋक् ७,९६,४।

४. न हि त्वदिन्द्र वस्योऽन्यदस्त्यमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ।
ऋक् ५,३१,२।

५. ऋक् १,६६,८; १५२,४; ९,३२,५; ५६,३। आदि।

६. ऋक् ७,९,१

७. प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम्। ऋक् १०,७,५।

है क्योंकि ऋग्वेद में 'अग्रू' के पुत्र का उल्लेख हुआ है।[1] ऋग्वेद में 'जार' का प्रयोग 'पति' के विरोध में हुआ है अर्थात् विवाहित स्त्री (जनि) के साथ 'पति' का और अविवाहित 'कना' अथवा 'कनी' के साथ 'जार' का। इसलिये 'जार' का अर्थ पति नहीं है। विवाहित स्त्री के प्रसङ्ग में केवल एक बार 'जार' का प्रयोग हुआ है[2] और वह भी पति शब्द के साथ। ऋग्वेद में एक बार स्त्रीलिङ्ग 'जारिणी' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[3]

(आ) मर्य—युवति स्त्री के प्रसङ्ग में पुरुष के लिये प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द 'मर्य' है। 'मर्य' का अर्थ प्रेमी है।[4] 'जार' के विपरीत 'मर्य' विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार की युवतियों के प्रसङ्ग में प्रयुक्त हुआ हैं। कुछ स्थानों में इसका 'वधूयु' (दुल्हा) अर्थ भी प्रतीत होता है। उपस् का अनुवर्तन करने वाले सूर्य की युवति का अनुसरण करने वाले 'मर्य' से उपमा दी गई है।[5] सोम-कलश में जलों से मिलने के लिये बहते हुए सोम को युवतियों से मिलने के लिये आतुर 'मर्य' के समान कहा गया है।[6] इसी तरह सोम को 'मर्य' के समान भूषित होने वाला कहा गया है।[7] अग्नि को भी 'मर्यश्री' कहा गया है।[8] इन स्थलों में विवाह यात्रा के समय सुन्दर आभूषणों एवम् वस्त्रों से अलङ्कृत दुल्हे का संकेत प्रतीत होता है। 'मर्य' शब्द का ऋग्वेद

१. ऋक् ४,१६,६; ३०,१६।

२. यस्ते भ्राता पतिर्भुत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। ऋक् १०,१६२,५।

३. न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।
ऋक् १०,३४,५।

४. निरुक्तकार ने 'मर्य' की व्याख्या 'मरणधर्मा' से की है—मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा (३,१५)। लेकिन 'सेण्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन' में $\sqrt{\text{मर्}}$ (प्रेम करना) धातु से निष्पन्न माना है, ऋग्वेद के साक्ष्य से पिछला अर्थ ही उचित प्रतीत होता है।

५. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
ऋक् १,११५,२।

६. मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा।
ऋक् ९,८६,१६।

७. मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानः। ऋक् ९,९६,२०।

८. मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निः। ऋक् २,१०,५।

में 'वधूयु'[1] तथा 'पति'[2] शब्द के साथ-साथ भी प्रयोग हुआ है, जहाँ 'मर्य' का उनके पर्यायवाची के रूप में प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। ऋक् १०,४०,२ में 'मर्य' का अर्थ पति प्रतीत होता है।[3]

(इ) **जनिधा, जनिवत्**—पुरुष के लिये, विशेषतः विवाहित और सस्त्रीक पुरुष के लिये प्रयुक्त 'जनिधा' और 'जनिवत्' शब्द 'जनि' (स्त्री या पत्नी) से निष्पन्न हैं। इनका 'अग्रु' (अविवाहित) और 'अमेना' (स्त्री-रहित) से विरुद्ध अर्थ है। ऋग्वेद में 'जनिवत्' का प्रयोग कई बार हुआ है।[4] 'जनिधा' का प्रयोग केवल एक बार हुआ है जहाँ इसका अर्थ दुल्हा अथवा पति प्रतीत होता है। इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा गया है: 'उन धनी पुरुषों को धन प्राप्त कराओ जिन्होंने पतियों के समान इस (इन्द्र) की इच्छा को पूर्ण किया है।'[5]

(ई) **वर, वरेयु**—'वर' और 'वरेयु' शब्द √वृ (वरण करना) धातु से निष्पन्न हैं। ऋग्वेद में इनका 'वरण करने वाला' अर्थ में प्रयोग हुआ है। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रारम्भ में कदाचित् विवाहेच्छुक युवा पुरुष के पक्ष के उन व्यक्तियों को जो कन्या की माँग करने तथा उसके साथ विवाह के समय कन्या के घर जाते थे, 'वर' कहा जाता था, लेकिन बाद में 'वधूयु' को भी 'वर' कहा जाने लगा। उत्तरवर्ती साहित्य में 'वर' का प्रयोग प्रायः 'दुल्हे' के अर्थ में हुआ है। 'वधूयु' को 'वर' कहने का कारण कदाचित् यह रहा हो कि अन्य किसी विश्वसनीय मित्र अथवा सम्बन्धी के अभाव में विवाहेच्छुक व्यक्ति स्वयं कन्या की माँग करने जाता हो। डा० इरावती कार्वे का विचार है कि इस शब्द का प्रयोग बारात के अविवाहित युवा पुरुषों के लिये होता था।[6] परन्तु 'वर' को अविवाहित बाराती के अर्थ में सीमित मानने के लिये कोई आधार नहीं है।[7] ऋग्वेद में 'वर' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ

१. ऋक् १०,२७,१२।
२. ऋक् १०,४३,१।
३. मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।
४. ऋक् ५,३१,२; ४४,७।
५. प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन्।
ऋक् १०,२९,५।
६. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 120.
७. देखिये, ऊपर पृ० ३३४।

है।[1] 'वरेयु' शब्द का प्रयोग केवल एक बार हुआ है।[2] ऋग्वेद में कई बार मरुतों के प्रसाधन करने की उपमा 'वरा':[3] और 'वरेयवः'[4] से दी गई है।[5]

(उ) **वधूयु**—नव-विवाहित अथवा विवाह के इच्छुक पुरुष के लिये प्रयुक्त होने वाले शब्दों में 'वधूयु' शब्द ऐसा है जिसका अर्थ सर्वाधिक निश्चित है। 'वधूयु' का प्रयोग निश्चित रूप से दुल्हे के लिये हुआ है। सूर्या-सूक्त में सोम को वधूयु' कहा गया है।[6] 'मर्य' अथवा 'वर' शब्द के समान इसका बहुवचन में प्रयोग नहीं हुआ है, इसका प्रयोग केवल एकवचन में और प्रायः मनुष्यों के सम्बन्ध में हुआ है। देवों के प्रसङ्ग में केवल एक बार सोम पवमान[7] को तथा एक बार सोम[8] को वधूयु कहा गया है, लेकिन इन दोनों स्थलों में भी 'वधूयु' के अर्थ के विषय में कोई अनिश्चितता नहीं है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह स्तोता के पुरोडाश और स्तुति का ऐसे सेवन करे जैसे वधूयु युवति (योषणा) का सेवन करता है।[9] पूषा से भी ऐसी ही प्रार्थना की गई है।[10]

(ऊ) **दिधिषु**—प्रेमी अथवा विवाह के इच्छुक पुरुष के लिये प्रयुक्त होने वाला एक अन्य शब्द 'दिधिषु' है। यह शब्द 'जनिधा' में देखी जाने वाली √धा (धारण करना, रखना, प्राप्त करना) धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'भरण-पोषण अथवा प्राप्त करने का

---

१. ऋक् १,८३,२; ५,६०,४; ६,१०१,१४; १०,८५,८; ६।

२. ऋक् १०,७८,४।

३. वरा इवेद्रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे।

ऋक् ५,६०,४।

४. वरेयवो न मर्या घृतपुषः। ऋक् १०,७८,४।

५. खड़ी-बोली के मुहावरे में बने-ठने व्यक्ति को 'बराती-सा' कहा जाता है।

६. ऋक् १०,८५,६।

७. ऋक् ६,६६,३।

८. ऊपर पा० टि० ६ में निर्दिष्ट।

६. पुरोळाशं च नो घसो जोपयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम्।

ऋक् ३,५२,३; ४,३२,१६।

१०. तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीमवा धियम्। वधयुरिव योषणाम्।

ऋक् ३,६२,८।

इच्छुक' हो सकता है। 'दिधिषु' शब्द के ऋग्वेद में हुए प्रयोगों से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल में 'दिधिषु' का उत्तरवर्ती साहित्य में पाया जाने वाला अर्थ (पुनर्विवाहिता का द्वितीय पति) विकसित नहीं हुआ था, क्योंकि ऋग्वेद में उन सब स्थलों में जहाँ इस शब्द का प्रयोग हुआ है, धात्वर्थ से ही अर्थ की सङ्गति बैठ जाती है। ऋग्वेद ६,५५,५ में पूषन् देव को माता का दिधिषु कहा गया है।[1] ऋक् १०,७८,५ में मरुतों को दिधिषु (प्राप्त करने के लिये इच्छुक) के समान कहा गया है।[2] ऋग्वेद १,७१,३ में सम्भवतः उषस् को दिधिषु कहा गया है। इन स्थलों में विधवा अथवा पूर्व-विवाहित स्त्री का पति अर्थ सम्भव नहीं है। केवल एक स्थल (ऋक् १०,१८,८) ऐसा है, जहाँ 'दिधिषु' का अर्थ 'पूर्व-विवाहिता का पति' हो सकता है। यहाँ प्रायः ऋग्वेद के आधुनिक भाषान्तरकारों ने 'दिधिषु' शब्द से मृत व्यक्ति के उस सम्बन्धी का संकेत समझा है, जो विधवा को मृत के समीप से हाथ पकड़कर उठाता है।[3] ऋक् इस प्रकार है :

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥

'हे नारी, उठो जीव लोक में जाओ, तुम इस मृत के समीप लेटी हो, आओ। हाथ पकड़ने वाले, प्राप्त करने की इच्छा वाले तेरे पति का यह 'जनित्व' (पत्नी का कर्त्तव्य) प्राप्त हो चुका है।'

लेकिन इस ऋक् में 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः तव पत्युः' से उसके मृत पति का भी संकेत हो सकता है।[4] ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि 'दिधिषु' का 'विधवा अथवा पूर्व-विवाहित स्त्री का पति' अर्थ तब विकसित हुआ हो जब कि विधवा-विवाह अथवा विवाहित के पुनर्विवाह को हीन-दृष्टि से देखा जाने लगा हो। काठक तथा कपिष्ठल संहिताओं में तथा आपस्तम्ब, गौतम और वासिष्ठ धर्मसूत्रों में 'दिधिषूपति' को पापी जनों की सूची में रखा गया है।[5] यहाँ 'दिधिषूपति'

१. मातुर्दिधिषुमब्रवम्।

२. दिधिषवो न रथ्यः सुदानवः।

३. *Vedic Index*, I, 359.

४. **मिलाइये,** सायणभाष्य—'हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतः दिधिषोः गर्भस्य निधातुः तव अस्य पत्युः सम्बन्धादागतम् इदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य सं बभूथ संभूतासि अनुमरणनिश्चयमकार्षीः।'

५. *Vedic Index*, I, 360.

का अर्थ 'विधवा का पति'[1] अथवा 'विधवा के प्रति कामराग से प्रेरित होकर सन्तानोत्पादन के लिये उससे विवाह करने वाला देवर'[2] अथवा 'जिसकी छोटी बहिन पहले विवाह कर चुकी है, ऐसी बड़ी बहिन का पति'[3] समझा गया है। यदि इन उत्तरवर्ती परम्पराओं में 'दिधिषु' शब्द के अर्थ को ठीक-ठीक समझा गया हो और जिसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है तो विवाह के प्रसङ्ग में दिधिषु का अर्थ 'पत्नी अथवा पति प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला पुरुष अथवा स्त्री' है। साधारणतया किसी विवाह-सम्बन्ध के निश्चित होने में पहल पुरुष की ओर से होती थी, इसलिये उसे 'दिधिषु' कहा जाता था। परन्तु विधवा को अथवा छोटी बहिन के पहिले विवाह कर लेने पर बड़ी बहिन को स्वयं पहल करनी होती थी, इसलिये उन्हें भी 'दिधिषु' अथवा 'दिधिषू' कहा जाता था।

(ए) हस्तग्राभ—विवाह-संस्कार में वधू का हाथ पकड़ना विधि का प्रधान अङ्ग था,[4] लौकिक संस्कृत में विवाह-संस्कार का नाम ही पाणि-ग्रहण पड़ गया है, इसलिये पति को 'हस्तग्राभ' भी कहा गया है। ऋग्वेद में इस शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है,[5] लेकिन वहाँ भी 'पति' के विशेषण के रूप में।

(ऐ) प्रिय—ऋग्वेद में एक बार 'प्रिय' शब्द का भी पति के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[6] यह शब्द √प्री (प्रसन्न करना) धातु से निष्पन्न है और लौकिक संस्कृत में पति के लिये इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है।

(ओ) भर्तर् (भर्तृ)—'भर्तर्' शब्द 'भरण करना' अर्थ की √भर् (भृ) धातु से निष्पन्न है। लौकिक संस्कृत में पति के लिये इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है,

---

१. सेण्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन।

२. मनुस्मृति ३,१७३।

३. लौगाक्षि, कुल्लूक द्वारा मनुस्मृति ३,१६० की टीका में उद्धृत। (वैदिक इण्डैक्स, १,३६० पा० टि० ६ में निर्दिष्ट)।

४. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
ऋक् १०,८५,३६।

५. ऋक् १०,१८,८ (ऊपर पृ० ३४० पर उद्धृत)।

६. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यताम्। ऋक १०,८५,२७।

परन्तु ऋग्वेद में पति के अर्थ में इसका केवल एक बार प्रयोग हुआ है।[१] डेल्ब्रूक ने यहाँ भी 'भर्तर्' का पिता अर्थ होने की सम्भावना प्रकट की है,[२] क्योंकि अथर्ववेद तथा तैत्तिरीयब्राह्मण में स्त्रीलिङ्ग 'भर्त्री' शब्द का माता के लिये प्रयोग हुआ है।[३]

(औ) **पति**—ऋग्वेद तथा उत्तरवर्ती वैदिक एवम् लौकिक साहित्य में पति के लिये सर्वाधिक प्रचलित शब्द 'पति' है। यह शब्द इण्डो-यूरोपीय काल से ही प्रचलित है।[४] वस्तुतः ऋग्वेद में निश्चित रूप से पति के लिये प्रयुक्त सम्बन्धवाचक केवल एक यही शब्द है। यास्काचार्य ने 'वनस्पति' की निरुक्ति करते हुए 'पति' शब्द को √पा (रक्षा करना) धातु से निष्पन्न माना है[५] और 'पति' की 'पालयिता' से व्याख्या की है।[६] ऋग्वेद में 'पति' का अर्थ स्वामी, शासक अथवा पति है। ऋग्वेद में 'पति' शब्द का प्रयोग अनेक ऐसे प्रसङ्गों में हुआ है, जहाँ स्पष्ट रूप से 'पति' सम्बन्धवाचक पद (kinship term) नहीं है, बल्कि उसका अर्थ केवल स्वामी या शासक है। उदाहरणार्थ,

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।

ऋक् १,१०१,५।

'जो (इन्द्र) सम्पूर्ण चेतन जगत् का स्वामी है और जिसने सर्वप्रथम ब्राह्मण के लिये गायें प्राप्त कीं।'

क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्तु। ऋक् ४,५७,३।

'क्षेत्र का पति (अधिष्ठाता देव) हमारे लिये मधुमान् होवे।'

इसी तरह अन्य देवों को भी धन अथवा संसार का स्वामी (पति) कहा गया है। इन प्रसङ्गों में 'पति' का अर्थ स्वामी अथवा शासक है। परन्तु दूसरी प्रकार के प्रसङ्गों में जहाँ 'पति' शब्द का 'वधू', 'जाया' अथवा किसी अन्य

---

१. प्रथिष्ट यामन्पृथिवी चिदेषां भर्तेव गर्भं स्वमिच्छवो धुः।

ऋक् ५,५८,७।

२. *Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen*, 415, f. n. 1. (वैदिक इण्डैक्स २,९९ पा० टि० ३ में निर्दिष्ट)।

३. अथर्व० ५,५,२; तैत्ति० ब्रा० ३,१,१,४।

४. देखिये, ऊपर पृ० ५७।

५. 'वनस्पत इत्येनमाहैष हि वनानां पाता वा पालयिता वा'।

निरुक्त ८,३।

६. 'पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम्।' निरुक्त १०,२१।

स्त्रीवाचक शब्द के साथ प्रयोग हुआ है, वहाँ इसका अर्थ निश्चित रूप से पति (husband) है। उदाहरणार्थ,

घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्।

ऋक् १,११७,७।

'अश्विनौ ने पिता के साथ रहने वाली, (पिता के) घर में वृद्ध हुई घोषा के लिये पति दिया।'

इस तथा ऐसे ही अन्य[1] प्रसङ्गों में 'पति' सम्बन्धवाचक पद (kinship term) के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

३. वधू अथवा पत्नी के वाचक शब्द और उनका प्रयोग

ऋग्वेद में विवाह अथवा वधू आदि की अपेक्षा में पुरुष के वाचक शब्दों की जैसी बहुलता है, वैसी ही स्त्री के वाचक शब्दों की भी है। ऋग्वेद में प्रेमी अथवा पति की अपेक्षा में स्त्री को वधू, जनि, जनी, जानि, योषा, ग्ना, मेना, पत्नी तथा जाया आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। इनमें से विवाह-विधि के प्रसङ्ग में केवल 'वधू' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिये ऋग्वेद में जहाँ विवाह-विधि के प्रसङ्ग में पुरुष के लिये मर्य, वर, दिधिषु, हस्तग्राभ आदि अनेक शब्द हैं, वहाँ स्त्री के लिये केवल एक 'वधू' शब्द है। इसके विपरीत ऋग्वेद में विवाहित पुरुष के लिये अपनी विवाहित स्त्री की अपेक्षा में केवल एक शब्द 'पति' है, परन्तु विवाहित स्त्री के लिये अपने विवाहित पुरुष की अपेक्षा में चार—जनि (अथवा जनी अथवा जानि), जाया, मेना और पत्नी—शब्द हैं। नीचे इन शब्दों पर एक-एक करके विचार किया जायेगा।

(अ) वधू—ऋग्वेद में और उत्तरवर्ती साहित्य में 'वधू' शब्द का प्रयोग बहुलता से हुआ है। डेल्ब्रूक के अनुसार विवाहित अथवा पति की कामना करने वाली स्त्री को अथवा विवाह-विधि में दुल्हन को 'वधू' कहा जाता है।[2] ऋग्वेद में 'वधू' शब्द के इन सब अर्थों में प्रयोग मिलते हैं। निम्न ऋक् में 'वधू' शब्द का विवाहित स्त्री अर्थात पत्नी अर्थ प्रतीत होता है।

पतिर्यद् वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते। ऋक् १०,८५,३०।

'जब पति वधू के वस्त्र से अपने शरीर को आच्छादित करना चाहता है।'

निम्न ऋक् में 'वधू' शब्द का प्रयोग विवाह की इच्छुक युवति के लिये

---

१. ऋक् ४,३,२; ४३,३६; ५,३७,३।

२. *Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen,* 414,439. (*Vedic Index,* II, 239 में निर्दिष्ट)।

हुआ प्रतीत होता है :

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ।

ऋक् १०,२७,१२ ।

'जो युवति कल्याणी एवम् सुन्दर अवयवों वाली होती है, वह स्वयं लोगों में से अपना मित्र चुन लेती है ।'

निम्न ऋक् में 'वधू' शब्द का प्रयोग दुल्हन के लिये हुआ प्रतीत होता है :

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन । ऋक् १०,८५,३३ ।

'यह वधू सुमङ्गली है, इसके समीप एकत्रित होकर आओ और इसे देखो। इसके लिये सौभाग्य देकर फिर अलग-अलग अपने घर चले जाओ ।'[1]

'वधू' शब्द √वध् (√वह्, ले जाना) धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है,[2] इसलिये 'वधू' का अर्थ 'वह स्त्री जिसे कुल में लाया जाये' है। कुछ लोग 'वधू' की निष्पत्ति √बन्ध् धातु से करते हैं।[3] सम्भवत: 'वधू' शब्द का सम्बन्ध इण्डो-यूरोपीय धातु *ved अथवा *vedh से हो जिससे प्रा० उ० ज०–widumo (वधू-शुल्क); एंग्लो-सेक्सन—weotuma; लिथुआनियन—wedu; प्राचीन रशियन—vodite; vodimaja (पत्नी) आदि शब्दों का सम्बन्ध है।[4] कोई स्त्री कुल में लाई जाने के कारण वधू कहलाती थी। लौकिक संस्कृत में तथा आधुनिक बोलियों में केवल दुल्हन को ही 'वधू' नहीं कहते, बल्कि पुत्र या पौत्र की पत्नी को भी 'वधू' कहा जाता है। कोई स्त्री अपने पति के कुल की 'वधू' कही जाती है।[5] ऋग्वेद में इस अर्थ में 'वधू' शब्द के प्रयोग के कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं हैं।

(आ) जनि, जनी, जानि, जाया—पति की अपेक्षा में उसकी विवाहित स्त्री के लिये प्रयुक्त ये शब्द √जन् (उत्पन्न करना) धातु से निष्पन्न प्रतीत

---

१. मानव-गृह्यसूत्र १,१२,१ के अनुसार इस ऋक् में वसति में वधू को देखने के लिये लोगों को आमन्त्रित किया गया है।

२. Monier-Williams : *Sanskrit-English Dictionary*, 'वधू'; मिलाइये, *Vedic Index*, II, 239.

३. देखिये, मॉनेर विलियम्स् : पूर्व निर्दिष्ट ।

४. देखिये, *E. R. E.*, V, 750.

५. तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च । उत्तररामचरित, १,९ ।

होते हैं। ऋग्वेद में 'जनि' अथवा 'जनी' शब्द का प्रयोग प्रायः पत्नी के अर्थ में हुआ है,[1] लेकिन कुछ स्थलों में सामान्य स्त्री अर्थ भी प्रतीत होता है। 'जनि' का 'कना' के विरुद्ध विवाहित और वयस्क स्त्री के अर्थ में प्रयोग हुआ है। देव अग्नि को 'कनी' स्त्रियों का जार और 'जनी' स्त्रियों का पति कहा गया है।[2] यहाँ 'कनी' का अर्थ अविवाहित कन्यायें और 'जनि' का अर्थ विवाहित पूर्ण युवति स्त्रियाँ प्रतीत होता है। 'पति' के साथ 'जनि' का अनेक बार प्रयोग हुआ है, जहाँ 'जनि' का अर्थ पत्नी ही प्रतीत होता है :

परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिम्। ऋक् १०,४३,१।

'जैसे पत्नियाँ अपने पति का आलिङ्गन करती हैं।'[3]

'जनि' अथवा 'जनी' शब्दों का प्रायः बहुवचन में प्रयोग हुआ है,[4] इसलिये 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने यह सम्भावना प्रकट की है कि कदाचित् ये शब्द पत्नी के वाचक न होकर गणिकाओं के वाचक हों।[5] परन्तु ऋग्वेद का साक्ष्य इस सम्भावना के विरुद्ध है, जैसा कि स्वयं 'वैदिक-इण्डैक्स' के लेखकों ने स्वीकार किया है।[6] ऋक् ५,६१,३; १०,४०,१०; १८३,३ में जहाँ 'जनि' का बहुवचन में प्रयोग हुआ है, विवाह का संकेत प्रतीत होता है। ऋक् १,६२,१० तथा १,१८६,७ में 'जनि' का 'पत्नी' की सन्निधि में प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में 'पत्युर्जनित्वम्'[7] जैसे पद-समूह का भी प्रयोग हुआ है। यम-यमी सूक्त में एकवचनान्त 'पति' के साथ 'जनि' का एकवचन में भी प्रयोग मिलता है।[8] ऋग्वेद में 'जनि' शब्द के बहुवचन में प्रयोग का कारण यह है कि 'जनि' का प्रायः बहुवचनान्त उपमेय के साथ उपमान रूप में प्रयोग हुआ है।

ऋक् १०,१८,७ में 'जनि' शब्द का सामान्य स्त्री अर्थ प्रतीत होता है,

१. *Vedic Index*, : I, 274.

२. जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्। ऋक् १,६६,४।

३. और देखिये, ऋक् ४,५,५; ५,३१,२।

४. ऋक् १,८५,१; ४,५,५; १६,५; ७,१८,२; २६,३; ६,८६,३२; १०,४३,१।

५. *Vedic Index*, I, 274.

६. देखिये, वही १,२७५।

७. ऋक् १०,१८,८।

८. जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः। ऋक् १०,१०,३।

क्योंकि यहाँ इसका 'नारी' के पर्याय के रूप में प्रयोग हुआ है।[1]

'जनी' शब्द का ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयोग हुआ है, जहाँ द्यौ की पुत्री (उषस्) को 'सूनरी जनी' कहा गया है।[2] डेल्ब्रूक ने यहाँ 'जनी' का अर्थ स्त्री किया है, लेकिन यहाँ भी पत्नी अर्थ सम्भव है।

ऋग्वेद में समासयुक्त पदों में 'जनि' का 'जानि' हो गया है[3] और सभी स्थानों में इसका पत्नी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः। ऋक् १,११२,१५।

'पत्नी प्राप्त किये हुए कलि नामक ऋषि की जिनके द्वारा रक्षा की थी।'[4]

'जाया' शब्द का ऋग्वेद में सर्वत्र 'विवाहित स्त्री' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। जैसे यज्ञ में भाग लेने अथवा गृह की स्वामिनी होने के कारण विवाहित स्त्री को पत्नी कहा जाता था,[5] वैसे ही सन्तान को जन्म देने और पति के दाम्पत्य-प्रेम की पात्र होने के कारण उसे जाया कहा जाता था।[6] 'जाया' शब्द का ऋग्वेद में प्रायः 'पति' शब्द के साथ प्रयोग हुआ है।

अर्थमिद्व उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्। ऋक् १,१०५,२।

'धनाभिलाषी निश्चय ही धन प्राप्त करता है; स्त्री पति को प्राप्त करती है।'

(इ) **योषा**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है,[7] 'योषा' और इसके सदृश अन्य 'योषन्', 'योषणा' और 'योषित्' शब्द विवाह योग्य अवस्था की युवति स्त्री के लिये प्रयुक्त हुए हैं और इनका अर्थ कहीं पुत्री और कहीं पत्नी है।

---

१. देखिये, ऊपर, पृ० २७५; ३४५।

२. प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता॥ ऋक् ४,५२,१।

३. पाणिनि (जायाया निङ् ५,४,१३४) ने 'जानि' शब्द को 'जाया' से बनाया है।

४. और देखिये, ऋक् १,१५६,२; ५,६१,४; ८,२,१९; १०,१०१, ११।

५. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। पाणिनि ४,१,१३३।

६. जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुमान्। गोपथ ब्रा० पूर्व-भाग, १,२।

७. देखिये, ऊपर पृ० २२३।

ऋग्वेद में योषा का प्रायः पुत्री अथवा अविवाहित कन्या के अर्थ में प्रयोग हुआ है, लेकिन कुछ स्थलों में 'पत्नी' अर्थ भी हो सकता है।[1]

(इ) **ग्ना**—पत्नी का वाचक एक अन्य शब्द 'ग्ना' है जो √जन् धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है,[2] लेकिन ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग केवल दिव्य पत्नियों के अर्थ में सीमित है और अधिकतर 'त्वष्टा' के साथ इसका प्रयोग हुआ है।

त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जूजुवद्रथम्। ऋक् २,३१,४।

'त्वष्टा दिव्य पत्नियों के साथ एक मन होकर रथ को प्रेरित करे।'

(उ) **मेना**—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में 'मेना' सामान्य स्त्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] लेकिन एक ऋक्[4] में, जहाँ 'मेना' का समास में प्रयोग हुआ है, पत्नी अर्थ प्रतीत होता है। लेकिन 'जनि' शब्द के समान 'मेना' भी सम्बन्धवाचक पद नहीं है।

(ऊ) **पत्नी**—'पत्नी' पति शब्द का स्त्रीलिङ्ग है और जैसे ऋग्वेद में 'पति' शब्द के दो अर्थों—(१) स्वामी या शासक और (२) पति—में प्रयोग मिलते है, वैसे ही 'पत्नी' शब्द के भी दो अर्थ—(१) स्वामिनी, शासिका और (२) पत्नी (विवाहिता स्त्री)—हैं।

निम्न ऋक् में 'पत्नी' का स्वामिनी अथवा शासिका अर्थ है :

अभि पश्यन्ती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी। ऋक् ७,७५,४।

'भुवन की स्वामिनी, द्यौ की पुत्री (उषा) लोगों के कर्मों को देखती है।'

निम्न ऋक् में स्पष्ट रूप से पति की अपेक्षा में विवाहित स्त्री का उल्लेख हुआ है :

पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः।

ऋक् १,६२,११।

'हे बलवान् (इन्द्र), हमारी बुद्धियाँ तेरा इस प्रकार स्पर्श करती हैं, जैसे

---

१. ऋक् १०,४०,२; देखिये ऊपर पृ० ३३८।

२. Grassmann : *Wörterbuch zum Rigveda*, 'ग्ना'। मॉनेर विलियम्स (संस्कृत-इंग्लिश कोश) ने 'ज्ञा' (जानना) और यास्काचार्य (निरुक्त ३,२१) ने √गम् (जाना) धातु मानी है।

३. ऋक् १,६२,७; ६५,६; २,३६,२।

४. अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ। ऋक् ५,३१,२।

कामना करती हुई पत्नियाँ कामना करने वाले पति का।'

इन शब्दों के अतिरिक्त कभी-कभी सामान्य स्त्री के वाचक शब्दों का भी पत्नी के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है। 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों के अनुसार ऋग्वेद के कुछ स्थलों में जहाँ 'नारी' शब्द का 'पति' के साथ प्रयोग हुआ है[१], स्पष्ट रूप से विवाह-सम्बन्ध का संकेत किया गया है।[२] परन्तु डेल्ब्रूक ने 'नारी' शब्द को सम्बन्धवाचक पद स्वीकार नहीं किया है।[३]

ऋग्वेद में विवाहित स्त्री के लिये प्रयुक्त होने वाले इन शब्दों में से केवल दो 'जाया' और 'पत्नी' ही प्रचलित रूप में सम्बन्धवाचक पद हैं और विवाहित स्त्री के दो रूपों को प्रकट करते हैं।[४] 'पत्नी' शब्द उत्तरवर्ती साहित्य में भी विवाहित स्त्री के लिये प्रचलित शब्द है, लेकिन 'जाया' का स्थान सूत्र-साहित्य से आगे 'दार' शब्द ने ले लिया है।[५] यदि किसी पुरुष के अनेक स्त्रियाँ होती थीं तो कदाचित् यज्ञ-कर्म में अधिकार प्रथम विवाहित स्त्री को होता था और वही 'पत्नी' कही जाती थी, उसे कदाचित् 'महिषी' (बड़ी) भी कहा जाता था।[६] ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ के प्रसङ्ग में यजमान की स्त्री को 'पत्नी'[७] अन्यथा 'जाया'[८] कहा गया है। लेकिन इस भेद का पूर्ण रूप से पालन नहीं किया गया है क्योंकि काठकब्राह्मण[९] और मैत्रायणीसंहिता[१०] में मनु की स्त्री को 'पत्नी' और शतपथब्राह्मण[११] में 'जाया' कहा गया है।

४. पति और पत्नी की स्थिति के सूचक शब्द

ऋग्वेद में पति और पत्नी के लिये प्रयुक्त होने वाले इन शब्दों के अति-

१. ऋक् १,७३,३; ७,२०,५; १०,१८,७।

२. *Vedic Index*, I, 446, S. V. Nārī.

३. *Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen*, pp. 417, 439. (*Vedic Index*, I, 446, f. n. 5 में निर्दिष्ट)।

४. देखिये ऊपर पृ० ५७, ५८।

५. *Vedic Index*, I, 286.

६. य ईं वहाते महिषीमिषिराम्। ऋक् ५,३७,३।

७ शत० ब्रा० १,९,२,१४।

८. वही, १,१,४,१३।

९. अनया त्वा पत्न्या याजयावेति। २,३०,१।

१०. मै० सं० ४,८,१।

११. मनो याजयाव त्वेति। केनेति। एतयैव जाययेति। १,१,४,१६।

रिक्त कुछ ऐसे शब्द हैं जो समास के अन्त में 'पति' या 'पत्नी' जोड़कर बनाये गये हैं और जिन से परिवार में पति और पत्नी की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। पुरुष के लिये प्रयुक्त ऐसे शब्द गृहपति, दम्पति, विश्पति तथा जास्पति और स्त्री के लिये प्रयुक्त गृहपत्नी तथा विश्पत्नी हैं। 'दम्पती' द्विवचन का स्त्री और पुरुष दोनों के लिये प्रयोग हुआ है[1], जिससे स्त्री और पुरुष का दम् (घर) पर समान रूप से अधिकार प्रकट होता है।

ऐसे एकाकी परिवार का प्रधान पुरुष, जो एक गृह में रहता था, गृहपति[2] अथवा दम्पति[3] कहलाता था और उसकी स्त्री गृहपत्नी[4] कहलाती थी। अथर्ववेद में एक बार 'गृहपति' शब्द का पत्नी की अपेक्षा में भी प्रयोग हुआ है।[5] विश्पति[6] कदाचित् बड़े संयुक्त परिवार का अथवा कई एकाकी परिवारों का प्रधान पुरुष होता था और उसकी स्त्री विश्पत्नी[7] कहलाती थी। सन्तान पर अधिकार होने के कारण घर के प्रधान पुरुष को जास्पति[8] भी कहा जाता था।

ये शब्द साधारणतया विवाहित स्त्री और पुरुष की स्थिति के सूचक हैं, परन्तु 'दम्पति' विवाह सम्बन्ध में बंधे हुए स्त्री और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध का भी बोध कराता है, इसलिये 'दम्पती' का अर्थ पति और पत्नी भी है। ऋग्वेद में कई बार 'दम्पती' शब्द का इस प्रकार प्रयोग हुआ है। यम-यमी सूक्त में यमी यम से कहती है: 'जनिता ने हम दोनों को गर्भ में ही दम्पती (पति और पत्नी) बनाया है।'[9] उर्वशी-पुरुरवस् सूक्त में भी पति और पत्नी

---

१. ऋक् ५,३,२; ८,३१,५; १०,१०,५ इत्यादि।

२. अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्।
वामं गृहपतिं नय॥ ऋक् ६,५३,२।

३. ऋक् १,१२७,८; २,३९,२ आदि।

४. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः। ऋक् १०,८५,२६।

५. पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव। अथर्व० १४,१,५१।

६. सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः। ऋक् ७,५५,५।

७. यह उल्लेखनीय है कि 'विश्पत्नी' शब्द का ऋग्वेद में कहीं मनुष्य के प्रसङ्ग में कथन नहीं किया गया है।

८. देवान्वा यच्चकृमा कच्चिदागः सखायं वा सदमिज्जास्पतिं वा।
ऋक् १,१८५,८।

९. गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः। ऋक् १०,१०,५।

के लिये 'दम्पती' शब्द का प्रयोग किया गया है :

को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ।

ऋक् १०,८५,१२ ।

'जब तक श्वशुर कुल में अग्नि प्रदीप्त है, तब तक कौन एक मन वाले पति और पत्नी को अलग कर सकता है ।'

ऋग्वेद के प्राचीन भाग में भी पति-पत्नी के लिये 'दम्पती' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[1]

५. पति और पत्नी का पारस्परिक व्यवहार

(अ) प्रेम एवम् सौहार्द—ऋग्वेद में पति और पत्नी के सम्बन्धों का जिन प्रसङ्गों में उल्लेख हुआ है उनसे प्रतीत होता है कि पति और पत्नी का परस्पर व्यवहार सामान्यतया अत्यन्त मधुर एव सौहार्दपूर्ण होता था और वे दोनों एक दूसरे के पूरक थे । ऊपर दिखलाया जा चुका है कि ऋग्वैदिक ऋषियों एवम् कवियों की दृष्टि में गृह का केन्द्र-बिन्दु पत्नी थी ।[2] ऋग्वेद में प्रायः पति और पत्नी के दाम्पत्य-प्रेम का ही उद्घाटन हुआ है । पत्नी और पति परस्पर एक दूसरे की कामना करते थे और पत्नी पति को आनन्दित करती थी । अग्नि-मन्थन में व्यापृत अङ्गुलियों का वर्णन करते हुए कहा गया है : 'एक स्थान में रहने वाली (सनीळाः) अङ्गुलियाँ (अग्नि को) इस प्रकार आनन्दित करती हैं, जैसे कामना करने वाली पत्नियाँ कामना करने वाले पति को आनन्दित करती हैं ।'[3] ऋग्वेद में विविध प्रसङ्गों में कई बार इस बात का उल्लख हुआ है कि पत्नी पति को प्रसन्न करने के लिये सुन्दर वसन धारण करती थी तथा अपना प्रसाधन करती थी । ऋग्वैदिक कवियों के हृदयों को मुग्ध करने वाली उषा उन्हें पति की कामना करने वाली सुसज्जित पत्नी के समान दिखलाई पड़ी है ।[4] अग्नि के आधान के लिये सुसज्जित यज्ञ-भूमि की ओर अग्नि का आह्वान करते हुए कहा गया है : 'यह वह पवित्र स्थान है जिसे हमने तुम्हारे लिये तैयार किया है और जो कामना करने वाली उस

१ ऋक् २,३९,२; ५,३,२; ८,३१,५ ।

२. देखिये, ऊपर पृ० ३२९ ।

३. उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः ।

ऋक् १,७१,१ ।

४. जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ।

ऋक् १,१२४,७ ।

पत्नी के समान है जो पति के लिये सुन्दर वसन धारण करती है।'[1] एक उपासक ने इन्द्र की स्तुति में उच्चरित अपनी वाणी को पति के समीप जाने वाली पत्नी के समान कहा है।[2] इसी प्रकार सोम की स्तुति में कहा गया है : 'तू इस प्रकार स्तुतिकर्ता को सुख देता है जैसे पत्नी पति को सुख देती है।'[3] ज्ञानी की प्रशंसा करते हुए भी पति के प्रति पत्नी के समर्पण का प्रकाशन किया गया है : 'कोई तो वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, कोई इसे सुनते हुए भी नहीं सुनता और किसी के लिये यह इस प्रकार अपने शरीर को खोल देती है, जैसे सुन्दर वस्त्र धारण किये कामना करने वाली पत्नी पति के लिये अपने शरीर को खोल देती है।'[4] एक अन्य उपासक ने देव अग्नि की स्तुति करते हुए आशा की है कि सनातन देव अग्नि के लिये की गई उसकी नूतन स्तुति, सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली प्रेम-विह्वल पत्नी के समान, अग्नि के हृदय में प्रवेश पा लेगी।[5]

ऋग्वैदिक पत्नी पति से केवल प्रेम ही नहीं करती थी, वह उसकी आज्ञा का पालन भी करती थी और पति के आदेश-पालन के लिये सन्नद्ध रहती थी।[6] अक्ष-सूक्त में स्पृहणीय पत्नी को अनुव्रता कहा गया है।[7] ऋग्वैदिक कवियों की दृष्टि में पति की प्रिय होना नारी के जीवन का आदर्श था और पति-सेवित नारी को अनिन्दनीय समझा जाता था, क्योंकि अग्नि को पति-सेवित नारी के समान अनवद्य कहा गया है।[8] इसके विपरीत, पति से द्वेष

---

१. अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासाः।
ऋक् ४,३,२।

२. तमीं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्ते।
ऋक् १,१८६,७।

३. जायेव पत्यावधि शेव मंहसे। ऋक् ९,८२,४।

४. उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।
ऋक् १०,७१,४।

५. इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयमस्मा उशते शृणोतु नः।
भूया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
ऋक् १०,९१,१३।

६. पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने।
ऋक् १,१२२,२।

७. अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्। ऋक् १०,३४,२।

८. अनवद्या पतिजुष्टेव नारी। ऋक् १,७३,३।

करने वाली स्त्रियों को दुराचारिणी कहा गया है और असत्य एवं अनृत आचरण करने वालों की उनसे उपमा दी गई है।[१]

केवल पत्नी का पति के प्रति एकपक्षीय ही प्रेम नहीं था। पति भी पत्नी के प्रति उसी तरह प्रेम करता था, उसके सान्निध्य में आनन्द का अनुभव करता था और उसकी प्रशंसा में पीछे नहीं रहता था। लेकिन ऋग्वेद में पत्नी के प्रति पति के प्रेम के उल्लेख अपेक्षाकृत कम हैं। एक उपासक ने इन्द्र की स्तुति में कहा है : 'जो पके फल वाले वृक्ष के समान तथा आयुध-कुशल विजेता के समान नूतन ऋषियों द्वारा विविध प्रकार से स्तुति किया जाता है, अनेक व्यक्तियों द्वारा आहूत किये जाने वाले उस इन्द्र की मैं, अपनी पत्नी का ध्यान करने वाले प्रेमी के समान, प्रशंसा करता हूँ।'[२] इसी प्रकार एक अन्य स्थल में उपासक ने इन्द्र से प्रार्थना की है : '(इन्द्र) हमारे पुरोडाश का भक्षण करे तथा हमारी वाणियों में आनन्द लेवे, जैसे पति पत्नी में आनन्द लेता है।'[३] एक अन्य स्थल में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह अपनी पत्नी के साथ हर्षित होवे।[४]

(आ) पति और पत्नी का पारस्परिक महत्त्व—पति और पत्नी का एक दूसरे के प्रति परिवार तथा समाज में अत्यधिक महत्त्व था। पत्नी पति की जीवितावस्था में 'सुभगा'[५] कहलाती थी। वधू के 'सौभाग्य' के लिये विवाह-विधि में कामना की जाती थी।[६] पति पत्नी के सुहाग के लिये उसका हाथ पकड़ता था।[७] इन्द्राणी को सब नारियों में 'सुभगा'

---

१. ऋक् ४,५,५; देखिये, ऊपर पृ० ३०३।

२. वि यो ररप्श ऋषिभिर्नवेभिर्वृक्षो न पक्वः सृण्यो न जेता।
मर्यो न योषामभिमन्यमानोऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम्।
ऋक् ४,२०,५।

३. पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम्॥
ऋक् ४,३२,१६।

४. पूषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्यामदः। ऋक् १,८२,६।

५. ऋक् १०,८५,२५; ४५।

६. सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन। ऋक् १०,८५,३३।

७. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
ऋक् १०,८५,३६।

(सुहागिनी) कहा गया है क्योंकि उसका पति वृद्धावस्था के कारण कभी मरता नहीं है।[1] पत्नी का सब अलङ्करण और प्रसाधन पति के लिये होता था और कदाचित् ऋग्वेद-काल में भी, आज के समान ही, अङ्गलेप, अञ्जन और आभरण आदि केवल सुहागिनी स्त्रियों के लिये ही था और इनका विधवा स्त्री के लिये निषेध था, क्योंकि अन्त्येष्टि-सूक्त (ऋग्वेद १०.१८) में अङ्गराग तथा आभूषण धारण करने वाली नारियों के लिये 'अविधवा' विशेषण का प्रयोग किया गया है।[2] मृतपतिका स्त्री के लिये 'विधवा'[3] नाम पड़ जाना ही नारी के जीवन में पति के महत्त्व को सूचित करता है। यद्यपि ऋग्वेद-काल में स्मृति-काल तथा उत्तरवर्ती काल की हिन्दू विधवा के समान मृतपतिका स्त्री को वैधव्य-जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य नहीं किया जाता था, वह कदाचित् अपने मृत पति के छोटे भाई से अथवा अन्य पुरुष से विवाह कर सकती थी, फिर भी विधवा स्त्री का जीवन परिवार में किसी प्रकार भी स्पृहणीय नहीं रहा होगा। क्योंकि ऋग्वैदिक आर्यों में भी नव-वधू के सुलक्षणों तथा कुलक्षणों के विषय में बद्धमूल धारणायें प्रचलित थीं, जैसा कि वधू के अदुर्मङ्गली, अघोरचक्षु तथा अपतिघ्नी होने की कामना से प्रकट होता है।[4]

पत्नी का भी पति के लिये कम महत्त्व न था। यह सत्य है कि जैसे नारी के जीवन में पति की मृत्यु जीवन की रेखा में आमूल परिवर्तनकारी दारुण घटना थी, पति के लिये पत्नी की मृत्यु उतनी भयावह नहीं थी। उस पर कोई ऐसा धारणामूलक सामाजिक दोष नहीं आता था जिससे उसके लिये फिर से वैवाहिक जीवन यापन करना कठिन हो जाये, लेकिन फिर भी पुत्रों को जन्म देने तथा प्रायः धन-व्यय से प्राप्य होने के कारण पत्नी का वियोग भी पति के लिये असह्य होता था। अतः पति पत्नी के कल्याण और आयुष्य की कामना करते थे।[5] सायणभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की एक ऋक्[6] में पत्नी

---

१. इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिः॥ ऋक् १०,८६,११।

२. इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥
ऋक् १० १८,७।

३. ऋक् ४,१८,१२। ४. ऋक् १०,८५,४३; ४४।

५. स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु॥ ऋक् १०,६३,१५।

६. जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
ऋक् १०,४०,१०।

के प्राणों के लिये पतियों के रोदन करने का कथन किया गया है।[१] प्रो० ग्रासमान ने ऋक् १०,४०,८ में 'विधवाम्' से किसी विधुर पुरुष का उल्लेख माना है।[२] यदि प्रो० ग्रासमान की व्याख्या सत्य हो तो ऋग्वैदिक समाज में पुरुष को भी नारी के समान 'विधव' कहा जाता था। परन्तु यहाँ 'विधवाम्' का विधुर अर्थ संदिग्ध है। सायण और ग्रिफ़िथ ने यहाँ 'विधवाम्' का अर्थ विधवा स्त्री किया है।

पत्नी के प्रति पति का महत्त्व इस बात से भी प्रकट है कि वह अपना उपनाम पति से भी प्राप्त करती थी। ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण और अग्नि की पत्नियों को इन्द्राणी, वरुणानी तथा अग्नायी कहा गया है।[३] पुरुकुत्स की पत्नी को पुरुकुत्सानी कहा गया है।[४] एक अन्य स्त्री इन्द्रसेना को भी, उसके पति के नाम पर 'मुद्गलानी' कहा गया है।[५]

यद्यपि ऋग्वेद-काल में उत्तरवर्ती काल के समान पत्नी का 'भार्या' (भरण करने योग्य) नाम नहीं पड़ा था, जिससे ऋग्वेद-काल में आर्थिक दृष्टि से पत्नी की कुछ आत्मनिर्भरता का आभास होता है, लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस निषेधात्मक साक्ष्य पर पत्नी की आर्थिक स्वतन्त्रता के विषय में अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद-काल में भी नारी आर्थिक दृष्टि से पति पर ही निर्भर करती थी। ऋग्वेद में निर्धन पुरुष की पत्नी के अपमानित होने का उल्लेख पाया जाता है। ऋषि वामदेव ने इन्द्र की उदारता की प्रशंसा में कहा है: 'जब मैंने अपनी पत्नी को अपमानित होते देखा तब श्येन (इन्द्र) मेरे लिये मधु लाया।'[६] इसी प्रकार द्यूत-क्रीडा में पराजित होने

१. रोदनेनापि जायानां जीवनमेवाशासत इत्यर्थः। सायणभाष्य (पूना संस्करण)।

२. *Worterbuch zum Rigveda*, S. V. Vidhava. प्रो० ग्रासमान का विचार है कि इस ऋक् में 'विधवम्' को छन्द की दृष्टि से 'विधवाम्' कर दिया गया है।

३. ऋक् ५,४६,८।

४. ऋक् ४,४२,९।

५. ऋक् १०,१०२,२।

६. अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार॥
ऋक् ४,१८,१३।

वाले पुरुष की पत्नी के विषय में कहा गया है कि अन्य लोग उसकी पत्नी का स्पर्श करते हैं।[1] इसके विपरीत वीर और धनी पुरुष की पत्नी स्वयं को सशक्त समझती थी और अपने सौभाग्य पर गर्व करती थी तथा समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती थी। ऋग्वेद के वृषाकपि-सूक्त में इन्द्र के मित्र वृषाकपि द्वारा इन्द्राणी का **अपमान** किये जाने पर वह गर्व से कह उठती है: 'यह धूर्त मुझे वीरहीन-सी समझता है, लेकिन मैं वीरपुत्रों की माता तथा इन्द्र की पत्नी हूँ, मरुत् मेरे मित्र हैं।'[2] पति की प्रिय होने पर ही पत्नी का आदर एवं सम्मान होता था, यह बात इससे भी स्पष्ट है कि एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ होने पर कोई पत्नी सपत्नी को पराजित करके पति को अपने अनुकूल बनाने के लिये जादू और टोने-टोटके तक का आश्रय लेने में संकोच नहीं करती थी।[3] इन्द्राणी जैसी ओजस्विनी पत्नी भी पति की अपने अनुकूल रहने की कामना करती थी[4] और अपने विषय में पति के अच्छे विचारों से स्वयं को आश्वस्त अनुभव करती थी।[5]

(इ) **परस्पर द्वेष तथा कलह**—जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऋग्वैदिक कवियों की दृष्टि में दाम्पत्य जीवन अत्यधिक कमनीय था और पति तथा पत्नी का पारस्परिक व्यवहार मधुर एवं सौहार्दपूर्ण होता था। लेकिन ऋग्वेद में दाम्पत्य-जीवन के चित्र का दूसरा पहलू भी प्रतिबिम्बित हुआ है, जिससे पता चलता है कि ऋग्वैदिक समाज में भी पति और पत्नी का व्यवहार सर्वदा ही स्पृहणीय नहीं था। उन्हें भी जीवन के कठोर सत्यों का सामना करना पड़ता था तथा एक दूसरे के वैयक्तिक दोषों के कारण कष्ट सहन करना पड़ता था। ऋग्वेद में ऐसी पत्नियों का उल्लेख हुआ है जो पतियों से द्वेष करती थीं तथा दुराचारिणी होती थीं।[6] ऋग्वेद में पतियों द्वारा द्वेष की गई पत्नियों का भी उल्लेख हुआ है।[7] एक अन्य स्थल में 'परिवृक्ता' (त्यागी

---

१. अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद् वेदने वाज्यक्षः।
ऋक् १०,३४,४।

२. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा॥ ऋक् १०,८६,९।

३. सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु। ऋक् १०,१४५,२।

४. ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्। ऋक् १०,१५९,२।

५. उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः। ऋक् १०,१५९,३।

६. ऋक् ४,५,५।

७. कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै। ऋक् ८,९१,४।

गई, उपेक्षिता) स्त्री का संकेत किया गया है, जहाँ उसके दूसरा पति प्राप्त करने का भी उल्लेख हुआ है।[१] अक्ष-सूक्त में पत्नी द्वारा जुआरी पति के छोड़ दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[२] एक अन्य सूक्त में बृहस्पति द्वारा अपनी पत्नी जुहू के त्याग दिये जाने का संकेत प्रतीत होता है जिसे सोम तथा अन्य देवों और मनुष्यों के हस्तक्षेप से बृहस्पति ने पुनः स्वीकार कर लिया था।[३] लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि विवाहित तथा शुद्ध-चरित पत्नी को त्यागना समाज में पाप समझा जाता था, क्योंकि त्यागी गई पत्नी को स्वीकार कर लेने पर देवों द्वारा बृहस्पति के निष्पाप कर दिये जाने का कथन किया गया है।[४] ऋग्वैदिक समाज में बहु-पत्नी प्रथा के कारण भी पारिवारिक अशान्ति रहती थी। एक ऋक् में दो पत्नियों वाले पति की दुर्गति का चित्र उतारा गया है।[५] विपत्ति में पड़े उपासकों ने अपने कष्टों को सपत्नियों से उत्पन्न होने वाले सन्ताप के समान कहा है।[६] ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १४५ तथा १५९ में समाविष्ट, सपत्नियों को नष्ट एवं पराभूत करने तथा पति पर प्रभुत्व पाने के लिये प्रयुक्त मन्त्रों (charms) तथा टोटकों से भी यही प्रतीत होता है कि बहु-पत्नीक पति का पारिवारिक जीवन सर्वदा अशान्ति तथा पारिवारिक कलह से पूर्ण ही रहता होगा।

६. पति के अधिकार तथा कर्त्तव्य

पत्नी के प्रति पति के अधिकारों तथा कर्तव्यों का ऋग्वेद में कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन 'पति' और 'भर्ता' नाम से ही उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का बोध हो जाता है। कोई पुरुष अपनी पत्नी पर पूर्ण प्रभुत्व रखने के कारण उसका 'पति' कहलाता था तथा पालन-पोषण एवं भरण करने के कारण उसका 'भर्ता' कहलाता था। पत्नी के जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक उपकरण जुटाना तथा उसकी कामना पूर्ण करना पति का कार्य था। ऋषि वामदेव ने इन्द्र की स्तुति करते हुए अपनी निर्धनता के कारण पत्नी के

१. परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्। ऋक् १०,१०२,११।
२ द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि। ऋक् १०,३४,३।
३. ऋक् १०,१०९,२; ५; ६।
४. पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम। ऋक् १०,१०९, ७।
५. देखिये, ऋक् १०,१०१,११।
६. सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
ऋक् १,१०५,८; १०,३३,२।

अपमान पर पश्चात्ताप प्रकट किया है और अन्य देवों पर उनकी पाषाण-हृदयता के लिये कटु व्यंग्य किया है।[1] एक ऋक् में इन्द्र के लिये यज्ञ करने वाले को पति के समान कामना पूर्ण करने वाला कहा गया है।[2] पति को पत्नी पर सब प्रकार का अधिकार प्राप्त था। वह पत्नी का त्याग कर सकता था।[3]

ऋग्वेद में पति के पत्नी के वध अथवा ताडन सम्बन्धी अधिकारों का कोई संकेत नहीं हुआ है, लेकिन पितृसत्ताक समाजों में पुरुष के अमर्यादित अधिकारों को दृष्टि में रखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि पति को पत्नी के वध तथा ताडन का भी अधिकार था। ऋग्वेद में उत्तरवर्ती हिन्दू-धर्मशास्त्रों के समान स्त्री को अवध्य नहीं समझा गया है। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा वृत्र की माता दानु के वध का उल्लेख हुआ है।[4]

ऋग्वेद में एक पुरुष की कई पत्नियों के उल्लेख से स्पष्ट है कि पति को एक पत्नी के रहते हुए भी विवाह कर लेने का अधिकार था। लेकिन पति दूसरा विवाह किन अवस्थाओं में करता था, इस विषय में ऋग्वेद से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि यदि कोई पत्नी पुरुष सन्तान के प्रजनन में असमर्थ रहती होगी तो उसके पति को दूसरा विवाह कर लेने का अधिकार रहा होगा। उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रों में पत्नी के वन्ध्या, मृतप्रजा, स्त्रीजननी, अप्रियवादिनी आदि होने पर त्याग तथा अधिवेदन का अधिकार दिया है।[5] याज्ञवल्क्यस्मृति में सुरापान करने वाली, रोगिणी, धूर्त, अर्थ नाश करने वाली और पुरुष से द्वेष करने वाली स्त्री के भी अधिवेदन का अधिकार दिया है।[6] आपस्तम्बधर्मसूत्र में धर्म तथा प्रजा से सम्पन्न पत्नी के रहते अन्य पत्नी करने का निषेध किया गया है[7] और निर्दोष पत्नी का

---

१. ऋक् ४,१८,१३।

२. ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन्। ऋक् १०,२९,५।

३. ऋक् १०,१०२,११।

४. नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार। ऋक् १,३२,९।

५. वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ मनुस्मृति ९,८१।

६. याज्ञवल्क्यस्मृति १,७३।

७. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। २,५,११,१२।

व्यतिक्रमण करने वाले को प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।[१] परन्तु ऋग्वेद-काल में कदाचित् पति के अधिकारों पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था, क्योंकि ऋग्वेद में ऋषियों को एक साथ अनेक वधू उपहार में देने का उल्लेख हुआ है[२] और राजा को अनेक पत्नियों से घिरा हुआ कहा गया है।[३]

७. पत्नी के अधिकार और कर्त्तव्य

यद्यपि ऋग्वेद-काल में पति को पत्नी पर सब प्रकार की प्रभुता प्राप्त थी और उसे प्रायः सम्पत्ति समझा जाता था, लेकिन कुछ बातों में ऋग्वैदिक पत्नी की स्थिति उत्तरवर्ती संहिताओं तथा सूत्रों के काल की पत्नी की अपेक्षा उत्तम थी जैसा कि नीचे किये गये विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होगा।

(अ) **धार्मिक**—मनुस्मृति में कन्या और युवति के होता (एक ऋत्विक्) बनने का निषेध किया गया है।[४] भागवत-पुराण के अनुसार स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु को श्रुति का अधिकार नहीं है।[५] शाङ्खायनब्राह्मण में कहा गया है कि पत्नियों को यज्ञ में अधिकार नहीं हैं और उन्हें यज्ञवेदी से बाहर रहना चाहिये।[६] जैमिनीयसूत्रों के रचे जाने के समय स्त्रियों के यज्ञ सम्बन्धी अधिकारों के विषय में पर्याप्त विवाद था और अनेक आचार्य स्त्रियों का यज्ञ में कोई अधिकार नहीं समझते थे।[७] स्त्रियों के अधिकार के प्रबल पोषक जैमिनीयसूत्रकार ने भी स्त्री के यज्ञाधिकार को केवल पति के साथ ही स्वीकार किया है और स्वतन्त्र रूप से स्त्री के यज्ञाधिकार का निषेध किया है।[८] लेकिन ऋग्वैदिक साक्ष्य से पता चलता है कि उस काल में स्त्री होने के कारण पत्नी पर धार्मिक क्षेत्र में कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऋग्वेद के प्राचीन

---

१. दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिधाय दारव्यतिक्रमिणे भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। १,१०,२८,१९।

२. अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्। ऋक् ८,१९,३६।

३. राजेव हि जनिभिः क्षेष्येव। ऋक् ७,१८,२।

४. न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा॥ ११,३६।

५. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा १,४,२५ (हिन्दू परिवार-मीमांसा पृ० १३८, पा० टि० १७ में उद्धृत)।

६. अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः। शाङ्खा० ब्रा० २७,४।

७. जैमिनीयसूत्र ६,१।

८. वही, ६,१,१७–२१।

और अर्वाचीन माने जाने वाले सभी भागों में पत्नी का धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का उल्लेख हुआ है। ऋक् १,७२,५ में पत्नियों सहित देवों द्वारा अग्नि की पूजा किये जाने का उल्लेख हुआ है।[१] ऋग्वेद में अनेक बार अग्नि-मन्थन अथवा सोम-सवन के प्रसङ्ग में अङ्गुलियों को 'जनि', 'योषा' आदि स्त्रीवाचक शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है[२] जिससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक लोगों में स्त्रियों के धार्मिक कृत्यों में भाग लेने के विरुद्ध कोई अन्धविश्वास नहीं था। पति और पत्नी के सम्मिलित रूप में धार्मिक कृत्य करने का कई बार उल्लेख हुआ है। एक ऋषि ने इन्द्र की स्तुति में कहा है: '(इन्द्र) उन दोनों को श्लाघनीय वचन का विषय बना देता है जो युगल (मिथुना)[३] स्रुवा ऊपर को उठाकर पूजा करता है।'[४] इसी तरह अग्निदेव के विषय में कहा है: 'जब अग्नि पति और पत्नी (दम्पती) को एक मन वाला कर देता है तो वे तुम्हें मित्र के समान घृत से भूषित करते हैं'।[५] सूर्या-सूक्त (ऋक् १०,८५) में भी वधू के लिये कामना की गई है कि वह पति-गृह में जाकर गृह की स्वामिनी बने और सबको अपना वशवर्ती बनाकर देव-पूजा (विदथ) में भाग लेवे।[६] गृह-प्रवेश के समय वधू को गृहपति-कर्म के लिये जागरूक रहने के लिये उद्बोधित किया जाता था और पति-पत्नी को वृद्धावस्था पर्यन्त देव-पूजा में संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता था।[७]

पत्नी केवल देवों को प्रसन्न करने के लिये किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों

---

१. सं जानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।

२. ऋक् १,७१,१; ३,२६,३; ९,१,७ इत्यादि; ऊपर पृ० २५५।

३. सायण ने 'मिथुना' की व्याख्या हवि, अन्न और आज्य की है, परन्तु स्पष्ट ही यहाँ 'यजमान और उसकी पत्नी' अभिप्राय है। देखिये, ग्रिफिथ: *Hymns of the Rigveda*, I, p. 139, f. n. 3.

४. अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः।
ऋक् १,८३,३।

५. अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि।
ऋक् ५,३,२।

६. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।
ऋक् १०,८५,२६।

७. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥
ऋक् १०,८५,२७।

में ही भाग नहीं लेती थी, अपितु यातुधान तथा शत्रुओं को नष्ट करने के लिये किये जाने वाली क्रियाओं में भी पति के साथ भाग लेती थी। एक ऋक् में अग्नि से प्रार्थना की गई है : 'हे अग्नि, पति और पत्नी (मिथुना) आज जो शाप दे रहे हैं और स्तुतिकर्ता जो कटुवचन कह रहे हैं, क्रोध से भरे मन से जो भी बाण-सदृश वचन निकल रहा है, उससे यातुधानों के हृदय को बींधो।'[1]

ऋग्वेद-काल में पत्नी को केवल पति के साथ ही धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं था, अपितु वह पति के बिना भी स्वयं धार्मिक कृत्य कर सकती थी। पत्नी पति के युद्ध में जाने पर उसकी रक्षा के लिये गृह में यज्ञ करती थी।[2] पुरुकुत्स की पत्नी ने अपने पति की अनुपस्थिति में इन्द्र और वरुण को हवि देकर तथा नमस्कार करके प्रसन्न किया था।[3] अपाला ने इन्द्र के लिये सोम का सवन किया था।[4] ऋग्वेद में अनेक बार वध्रिमती द्वारा अश्विनौ की प्रार्थना किये जाने तथा अश्विनौ द्वारा प्रसन्न होकर उसे पुत्र प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।[5] सायण-भाष्य के अनुसार विश्ववारा[6] को नमस्कार तथा हवि से देवों की पूजा करते वर्णित किया गया है।[7]

पत्नी के धार्मिक अधिकारों की यह परम्परा उत्तरवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी प्रचलित रही है। अथर्ववेद में स्त्रियों को यज्ञिय (यज्ञ

१. यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥
ऋक् १०,८७,१३।

२. ऋक् ४,२४,८।

३. पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
ऋक् ४,४२,९।

४. ऋक् ८,९१,१।

५. श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः; ऋक् ६,६२,७; मिलाइये, ऋक् १०,३९,७।

६. यूरोपीय विद्वानों ने 'विश्ववारा' को नाम न मानकर केवल विशेषण पद स्वीकार किया है। (Griffith : *Hymns of the Rigveda*, III, 216)। लेकिन अनुक्रमणिका में 'विश्ववारा' स्त्री ऋषि मानी गई है।

७. एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची।
ऋक् ५,२८,१।

की अधिकारिणी) कहा गया है।[1] शतपथब्राह्मण[2] तथा तैत्तिरीयब्राह्मण[3] में पत्नीरहित पुरुष को यज्ञ का अनधिकारी कहा गया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार पत्नी अपना ही अर्धभाग होती है, पत्नी के बिना पुरुष 'असर्व' होता है और पत्नी प्राप्त करने से सर्व (पूर्ण) हो जाता है, इसलिये स्वर्गारोहण की कामना करने वाला यजमान पति अपनी पत्नी को भी आमन्त्रित करता है।[4] लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उत्तरवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मणों में यज्ञ-प्रक्रिया में पत्नी की अनिवार्यता पर बल दिया गया है, लेकिन साथ ही इनमें ऐसे वचन भी पाये जाते हैं जिनसे स्त्री के विषय में हीनता तथा अपवित्रता के विचार द्योतित होते हैं। शतपथब्राह्मण में नेष्टा पुरोहित द्वारा पत्नी को कुश-निर्मित अधोवसन अथवा चण्डातक पहनाने का विधान किया गया है क्योंकि पत्नी का नाभि से नीचे का भाग अपवित्र होता है और पवित्र दर्भों से उसे पवित्र करके यज्ञ को पवित्र किया जाता है।[5] लेकिन ऋग्वेद में पत्नी की इस प्रकार की अमेध्यता का कोई संकेत नहीं है। परन्तु फिर भी यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक समाज में नारी की अमेध्यता सम्बन्धी विचारों का उदय हुआ था या नहीं। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों की अमेध्यता का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था और धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों की हीनता का विकास उत्तरकाल में ही हुआ है, चाहे इसका कारण कुछ भी रहा हो। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में यज्ञ-प्रक्रिया की जटिलता अथवा स्त्रियों की अपवित्रता या असामर्थ्य के विचार के कारण ऐसे अनेक कार्य जिन्हें पहले पत्नियाँ करती थीं, पुरोहितों द्वारा किये जाने लगे थे। शतपथब्राह्मण के अनुसार हवि बनाना पहले पत्नी का कार्य था[6] जो उत्तरकाल में अग्नीध्र का कार्य हो गया। सोमयाग की

---

१. योषितो यज्ञिया इमाः। अथर्व० ११,१,१७; २७।

२. अयज्ञीयो वैष योऽपत्नीकः। शतपथब्राह्मण। (हिन्दू परिवार-मीमांसा, पृ० १३२ पर उद्धृत)।

३. अयज्ञो वा एषः, योऽपत्नीकः। तैत्ति० ब्रा० २,२,२,६; ३,३,३,१।

४. शतपथब्राह्मण ५,२,१,१०।

५. अस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेर्मेध्या वै दर्भास्तद् यदेवास्या अमेध्यं तदेवास्या एतद् दर्भैर्मेध्यं कृत्वाथैनां प्राचीं यज्ञं प्रसादयति तस्मान्नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनात्। शत० ब्रा० ५,२,१,८।

६. तद्ध स्मैतत्पुरा। जायैव हविष्कृत्। शत० ब्रा० १,१,४,१३।

प्रवर्ग्य-विधि पहले पत्नी का कर्म था, लेकिन बाद में इसे उद्गाता करने लगा।[१] इस तरह शनैः शनैः स्त्रियों को धार्मिक कृत्यों, विशेषतः वैदिक कर्म-काण्ड से बहिष्कृत कर दिया गया। मनुस्मृति-काल तक आते-आते वैदिक कर्मकाण्ड में से स्त्री के लिये केवल विवाह-संस्कार ही रह गया और उसके लिये अन्य संस्कार भी निषिद्ध हो गये।

(आ) **गृहसम्बन्धी** (domestic)—ऋग्वैदिक पत्नी की गृह में स्थिति और अधिकार उसके लिये प्रयुक्त होने वाले 'दम्पति' तथा 'गृहपत्नी' शब्दों से ही प्रकट है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह अपने पति के समान ही घर (दम्) की स्वामिनी थी। 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने 'दम्पति' शब्द को वैदिक काल में पत्नी की उच्च स्थिति का सूचक स्वीकार किया है।[२] विवाह के समय भी वधू को पति-गृह में जाकर 'गृहपत्नी' होने का आशीर्वाद दिया जाता था।[३] सिद्धान्ततः वह पति के परिवार के सदस्यों—श्वशुर, श्वश्रू, ननान्दा तथा देवरों पर शासन करने वाली होती थी।[४] ऋग्वैदिक पत्नी के कर्त्तव्यों में दो कर्त्तव्य मुख्य प्रतीत होते हैं :

पहला, सन्तान, विशेष कर के पुरुष सन्तान, उत्पन्न करना और दूसरा गृहपति की उसके धार्मिक तथा सांसारिक कार्यों में सहायता करना। गृह-प्रवेश के समय पत्नी को इन शब्दों में उद्बोधित किया जाता था : 'यहाँ अपने प्रिय को सन्तान से समृद्ध करो, इस गृह में गार्हपत्य के लिये जागरूक रहो।'[५] गृहपत्नी प्रातःकाल में कदाचित् सबसे पहले उठती थी और सबको सोते से जगा कर अपने-अपने काम में लगाती थी। एक ऋक् में उषा का वर्णन करते हुए उसे गृहिणी (अद्मसद्) के समान सोने वालों को जगाने वाली कहा गया है।[६] घर में रहने वाले सब लोगों की देख-भाल करना भी पत्नी का कर्त्तव्य

---

१. पत्नीकर्मैव वा एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारः। शत० ब्रा० १४,३,१,३५।

२. *Vedic Index*, I, 340.

३. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः। ऋक् १०,८५,२६।

४. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ ऋक् १०,८५,४६।

५. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
ऋक् १०,८५,२७।

६. अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्।
ऋक् १,१२४,४; मिलाइये, ऋक् १,४८,५।

था।[1] एक अन्य ऋक् में नदियों को पत्नी के समान क्षेम करने वाली कहा गया है[2], जिससे पति तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति गृहिणी की कर्त्तव्य-परायणता का बोध होता है। पत्नी को घर के पशुओं तथा घर में रहने वाले सेवकों आदि का भी ध्यान रखना पड़ता था।[3] पत्नी पति के माता, पिता तथा भाइयों पर केवल शासन करने वाली (सम्राज्ञी) ही नहीं थी, वह पति के पिता अर्थात् अपने श्वशुर का मान रखती थी और यदि उसका पति अपने पिता से पृथक् रहता था तो उसे अपने यहाँ भोजन करने के लिये आमन्त्रित करती थी। ऋग्वेद में पुत्र-वधू को श्वशुर की प्रतीक्षा करती हुई चित्रित किया गया है[4] : 'अन्य सब मित्र (अरि)[5] आ गये, केवल मेरे श्वशुर ही नहीं आये। कितना अच्छा होता कि वह धाना (भुना हुआ जौ) खाते तथा सोम का पान करते और अच्छी प्रकार भोजन करके अपने घर को चले जाते।'

(इ) **साम्पत्तिक**—ऋग्वैदिक काल में पत्नी के धार्मिक तथा गृह-सम्बन्धी अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ऋग्वैदिक साक्ष्य पर्याप्त स्पष्ट है, लेकिन उसके साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में ऋग्वैदिक साक्ष्य अत्यन्त नगण्य है, और जो है, वह अत्यन्त अस्पष्ट तथा संदिग्ध है। वैदिक युग में पत्नी की स्थिति तथा सम्पत्ति के विषय में 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों ने लिखा है : 'विवाह के पश्चात् पति और पत्नी के कानूनी सम्बन्धों के विषय में हमारी जानकारी अत्यल्प है। यह कल्पना की जा सकती है कि यदि पत्नी की दहेज में प्राप्त अथवा स्वयं अर्जित कोई सम्पत्ति होती थी तो उसे पति

---

१. जायेव योनावरं विश्वस्मै। ऋक् १,६६,३।

२. क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवः। ऋक् १०,१२४,७।

३. शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋक् १०,८५,४३; ४४।

४. ऋक् १०,२८,१।

५. डा० बेन्वेनिस्ट का विचार है कि ऋग्वैदिक आर्य विवाह के प्रयोजन के लिये दो वर्गों में विभाजित थे और ऐसे दो वर्ग जिनके व्यक्तियों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध हो सकता था, एक दूसरे की दृष्टि में 'अरि' (stranger) होते थे। इसलिये यहाँ पुत्रवधू ने अपने श्वशुर के सपक्षों को अरि कहा है। (देखिये, Brough : *Early Brāhmanical System of Gotra and Pravara*, p. XIII)

अपने अधिकार में कर लेता था।'[१] उत्तरकाल में 'स्त्रीधन'[२] अथवा 'पारिणाह्य'[३] के रूप में जिस प्रकार पत्नी का अलग से धन स्वीकार किया गया है, ऋग्वेद-काल में स्त्री की उस तरह की किसी अलग सम्पत्ति का न कोई नाम मिलता है और न ही उसका कोई स्पष्ट संकेत है। यद्यपि ऋग्वेद में शशीयसी[४] द्वारा श्यावाश्व को धन दिये जाने का उल्लेख हुआ है,[५] लेकिन वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि शशीयसी ने श्यावाश्व को जो धन दान दिया था, वह अपने अधिकार से दिया था अथवा अपने पति की सहमति से। इसलिये शशीयसी द्वारा धन-दान के उल्लेख को ऋग्वैदिक काल में पत्नी के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। सम्भवतः परित्यक्ता अथवा विधवा पत्नी को पति की सम्पत्ति में दाय का कोई अधिकार नहीं था। प्रो० अविनाश चन्द्र दास[६] ने ऋक् १०,१०२,११[७] को निस्सन्तान विधवा के दायाधिकार की सिद्धि में उद्धृत किया है, लेकिन यह अत्यधिक संदिग्ध है कि इस ऋक् में विधवा द्वारा पति से दाय प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। इस ऋक् में परित्यक्त पत्नी द्वारा दूसरा विवाह कर लेने अथवा उपेक्षिता पत्नी द्वारा पुनः पति का अनुग्रह प्राप्त कर लिये जाने का उल्लेख भी हो सकता है। ग्रिफ़िथ ने इस ऋक् के प्रथम चरण का अनुवाद इस प्रकार किया है: "Like one forsaken, she hath found a husband," (अर्थात् त्यागी गई पत्नी के समान उसने पति प्राप्त कर लिया)। इस प्रकार ऋग्वेद में पत्नी के साम्पत्तिक अधिकारों का कोई संकेत नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'तैत्तिरीयसंहिता' में स्पष्ट रूप से स्त्री को 'अदायादी' कहा गया है।[८] यह स्मरणीय है कि साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में भारतीय नारी के अधिकारों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई

---

१. *Vedic Index*, I, 484.

२. अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ मनुस्मृति ९,१९४।

३. पत्नी वै पारीणह्यस्य ईशे। तै० सं० ६,२,१,१।

४. सायण के अनुसार 'शशीयसी' तरन्त की पत्नी का नाम है, परन्तु यूरोपीय विद्वान् 'शशीयसी' को स्त्रीलिङ्ग विशेषण मानते हैं। ग्रिफ़िथ ने शशीयसी का अर्थ 'more firm' किया है।

५. ऋग्वेद ५,६१,५; ६।

६. *Ṛgvedic Culture*, p. 250.

७. परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्।

८. तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः। तैत्ति० सं० ६,५,८,२।

है।[१] इसलिये जब कि उत्तरकाल में ही स्त्री के साम्पत्तिक अधिकार बहुत ही सीमित थे, तब ऋग्वैदिक काल में स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों की कोई सम्भावना नहीं हो सकती।

(ई) **सामाजिक**—जैसा कि पहले प्रदर्शित किया गया है, ऋग्वैदिक काल में पत्नी पति के साथ प्रत्येक धार्मिक कृत्य में सम्मिलित होती थी और वह पति के साथ गृह की स्वामिनी (गृहपत्नी) समझी जाती थी, लेकिन उत्तर संहिता-काल में उसके इन अधिकारों में कमी आने लगी थी। वैसे ही उसकी सामाजिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों में भी ह्रास का प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वैदिक पत्नी के सामाजिक अधिकारों का निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :

(१) सामाजिक स्वतन्त्रता—समन तथा सभाओं में भाग।

(२) नियोग अथवा अन्य विधि से पुत्र प्राप्त करने का अधिकार।

(१) **सामाजिक स्वतन्त्रता**—ऋग्वैदिक पत्नी ऋग्वैदिक पुत्री के ही समान, मध्यकालीन हिन्दू नारी के विपरीत, घर की चार-दीवारी के अन्दर बन्द रहने वाली नहीं थी। वह अवसर होने पर मेलों और समारोहों में उल्लसित हृदय से भाग लेती थी। ऋग्वैदिक आर्यों के सामाजिक जीवन में मेलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतीत होती है। वे लोग समय-समय पर ऐसे मेलों का आयोजन करते थे, जिनमें घोड़ों की दौड़ का आयोजन होता था,[२] ज्ञानी लोग ज्ञान की चर्चा करते थे,[३] धनुर्धारी लक्ष्यभेद का चातुर्य प्रदर्शित करके पुरस्कार प्राप्त करते थे,[४] तथा नवयुवक व नवयुवतियाँ अपने योग्य साथी चुनने का अवसर प्राप्त कर लेते थे।[५] ऐसे मेलों को ऋग्वेद में 'समन' नाम दिया गया है। विवाहित युवति स्त्रियाँ भी नये वस्त्र धारण कर के तथा प्रसाधन करके मुस्कराती हुई मेलों का आनन्द लेने जाती थीं।[६] स्त्रियों के 'समन' में जाने का ऋग्वेद के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी भागों में उल्लेख

---

१. Kane : *History of Dharmaśāstra*, pp. 576-77; Altekar : *Position of Women in Hindu Civilization*, p. 252 ff.

२. ऋक् ६,६६,६।

३. ऋक् २,१६,७; ६,६७,४७।

४. ऋक् ६,७५,३; ५।

५. अथर्व० २,३६,१।

६. *Vedic Index*, II, 429.

पाया जाता है। अग्नि की ओर बहने वाली घृत की धाराओं की सुन्दर वस्त्र धारण करके 'समन' में जाने वाली मुस्कराती हुई युवतियों से तुलना की गई है।[1] सूर्य की रश्मियों से भासित उषा को 'समन' में जाने वाली स्त्रियों (व्राः) के समान अलङ्कार धारण करने वाली कहा गया है।[2] इसी प्रकार वात के पीछे आने वाले जलों की समन में जाने वाली स्त्रियों से उपमा दी गई है।[3] ऋग्वेद में समन के प्रसङ्गों में स्त्रियों का उल्लेख करने से ऐसा प्रतीत होता है कि समन को आकर्षण का केन्द्र बनाने में युवति स्त्रियों की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। ऋग्वेद में स्त्रियों के समन में भाग लेने का केवल उपमान के रूप में अप्रत्यक्ष ही उल्लेख नहीं हुआ है, अपितु ऋग्वेद १०,८६,१० में प्रत्यक्ष उल्लेख भी किया गया है कि पहले नारियाँ यज्ञ तथा समन में भाग लेने जाती थीं।[4] लेकिन इस पिछले उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों के समन तथा यज्ञ में सम्मिलित होने पर प्रतिबन्ध लगने प्रारम्भ हो गये थे। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों की सामाजिक स्वतन्त्रता इस बात से भी परिलक्षित होती है कि ऋग्वेद में किसी दास की स्त्री-सेना तथा कुछ आर्य स्त्रियों के युद्ध में भाग लेने का उल्लेख हुआ है।[5] इस प्रसङ्ग में एक बात स्मरणीय है कि ऋग्वैदिक काल में भी स्त्रियों की सामाजिक स्वतन्त्रता केवल सापेक्ष ही थी। यह सत्य है कि उत्तरवर्ती संहिताओं के काल में जिस प्रकार स्त्रियों के सभा में जाने पर प्रतिबन्ध था,[6] उस प्रकार के प्रतिबन्ध का ऋग्वेद में कोई भी संकेत नहीं पाया जाता है[7], तो भी विवाहित स्त्री का स्थान मुख्य रूप से घर के अन्दर ही था, क्योंकि

---

१. अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
ऋक् ४,५८,८।

२. व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगाइव व्राः।
ऋक् १,१२४,८।

३. सम्प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ऋक् १०,१६८,२।

४. संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।

५. देखिये, ऊपर पृ० २२९।

६. देखिये, मैत्रायणीसंहिता ४,७,४—'निरिन्द्रिया स्त्री पुमानिन्द्रियवाँस्तस्मात्पुमांसः सभां यन्ति न स्त्रियः।'

७. *Vedic Index*, II, 485.

ऋग्वेद में मेघों के उदर में संचरण करने वाली विद्युत् को घर के मध्य में संचरण करने वाली मनुष्य की स्त्री के समान कहा गया है।[१]

कुछ ऋग्वैदिक उल्लेखों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि विवाहित स्त्री को अविवाहित कन्या की अपेक्षा अपने परिधान के विषय में अधिक सावधानी से रहना पड़ता था। वह पति तथा परिवार के अन्य पुरुष सदस्यों के साथ व्यवहार में परिवार की पुत्रियों की तुलना में लज्जालु तथा संकोचशील होती थी और उसकी चेष्टाओं में नम्रता तथा संयम होता था। विवाहित स्त्री में लज्जा तथा संकोच को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता था, क्योंकि एक स्थल में इन्द्र के लिये बहने वाले सोम को विवाहित स्त्री के समान 'अभिसंवृत' कहा गया है।[२] नव-विवाहित वधू अपने परिधान के विषय में विशेषतः सतर्क रहती थी।[३]

(२) **नियोग अथवा अन्य विधि से पुत्र प्राप्त करने का अधिकार**—हिन्दू धर्मशास्त्रों में औरस पुत्र के अभाव में पुत्र गोद लेने अथवा देने आदि का अधिकार केवल पुरुष को ही है। वसिष्ठ-धर्मसूत्र में यह स्पष्ट कथन किया गया है कि यद्यपि अपत्य पर माता-पिता दोनों का अधिकार है,[४] फिर भी स्त्री पति की अनुमति के बिना न पुत्र का दान कर सकती है और न ही ले सकती है।[५] ऋग्वेद में पुत्र गोद लेने अथवा नियोग द्वारा प्राप्त करने के स्त्री के अधिकार के विषय में कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में पत्नी को पति की अनुपस्थिति में स्वयं पुत्र प्राप्त करने का अधिकार था।[६]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है,[७] पुरुकुत्सानी ने अपने पति पुरुकुत्स

---

१. गुहा चरन्ती मनुषो न योषा। ऋक् १,१६७,३।

२. अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु॥ ऋक् ८,१७,७।

३. यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव। ऋक् ८,२६,१३।

४. तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः। १५,२।

५. न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद् वान्यत्रानुज्ञानाद् भर्तुः। १५,५।

६. Sarkar (Dr.) S. C : *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 78.

७. देखिये, ऊपर पृ० १८३।

दौर्गह की अनुपस्थिति में त्रसदस्यु[1] नाम का पुत्र प्राप्त किया था।[2] ऋग्वेद में अनेक बार किसी वध्रिमती[3] नामक स्त्री द्वारा भी अश्विनौ की अनुकम्पा से हिरण्यहस्त नामक पुत्र की प्राप्ति का उल्लेख हुआ है।[4] त्रसदस्यु और हिरण्यहस्त दोनों की जन्म-कथा कुछ असाधारण-सी है और उनकी उत्पत्ति के प्रसङ्ग में केवल उनकी माताओं का ही कथन किया गया है, पिताओं का नहीं। इसलिये यह विश्वास किया जा सकता है कि इन दोनों का नियोग अथवा गोद लेने से सम्बन्ध है, जिसमें प्रमुख भाग इनकी माताओं ने लिया है। डा० द्वारकानाथ मित्तर के अनुसार सम्भवतः वध्रिमती ने अपनी पहल पर हिरण्यहस्त को गोद लिया था।[5] यदि ऋग्वेद का पुरुकुत्स और पुराणों का पुरुकुत्स एक ही व्यक्ति है, तो पुरुकुत्सानी ने पुत्र अपने देवर के साथ नियोग करके प्राप्त किया था।[6]

७. दाम्पत्य जीवन में एकनिष्ठा

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार यज्ञ और सप्तपदी सम्पन्न हो जाने के पश्चात् विवाह अविच्छद्य हो जाता है।[7] मनुस्मृति में कहा गया है : 'पति और पत्नी में मरण-पर्यन्त अव्यभिचार (एकनिष्ठा) होना चाहिये। संक्षेप में स्त्री और पुरुष का यही सबसे बड़ा धर्म है।'[8] एक अन्य स्थल पर मनु ने कहा है : 'विक्रय और त्याग से भी पत्नी पति से बिमुक्त नहीं होती है।'[9] उत्तरवर्ती

---

१. ऋग्वेद में त्रसदस्यु का अनेक बार उल्लेख हुआ है (ऋक् ४,३८,१; ७,१९,३; ८,८,२१ आदि) और उसका एक प्रतापशाली पूरु राजा के रूप में वर्णन किया गया है। लेकिन उसके लिये प्रयुक्त 'अर्धदेव' विशेषण से वह पौराणिक व्यक्ति प्रतीत होता है।

२. ऋक् ४,४२,८; ९।

३. वध्रिमती का शब्दार्थ 'नपुंसक पति वाली' समझा गया है (देखिये, *Vedic Index*, II, 240)।

४. ऋक् १,११६,१३; ११७,२४; ६,६२,७; १०,३९,७; ६५,१२।

५. *Position of Women in Hindu Law*, pp. 133–34.

६. डा० सरकार : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७८, पा० टि० १०।

७. देखिये, Kane : *History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I, p. 619.

८. अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ मनुस्मृति ९,१०१।

९. न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते। मनुस्मृति ९, ४६।

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार विवाह एक संस्कार है और कोई स्त्री संस्कार के कारण ही पत्नीत्व पद प्राप्त करती है, इसलिये यदि कोई पति अथवा पत्नी पतित भी हो जाये तो इसके कारण पूर्व किया गया संस्कार नष्ट नहीं हो जाता है। पत्नी व्यभिचारिणी होने से भी पत्नीत्व पद से मुक्त नहीं होती, क्योंकि जब वह प्रायश्चित्त कर लेती है, तो फिर उसका (विवाह) संस्कार नहीं किया जाता है।[1] परन्तु हिन्दू धर्म में विवाह की अविच्छेद्यता का सिद्धान्त हमेशा से मान्य नहीं रहा है। एक पत्नी के रहते हुए पुरुष को दूसरे विवाह का अधिकार तो प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्वीकार किया है, लेकिन कुछ प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने कुछ विशेष परिस्थितियों में स्त्री को भी दूसरा पति प्राप्त करने का अधिकार दिया है।[2]

स्त्री को दूसरा पति प्राप्त करने का अधिकार केवल धर्मशास्त्रों तक ही सीमित नहीं है। धर्मशास्त्रों में दूसरा विवाह करने वाली स्त्री को 'पुनर्भू' कहा गया है और विभिन्न धर्मशास्त्रों में 'पुनर्भू' से भिन्न-भिन्न अर्थ समझे गये हैं।[3] 'पुनर्भू' का अथर्ववेद में भी उल्लेख हुआ है।[4] अथर्ववेद के साक्ष्य से यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के काल में यह विश्वास किया जाने लगा था कि विवाह सम्बन्ध में बंधे हुए युगल का पारस्परिक बन्धन इस जन्म में ही नहीं, अपितु मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कुछ सामाजिक और धार्मिक क्रियाओं द्वारा पूर्व विवाह के बन्धनों को तोड़कर नया विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था और नये विवाह में बँधा हुआ युगल इस लोक और परलोक दोनों में एक इकाई समझा जाता

---

१. न च व्यभिचारादिभिस्तस्यापगमो युक्तः संस्कारनिमित्तत्वाद् दारशब्दस्य। तस्य च पतनेऽप्यनपगमात्। अत एव पतिता योषितः कृतप्रायश्चित्ताः पुनर्न संस्क्रियन्ते। याज्ञ० ३,२५३–५४ पर विश्वरूप की टीका।

२. वसिष्ठधर्मसूत्र १७,६७; कौटिल्य अर्थ० ३,३–४; पराशरस्मृति ४,२४।

३. 'पुनर्भू' के विभिन्न अर्थों के लिये देखिये, *History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I pp. 608—11.

४. या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दते परम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ अथर्व० ९,५,२७-२८।

था। अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण भी पूर्व विवाहित स्त्री से विवाह कर लेता था।[१]

ऋग्वैदिक काल में भी विवाहित जीवन की दशा लगभग अथर्ववेद-काल की जैसी ही थी। ऋग्वेद-काल में भी विवाह केवल सामाजिक विधि न होकर धार्मिक विधि भी समझी जाती थी। विवाह की विधि में देवों का आह्वान किया जाता था और पति यह कहता था कि उसे वधू देवों द्वारा गार्हपत्य कर्म के लिये प्रदान की गई है।[२] पति वधू का हाथ पकड़ते हुए उस से यह प्रतिज्ञा तथा कामना करता था: 'मैं सौभाग्य (सुहाग) के लिये तेरा हाथ पकड़ता हूँ, तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त कर।'[३] पुरोहित तथा उपस्थित लोग वर और वधू को इस प्रकार आशीर्वाद देते थे: 'तुम दोनों यहीं रहो, कभी वियुक्त न हो, पुत्रों और पौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए और अपने घर में प्रसन्न रहते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करो।'[४] देवों से प्रार्थना की जाती थी कि विवाहित जीवन स्थिर हो।[५] इस प्रकार यह प्रकट है कि ऋग्वैदिक काल में वैदिक आर्यों में दाम्पत्य की एकनिष्ठता का आदर्श अवश्य था। लेकिन यह आदर्श सर्वदा प्राप्त भी किया जाता रहा हो, इसमें पर्याप्त सन्देह है।

यद्यपि ऋग्वेद में कोई ऐसा ठोस उदाहरण नहीं है जिसमें विवाह-विच्छेद हुआ हो। लेकिन कुछ दैवत-आख्यानों से यह प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक काल में विवाह-विच्छेद हो सकता था। ऋग्वेद में एक पुरुष की एकाधिक पत्नियों का अनेक बार उल्लेख हुआ है,[६] लेकिन एक स्थल में त्यागी गई पत्नी का भी उल्लेख किया गया है।[७] इससे स्पष्ट है कि पति केवल 'अधिवेदन'

---

१. उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वेऽब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा। अथर्व० ५,१७,८।

२. भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।
ऋक् १०,८५,३६।

३. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
ऋक् १०,८५,३६।

४. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ऋक् १०,८५,४२।

५. सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः। ऋक् १०,८५,२३।

६. देखिये, ऊपर पृ० ३३०।

७. परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्। ऋक् १०,१०२,११।

(अन्य विवाह) ही नहीं कर सकते थे, अपितु पूर्व पत्नी का त्याग भी कर सकते थे। धर्मशास्त्रों में अधिवेदन और त्याग का अधिकार प्रायः पुरुषों को ही दिया गया है और पत्नी के लिये प्रत्येक अवस्था में पति-परायण रहने का आदेश दिया गया है।[1] लेकिन ऋग्वेद में पत्नियों द्वारा पति के त्याग का भी संकेत हुआ है। ऋग्वेद में यम की माता और महान् विवस्वान् की पत्नी के लुप्त हो जाने का उल्लेख हुआ है।[2] उर्वशी ने पुरुरवस् का त्याग कर दिया था।[3] ऋग्वेद १०,१०९ में भी किसी ब्राह्मण की त्यागी गई पत्नी के पति द्वारा पुनः स्वीकार कर लिये जाने का संकेत प्रतीत होता है। प्रो० विल्सन[4] और ग्रिफ़िथ[5] के अनुसार ऋग्वेद १०,१०२,११ में त्यागी गई पत्नी द्वारा पुनः पति प्राप्त कर लेने का उल्लेख हुआ है।[6] लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि परिवृक्ता द्वारा पहले ही पति को प्राप्त करने का संकेत है अथवा दूसरे विवाह द्वारा नया पति प्राप्त करने का। यदि इस ऋक् में परिवृक्ता द्वारा दूसरा पति पाने का संकेत हो तो स्पष्ट ही ऋग्वैदिक काल में पति के समान पत्नी को भी दूसरा विवाह कर लेने का अधिकार था। डा० सरकार का विचार है कि वैदिक काल में पत्नी पति के लुप्त हो जाने पर भी दूसरा विवाह कर लेती थी।[7] उन्होंने अपने इस विचार की पुष्टि में ऋक् ६,४९,८ को उद्धृत किया है।[8]

पति अथवा पत्नी के दूसरा विवाह करने अथवा विवाह विच्छेद कर

---

१. एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्। मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयात्पतिम्॥ महाभारत (*History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I, p. 612, f. n. 1440 में उद्धृत)।

२. यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।

ऋक् १०,१७,१।

३. ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ९५।

४. 'As a wife who has been abondoned rejoices to find her husband......' *Rigveda Trans.* Vol. VI, p. 194.

५. 'Like one forsaken, she hath found a hushand.' *Hymns of the Rigveda*, Vol. IV, p. 324.

६. देखिये, पृष्ठ ३५६ पा० टि० १।

७. *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 84.

८. वही, पा० टि० ५।

लेने के संकेतों के अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी संकेत हैं, जिनसे ऋग्वैदिक समाज में विवाहोपरान्त यौन-नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है कि पति-परायण और पति-सेवित पत्नी को आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था[१], पतिद्वेषिणी स्त्रियों को नरक का अधिकारी समझा जाता था,[२] और ऋग्वैदिक समाज में भी ऐसी 'ऋतचित्' (पवित्र) पत्नियाँ होती थीं जो पतिनिष्ठ होती थीं।[३] लेकिन साथ ही ऋग्वेद में ऐसे साक्ष्य का भी अभाव नहीं है जिससे प्रकट होता है कि पत्नियाँ अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों से भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करती थीं और कभी-कभी पति भी पत्नियों के दुराचार की उपेक्षा कर देते थे तथा उससे अपना अपमान नहीं समझते थे। ऋग्वेद १,१३४,३ में वायु से प्रार्थना की गई है: 'जार के समान सोती हुई स्त्री को जगाओ।'[४] ऋक् ४,५,५ में पतियों से द्वेष करने वाली पत्नियों का उल्लेख हुआ है और उनकी असत्य बोलने वाले पापियों से तुलना की गई है।[५] एक ऋक् में संकेत-स्थान में जाने वाली 'जारिणी' का कथन किया गया है।[६] ऋक् २,२९,१ में छिपकर सन्तान उत्पन्न करके उसे फेंक देने वाली स्त्री का उल्लेख हुआ है।[७] वैदिक आर्य पत्नी के सतीत्व की चिन्ता नहीं करते थे, यह बात इससे भी प्रकट होती है कि वरुण-प्रघास नामक यज्ञ में पत्नी यदि अपने प्रेमी का नाम बताकर प्रायश्चित्त कर लेती थी तो वह पति के साथ यज्ञ में बैठ सकती थी।[८] ऋग्वेद में भी वृषाकपायी-सूक्त में पत्नी का अभिमर्शन करने वाले के प्रति सहिष्णुता प्रकट की गई है। वृषाकपि द्वारा इन्द्राणी के साथ छेड़खानी[९] करने पर और इन्द्राणी द्वारा शिकायत किये जाने पर भी इन्द्र अपनी पत्नी का अपमान करने वाले के प्रति अत्यधिक शान्त रहता है और कहता है: 'इन्द्राणी,

---

१. अनवद्या पतिजुष्टेव नारी। ऋक् १,७३,३।

२. ऋक् ४,५,५।

३. स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सद् ऋतचिद्ध नारी। ऋक् ४,१६,१०।

४. प्र बोधया पुरन्धिं जार आ ससतीमिव। ऋक् १,१३४,३।

५. देखिये, ऊपर पृ० २५२ पा० टि० ३; पृ० २५३।

६. एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव। ऋक १०,३४,५।

७. धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः।

८. तैत्ति०ब्रा० १,६,५; शत०ब्रा० २,५,२,२०; का०श्रौ०सू० ५,५,६–१०।

९. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते। ऋक् १०,८६,९।

मित्र वृषाकपि के बिना मुझे सुख नहीं है।'[1]

६. विधवा

ऋग्वेद में विधवा का कई बार उल्लेख हुआ है,[2] लेकिन उन उल्लेखों से ऋग्वेद-काल में विधवा के जीवन, अधिकारों और कर्त्तव्यों के विषय में बहुत अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। फिर भी 'विधवा' शब्द से ही यह प्रकट है कि पति की मृत्यु नारी के जीवन का महान् दुर्भाग्य था। 'विधवा' शब्द की व्युत्पत्ति[3] से प्रकट है कि वह पति-वियोग की पीड़ा से काँप जाती थी। चर्मशिरस्[4] के अनुसार विधवा को 'विधवा' कहने का कारण यह है कि वह पति-शोक अथवा अन्य भय से विह्वल होकर इधर-उधर भागती थी।[5] ऋग्वेद में भी विधवा की इस विह्वलता की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। मरुतों की स्तुति में कहा गया है: 'इन (मरुतों) की तीव्र गति के कारण पृथिवी पति से वियुक्त स्त्री के समान काँप जाती है।'[6] जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऋग्वैदिक काल में भी कदाचित् अलङ्कार एवं प्रसाधन का अधिकार केवल सौभाग्यवती स्त्रियों को ही था।[7] विधवा स्त्रियों का जीवन प्राचीन काल में भी नीरस होता था, इस बात की व्यञ्जना षड्विंशब्राह्मण में भी हुई है, जहाँ साम-रहित ऋक् को विधवा के जीवन (जन्म) के समान कहा गया है।[8] विधवा के सम्बन्ध में निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जाता है:

(१) साम्पत्तिक अधिकार
(२) पुनर्विवाह अथवा नियोग
(३) अन्वारोहण (सती)

---

१. नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। ऋक् १०,८६,१२।

२. ऋक् ४,१८,१२; १०,१८,७; ४०,२; ८।

३. देखिये, ऊपर पृ० ७८।

४. 'चर्मशिरस्' यास्क द्वारा अपने निरुक्त में उद्धृत किसी प्राचीन आचार्य का नाम है।

५. विधावनाद्वा इति चर्मशिराः। निरुक्त ३,१५।

६. प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे। ऋक् १,८७,३।

७. देखिये ऋक् १०,१८; ७; ऊपर पृ० ३५३।

८. विधवाया इव त्वेवैतज्जन्म यदसाम्नी चतुर्थ्येवं ह वा एते विदुरिति। षड्विंश ब्रा० ३,७।

ऋग्वैदिक काल में विधवा के विषय में इन शीर्षकों के अन्तर्गत जो भी साक्ष्य उपलब्ध है उसका विवेचन किया जायेगा।

(१) **विधवा के साम्पत्तिक अधिकार**—जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में ऋग्वेद में कोई असंदिग्ध और निर्णायक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों के विषय में साक्ष्य का ऋग्वेद में नितान्त अभाव है। सम्भवतः ऋग्वैदिक काल में विधवा को पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। वह अपने भरण-पोषण के लिये अपने पुत्रों अथवा अपने मृत पति के भाइयों अथवा अन्य सम्बन्धियों पर निर्भर रहती थी। तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी संहिताओं[1] में स्त्रियों के दाय-निषेध से यह समझा जा सकता है कि इन संहिताओं के काल में विधवा को भी दाय का अधिकार नहीं था। यास्काचार्य के काल तक भी विधवा का दाय का अधिकार केवल दक्षिण भारत में ही स्वीकार किया जाता था।[2]

(२) **पुर्नविवाह अथवा नियोग**—ऋग्वैदिक काल में स्मृतिकारों के काल के समान विधवा को वैधव्य जीवन व्यतीत करने के लिये विवश नहीं किया जाता था। यदि विधवा चाहती थी तो वह अपने मृत पति के भाई (देवर) से विवाह कर सकती थी।[3] यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक काल में विधवा का देवर के साथ सम्बन्ध केवल निश्चित संख्या में पुरुष सन्तान उत्पन्न करने के लिये अस्थायी रूप से होता था,[4] अथवा वह देवर की पूर्ण रूप से पत्नी मानी जाती थी। ऋग्वेद में देवर के साथ विधवा के यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण का सूचक कोई संकेत नहीं है।

---

१. तैत्ति० सं० ६,५,८,२; मै० सं० ४,६,४; ऊपर पृ० २६४ पर उद्धृत।

२. गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्तः सभास्थाणुः। गृणातेः। सत्यसङ्गरो भवति। तं तत्र या अपुत्रा या अपतिका सा आरोहति तां तत्र अक्षेण आघ्नन्ति सा रिक्थं लभते। निरुक्त ३,५।

३. ऋक् १०,४०,२।

४. धर्मशास्त्रों में केवल पुत्रोत्पत्ति के लिये गुरुओं का आज्ञा से देवर अथवा अन्य निकट सम्बन्धी के साथ विधवा के यौन सम्बन्ध को 'नियोग' कहा गया है। 'नियोग' का उद्देश्य केवल पुत्रोत्पत्ति था। विधवा और नियुक्त पुरुष दोनों में से कोई-से का भी काम-भाव से प्रेरित होना गर्हित समझा जाता था।

कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के अन्त्येष्टि-सूक्त (१०–१८) की एक ऋक्[1] में विधवा के प्रति उसके पति के निकट सम्बन्धी का विवाह का प्रस्ताव माना है।[2] उन्होंने इस ऋक् के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार समझा है[3] : 'मुझ हाथ पकड़ने वाले प्रेमी पति के साथ तेरा यह जनित्व (जाया-भाव) प्रारम्भ हो गया है।' उनके अनुसार 'हस्तग्राभस्य', 'दिधिषोः', 'पत्युः' ये षष्ठ्यन्त पद नये होने वाले पति का संकेत करते हैं। सायणाचार्य ने भी इसमें दिधिषु[4] का विधवा के प्रति विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया है।[5] लेकिन इस ऋक् का यह अर्थ खींचातानी करके लगाया गया है। महामहोपाध्याय काणे का कथन है कि यह अर्थ 'हस्तग्राभस्य', 'पत्युः' और 'बभूथ' शब्दों की सार्थकता को पूर्ण रूप से प्रकट नहीं करता है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि इस ऋक् में पुरानी प्रथा का अनुसरण करके मृत पति के समीप लेटी हुई विधवा को मृत पति के समीप से उठ आने के लिये कहा जाता था। आश्वलायनगृह्यसूत्र[7] तथा बृहद्देवता[8] के अनुसार इस ऋक् से विधवा को चिता पर से उठाया जाता था। ऋग्विधान में, जो कि आश्वलायनगृह्यसूत्र और बृहद्देवता की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थ प्रतीत होता है[9], अवश्य यह कहा गया है कि पति के मर

---

१. उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥
ऋक् १०,१८,८।

२. Sarkar (Dr) S. C. : *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 79; *Vedic Index*, Vol. I, pp. 761—77; Dr. Altekar : *The Position of Women in Hindu Civilization*, p. 177.

३. Dr. Altekar : *Ibid*, p. 177, f. n. 1.

४. देखिये, ऊपर पृ० ३४०।

५. त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतज्जनित्वं जायात्वमभि सं बभूथ आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि। तैत्ति० आरण्यक ६,१ पर सायणभाष्य।

६. *History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I, p. 617.

७. तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकमिति। आश्व० गृ० सू० ४,२,१८।

८. उदीर्ष्व नारीत्यनया मृतं पत्यनुरोहति।
भ्राता कनीयान् प्रेतस्य निगद्य प्रतिषेधति॥ बृहद्देवता ७,१३।

९. Cf. *History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I, 619.

जाने पर अन्वारोहण की कामना करती हुई, पुत्रहीन भाई की पत्नी को सन्तान उत्पन्न करने के लिये देवर 'उदीर्ष्व' इत्यादि ऋक् द्वारा रोके।[1] लेकिन ऋग्विधान के इस कथन से भी इस ऋक् में अन्त्येष्टि के समय विवाह का प्रस्ताव नहीं माना जा सकता। इस तरह इस ऋक् में विधवा के प्रति देवर के विवाह-प्रस्ताव का संकेत संदिग्ध है।

यद्यपि ऋक् १०,१८,८ में विधवा के विवाह का संकेत संदिग्ध है फिर भी इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेदकाल में तथा परवर्ती काल में भी विधवा का पुनर्विवाह अधिकतर होता था। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है: 'हे मर्त्य, यह नारी पतिलोक की कामना करती हुई और प्राचीन धर्म (custom) का पालन करती हुई तुझ मृत के समीप लेटी है। तू यहाँ इसे प्रजा और धन दे।'[2] इस मन्त्र में 'तू यहाँ इसे प्रजा और धन दे' यह वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है और इससे प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के काल में विधवा दूसरा विवाह करके नये पति के साथ सन्तान और धन प्राप्त कर सकती थी। अथर्ववेद में एक अन्य स्थल में स्त्री के दूसरे विवाह का उल्लेख किया गया है और उसे अपने दूसरे पति के साथ समानलोक प्राप्त करने के लिये बलि देने का विधान किया गया है।[3] यह स्पष्ट है कि दूसरा पति प्राप्त करने वाली विधवा या परित्यक्ता स्त्री हो सकती थी। तैत्तिरीय-संहिता में 'दैधिषव्य' (विधवा के पुत्र)[4] का उल्लेख हुआ है।[5] इसलिये संहिता-काल में विधवा के पुनर्विवाह में कोई सन्देह नहीं है।

---

१. भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृते पतौ। देवरोऽन्वारुरुक्षन्तीमुदीर्ष्वेति निवर्तयेत्। ऋग्विधान ३,८,४, (ed. by Meyer), (*History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I, p. 618, f. n. 1455 में उद्धृत)।

२. इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥
अथर्व० १८,३,१।

३. अथर्व० ९,५,२७–२८। ऊपर पृ० ३६९ पा० टि० ४ में उद्धृत।

४. देखिये, *History of Dharmaśāstra*, Vol. II, Pt. I, p. 615; प्रो० कीथ ने 'दैधिषव्य' का अर्थ 'son of a second marriage' (अर्थात् पुनर्विवाह से उत्पन्न पुत्र) किया है (तैत्ति० सं०, अंग्रेजी अनुवाद १,२४३)।

५. तैत्ति० सं० ३,२,४,४ (अहे दैधिषव्योदतस्तिष्ठान्यस्य सदने सीद योऽस्मत् पाकतरः)।

(३) **अन्वारोहण अथवा सती (सत्ती)**[1]—कुछ धार्मिक भावनाओं और अन्ध-विश्वासों के कारण अनेक देशों तथा जातियों में मृत व्यक्ति के साथ उसकी विधवा पत्नी को जला देने अथवा गाड़ देने की प्रथा रही है। अनेक जातियों में ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं कि किसी राजा अथवा सरदार के साथ उसकी पत्नी अथवा पत्नियाँ, दास तथा उसके उपभोग की अन्य प्रिय वस्तुएँ अन्त्येष्टि की प्रथा के अनुसार जला अथवा गाड़ दी जाती थीं। यह प्रथा प्रायः योद्धा जातियों में प्रचलित रही है। अनेक इण्डो-यूरोपीय भाषा-भाषी जातियों में भी मृत पुरुष के साथ उसकी पत्नी अथवा पत्नियों को जला देने की प्रथा रही है। भारतवर्ष में पति के साथ, पीछे अथवा पहले पत्नियों के जलने के उल्लेख प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन अभिलेखों (epigraphic records) दोनों में पाये जाते हैं।[2] स्ट्रैबो के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब के 'कठ' लोगों में 'सती' की प्रथा प्रचलित थी।[3] आङ्गिरस-स्मृति[4], पाराशरस्मृति[5] तथा हारीतस्मृति[6] में अन्वारोहण को पतिव्रता का

---

१. पति के मरने पर विधवा के पति की चिता पर बैठकर जलने को सहमरण अथवा सहगमन अथवा अन्वारोहण कहा जाता है। लेकिन पति के अन्य देश में मर जाने पर और वहीं दाह कर दिये जाने पर पति की भस्म अथवा पादुका लेकर अथवा कोई अन्य अवशेष प्राप्त होने पर अकेले ही जलकर मर जाने को अनुमरण कहा जाता है। (देखिये, *History of Dharmaśāstra* Vol. II, Pt. I, pp. 627–28)। 'सती' शब्द से सहमरण और अनुमरण दोनों का ग्रहण होता है। अंग्रेजी पुस्तकों में 'सती' को 'सत्ती' (suttee) लिखा जाता है।

२. उदाहरणों के लिये देखिये, *History of Dharmaśāstra* Vol. II, Pt. I, pp. 626–629.

३. Strabo : XV. 1,30 and 62 (*Hamilton & Falconer's Translation, Vol. III*).

४. साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रपतनादृते ।
नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १,८७ पर अपरार्क द्वारा उद्धृत ।

५. ४.३१–३२ ।

६. ब्रह्मघ्नं वा सुरापं वा कृतघ्नं वापि मानवम् ।
यमादाय मृता नारी सा भर्तारं पुनाति हि ॥ वृद्धहारीत २०१ (डा० अल्तेकर द्वारा पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० १८४, पा० टि० ३ में उद्धृत) ।

एकमात्र धर्म तथा पति के लिये महान् फल का दाता कहा गया है।

परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि वैदिक काल में तथा प्राचीन धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में विधवा के मृत पति के साथ जलाये जाने का कोई उल्लेख नहीं है। धर्मसूत्रों में केवल विष्णुधर्मसूत्र में विधवा के लिये ब्रह्मचर्य के विकल्प में 'अन्वारोहण' का विधान किया गया है।[1]

धर्मशास्त्रों के उत्तरकालीन टीकाकारों[2] ने समाज में प्रचलित तथा अर्वाचीन धर्मग्रन्थों द्वारा प्रशंसित अन्वारोहण की प्रथा को वेदविहित सिद्ध करने के लिये ऋक् १०,१८,७–८ तथा अथर्ववेद १८,३,१ को उद्धृत किया है; परन्तु यदि इन वैदिक प्रसङ्गों पर गम्भीरता से विचार किया जाये और उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में उनके विनियोग पर दृष्टि डाली जाये तो ज्ञात होगा कि वैदिककाल में अन्वारोहण की प्रथा समाप्त हो गई थी। ऋक् १०,१८,७ इस प्रकार है :–

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥

'ये अविधवा, उत्तम पतियों वाली नारियाँ अञ्जन के रूप में घृत लगाकर बैठें। अश्रुरहित, रोगरहित तथा उत्तम रत्नों वाली स्त्रियाँ आगे स्थान ग्रहण करें।'

आश्वलायनगृह्यसूत्र[3] में ऋक् १०,१८,७ द्वारा शान्तिकर्म में आँखों में घृत आँजती हुई घर की युवति स्त्रियों को देखने का विधान किया गया है। शाङ्खायनश्रौतसूत्र[4] में इस ऋक् से आँखों में घृत आँजने का विधान किया गया है। बृहद्देवता[5] और बौधायनपितृमेधसूत्र[6] में भी इस ऋक् का विनियोग शान्ति तथा शुद्धि कर्म में मृत व्यक्ति के परिवार की युवतियों द्वारा आँखों में

---

१. मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा। विष्णुधर्मसूत्र २५,१४ (याज्ञवल्क्यस्मृति १,८६ पर मिताक्षरा में उद्धृत)।

२. उदाहरणार्थ, अपरार्क।

३. युवतयः पृथक्पाणिभ्यां दर्भतरुणकैर्नवनीतेनाङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामक्षिणी आञ्ज्य पराञ्चो विसृजेयुः। इमा नारीरविधवाः सुपत्नीरित्यञ्जाना ईक्षेत। ४,६,११–१२।

४. कुशैः स्त्रीणामक्षीण्यनक्तीमा नारीरिति। ४,१६,६।

५. यथा धात्र्युत्तरा त्वाष्ट्री ततो याम्या इमास्त्विति।
स्त्रीणामाशिषमाशास्ते तथैवाञ्जनकर्मणि। बृहद्देवता ७,१२।

६. बौधा० पितृ० सू० १,२१,११।

घृत आँजने के लिये किया गया है। इस ऋक् में एक प्राचीन प्रथा का उल्लेख प्रतीत होता है, जिसके अनुसार मृत व्यक्ति के परिवार की युवति स्त्रियाँ श्मशान में जाती थीं और अपनी आँखों में घृत आँजती थीं। सम्भवतः यह प्रथा आश्वलायनगृह्यसूत्र, बृहद्देवता तथा बौधायनपितृमेधसूत्रों के समय तक प्रचलित रही। इसलिये इस ऋक् से ऋग्वैदिक काल में विधवा के अन्वारोहण की प्रथा का प्रचलन सिद्ध नहीं होता।

ऋक् १०,१८,८ से अवश्य ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आर्य विधवा के अन्वारोहण से परिचित थे। लेकिन यदि इस ऋक् के अर्थ[1] पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ऋक् की रचना के समय में वैदिक आर्यों में विधवा के अन्वारोहण की प्रथा समाप्त हो गई थी और विधवा केवल आचार के निर्वाहमात्र के लिये मृत पति के समीप लेट जाती थी और उसके पति का कोई सम्बन्धी, जो अन्त्येष्टि के समय उपस्थित होता था, विधवा को उठने के लिये कहता था। मृत पति के समीप लेटने मात्र को यह समझ लिया जाता था कि विधवा अपने मृत पति के प्रति पत्नी का अन्तिम कर्त्तव्य (अर्थात् पति का मृत्यु के द्वार तक भी साथ देना) कर चुकी है।

ऋक् के पूर्वार्ध की ध्वनि से प्रतीत होता है कि वक्ता केवल आचार के निर्वाह मात्र के लिये ऐसा नहीं कह रहा है, बल्कि उसका अभिप्राय विधवा को प्राण त्यागने से रोकना है। आश्वलायनगृह्यसूत्र[2] में इस ऋक् का विनियोग पति के समीप उत्तर दिशा में बैठी हुई विधवा के उठाने में किया गया है। बृहद्देवता (७,१३) के अनुसार भी इस ऋक् से देवर मृत भाई की पत्नी को अन्वारोहण से रोकता था। शाङ्खायनश्रौतसूत्र १६,१३,१३ में इस ऋक् को तथा ऋक् १०,८५,२१–२२ को 'उत्थापिन्यः' (अर्थात् उठाने के लिये कही जाने वाली) कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल से ही इसका विनियोग विधवा को मृत पति के समीप से उठाने के लिये किया जाता था।[3]

---

१. देखिये, ऊपर पृ० ३४०।

२. आश्वलायनगृह्यसूत्र ४,२,१६–१८।

३. डा० हिलब्राण्ट ने इस ऋक् का विनियोग अश्वमेधयज्ञ में अश्व के समीप लेटी हुई महिषी को उठाने में माना है, लेकिन इस ऋक् के अन्त्येष्टि-सूक्त में होने के कारण यह मत मान्य प्रतीत नहीं होता। (देखिये, *Vedic Index*, I, 477).

अथर्ववेद १८,३,१ से भी यही प्रतीत होता है कि मृत पति के साथ विधवा के अन्वारोहण की प्रथा बहुत प्राचीन काल में थी और अथर्ववेद के काल में उसका केवल प्राचीन धर्म (custom) समझकर नाम मात्र को निर्वाह किया जाता था और विधवा के लिये इसी लोक में धन और प्रजा की कामना की जाती थी।[1] तैत्तिरीय-आरण्यक में सम्भवतः विधवा को लक्ष्य करके कहा गया है : 'श्री, ब्रह्म, तेज तथा बल के लिये मृत के हाथ से सुवर्ण लेकर तू यहीं रह और हम भी यहीं सुख से रहते हुए स्पर्धा करने वाले सब शत्रुओं को जीतें। श्री, क्षत्र, ओज और बल के लिये मृत के हाथ से धनुष लेकर यहीं रह और हम भी यहीं सुख से रहते हुए स्पर्धा करने वाले सब शत्रुओं को जीतें। श्री, विश्, पुष्टि और बल के लिये मृत के हाथ से मणि लेकर तू यहीं रह और हम भी यहीं सुख से रहते हुए स्पर्धा करने वाले सब शत्रुओं को जीतें।'[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अन्त्येष्टि के समय की जाने वाली किसी रीति का उल्लेख है, जिसमें पति की चिता पर से उठती हुई ब्राह्मण की पत्नी अपने मृत पति के हाथ से सुवर्ण, क्षत्रिय की पत्नी धनुष और वैश्य की पत्नी मणि लेती थी और यह आशा प्रकट की जाती थी कि विधवा और उसके सम्बन्धी प्रसन्न तथा समृद्ध जीवन व्यतीत करेंगे।[3] ऋग्वेद १०,४०,२ से भी यह प्रकट होता है कि विधवा पति के मरण के उपरान्त भी जीवित रहती थी और उसका अपने पति के भाई के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध होता था।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि ऋग्वैदिक आर्य विधवा के अन्वारोहण से परिचित थे, और यह भी सम्भव है कि यदा-कदा ऋग्वैदिक आर्यों में भी विधवा के अन्वारोहण की घटना हो जाती हो, लेकिन प्रचलित

---

१. देखिये, ऊपर पृ० ३७६।

२. सुवर्णं हस्तादाददाना मृतस्य श्रियै ब्रह्मणे तेजसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुशेवा विश्वा स्पृधो अभिमातीर्जयेम॥
धनुर्हस्तादाददाना मृतस्य श्रियै क्षत्रायौजसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुशेवा विश्वा स्पृधो अभिमातीर्जयेम॥
मणिं हस्तादाददाना मृतस्य श्रियै विशे पुष्ट्यै बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुशेवा विश्वा स्पृधो अभिमातीर्जयेम॥
तैत्ति० आरण्यक ६,१।

३. देखिये तैत्ति० आरण्यक (६,१) पर सायणभाष्य में उद्धृत कल्प; Altekar : *Position of Women in Hindu Civilization*, p. 139.

प्रथा के रूप में विधवा का अन्वारोहण किन्हीं भी कारणों से बन्द हो गया था। वैदिक काल में (ऋग्वेद से लेकर गृह्यसूत्रों के काल पर्यन्त) अन्वारोहण केवल प्रतीक के रूप में किया जाता था। विधवा प्राचीन परिपाटी का पालन करती हुई मृत पति की चिता पर बैठती थी, परन्तु विधवा का देवर अथवा अन्य कोई सम्बन्धी उसे सान्त्वना देता था तथा उसे चिता पर से उठा लेता था। सारे वैदिक साहित्य में विधवा के अन्वारोहण की प्रशंसा में एक भी वचन उपलब्ध नहीं है और धर्मसूत्रों में से भी, केवल विष्णुधर्मसूत्र को छोड़कर, किसी ने विधवा के लिये अन्वारोहण का विधान नहीं किया है। विष्णुधर्म-सूत्र में भी विधवा को ब्रह्मचर्य और अन्वारोहण दोनों में विकल्प की अनुमति दी है।[1]

१०. ऋग्वेद में स्त्री की निन्दा के व्यञ्जक वचन

ऊपर देखा गया है कि ऋग्वैदिक काल में धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से पत्नी अथवा स्त्री की स्थिति अत्युन्नत थी। उसके किसी भी धार्मिक कृत्य में सम्मिलित होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वह सामाजिक अथवा धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अथवा केवल मनो-विनोद के लिये आयोजित सभा, विदथ और समनों में भाग ले सकती थी। वह पति के साथ गृह की स्वामिनी होती थी, इसीलिये पति के समान उसे भी 'दम्पति' या 'गृहपत्नी' कहा जाता था। वह घर के बड़े-बूढ़े, युवा और किशोर स्त्री-पुरुषों पर शासन करती थी। घर के दास तथा पशु उसके निरीक्षण में रहते थे। किन्हीं-कन्हीं विचारकों की दृष्टि में तो जाया ही घर था (जायेदस्तम्)। परन्तु ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी वचन आये हैं जिनसे ऋग्वैदिक काल में स्त्री के विषय में ऋग्वैदिक-समाज में प्रचलित विपरीत धारणाओं का भी पता चलता है। क्योंकि ऋग्वेद-काल में अविवाहित स्त्रियों को अपने योग्य पति के निर्वाचन में अत्यधिक स्वतन्त्रता थी और सम्भवतया कोई कन्या एक साथ अनेक युवकों के प्रति अपना प्रेम प्रकट करती थी, इसलिये स्त्रियाँ मन की चञ्चलता तथा बुद्धि की क्षुद्रता के लिये कुख्यात थीं। एक ऋक् में किसी प्रेयसी से वञ्चित पुरुष के भाव को इस तरह प्रकट किया गया है: 'इन्द्र ने भी कहा है कि स्त्री का मन वश में नहीं किया जा सकता और उसकी बुद्धि लघु होती है।'[2] एक अन्य ऋक् में तो

१. देखिये, ऊपर पृ० ३७८ पा० टि० १ में उद्धृत।

२. इन्द्रश्चिद् घा तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः।
उतो अह क्रतुं रघुम्॥ ऋक् ८,३३,१७।

स्त्रियों की बहुत ही तीव्र निन्दा की गई है। पुरुरवस् के उर्वशी के वियोग में प्राण-त्याग कर देने के प्रस्ताव पर उसकी मूर्खता का उद्घाटन करते हुए कहा गया है : 'स्त्रियों की मित्रता स्थिर नहीं होती, इनके हृदय सालावृकों के होते हैं।'[1] ऋग्वैदिक आर्यों में स्त्रियों के प्रति हीनता के कुछ विचार प्रचलित थे, यह बात इससे भी प्रकट होती है कि उनमें यह अन्ध-विश्वास प्रचलित था कि वधू के वस्त्र को अपने अङ्ग पर धारण करने से वर का कान्तिमान् शरीर भी कान्तिहीन हो जाता है।[2] ऋग्वेद में उदार और दयालु हृदय वाली स्त्री को भी देव-पूजा तथा दान न करने वाले पुरुष से ही अच्छा कहा गया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि साधारणतया स्त्री को पुरुष से हीन समझा जाता था।

लेकिन ऋक् ८,३३,१७ तथा १०,९५,१५ जिनमें स्त्रियों की स्पष्ट रूप से निन्दा की गई है, विवाहित स्त्री अर्थात् पत्नी को लक्ष्य करते हैं या नहीं, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। यह सम्भव है कि ऋक् ८,३३,१७ नाचने गाने वाली स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा गया हो अथवा अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने में असफल हुए निराश प्रेमी का उद्गार मात्र हो। ऋक् १०,९५,१५ का उद्देश्य स्पष्टतः पत्नी के सन्निकट वियोग में प्राण-त्याग की धमकी देने वाले पति को वैसा करने से रोकना है, इसलिये स्त्री-जाति मात्र पर चञ्चलता तथा पाषाण-हृदयता का आरोप लगाया गया है। स्त्री-निन्दा के व्यञ्जक इन वचनों से ऋग्वैदिक काल में स्त्री-जाति अथवा पत्नी के प्रति समाज के सामान्य दृष्टिकोण का अनुमान लगाना आपत्तिपूर्ण होगा।

—: ० :—

---

१. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।
ऋक् १०,९५,१५

२. अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते॥ ऋक् १०,८५,३०।

३. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः॥
ऋक् ५,६१,६।

अध्याय १०

अन्य पारिवारिक सम्बन्ध

एकाकी परिवार में पाये जाने वाले सम्बन्धों—माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन तथा पति और पत्नी का विवेचन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है। ऋग्वेद में जिस परिवार का उद्घाटन हुआ है, उसमें सामाजिक कर्त्तव्यों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध उपर्युक्त ही हैं। परन्तु इससे यह विचार बना लेना कि ऋग्वैदिक काल में केवल एकाकी परिवार होते थे, भ्रान्तिपूर्ण ही होगा। ऋग्वेद में ऐसे संकेत मिलते है[1] जिनसे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक परिवार में कम से कम तीन पीढ़ियों के व्यक्ति रहते थे। स्वापन-सूक्त (ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ५५) में किसी घर में रहने वाले सदस्यों में माता और पिता के अतिरिक्त विश्पति (जो कदाचित् पिता का पिता अर्थात् दादा हो सकता था), ज्ञाति तथा अनेक नारियों का उल्लेख है,[2] जिससे प्रकट होता है कि एक परिवार में बहुत से सदस्य होते थे। लेकिन ऋग्वेद में इन अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों का उल्लेख बहुत ही कम हुआ है और उनके सामाजिक कर्त्तव्यों के विषय में ऋग्वेद से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। नीचे इन अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों के विषय में ऋग्वेद में जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर उनके कर्त्तव्यों का विवेचन किया जायेगा।

क्योंकि एकाकी परिवार के सदस्यों से भिन्न पारिवारिक सम्बन्धियों के विषय में ऋग्वेद से प्राप्त होने वाली सूचना बहुत ही अल्प तथा अपूर्ण है, इसलिये इन सबका विवेचन इस एक अध्याय में ही प्रस्तुत किया जायेगा। परन्तु साथ ही इन सम्बन्धियों की अनेक कोटियाँ हैं, इसलिये विवेचन की विशदता के लिये इनका निम्न अनुच्छेदों के अन्तर्गत अध्ययन किया जायेगा—

(१) पितृपक्षीय पुरुष सम्बन्धी (agnates)
(२) पितृपक्षीय स्त्रियाँ और उनसे होने वाले सम्बन्धी (cognates)
(३) मातृपक्षीय सम्बन्धी

---

१. ऋक् १०,८५,४२; ४६।

२. ऋक् ७,५५,५–८।

(४) विवाह-जात सम्बन्धी (affines)

(५) अन्य

१. पितृपक्षीय पुरुष सम्बन्धी (agnates)

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इण्डो-यूरोपीय और इण्डो-ईरानी परिवारों के समान ऋग्वैदिक परिवार भी सजात्यों का परिवार था जिसमें पितृपक्ष की कई पीढ़ियों के व्यक्ति एक साथ रहते थे। ऐसे परिवार में पिता, पुत्र और भाइयों के अतिरिक्त दादा, चाचा-ताऊ, चचेरे-तयेरे भाई, भतीजे और पोते आदि पुरुष सम्बन्धी भी रहते थे।

(अ) पिता का पिता (दादा)—ऋग्वेद में दादा के लिये कोई विशेष शब्द नहीं है। दादा अर्थ का बोध 'पितर्' शब्द से 'मह्', 'पूर्व', 'बृहत्', 'प्रत्न' आदि विशेषण जोड़कर कराया गया है।[१] कुछ स्थलों में 'पितुष्पितर्' (अर्थात् 'पिता का पिता') शब्द का भी 'दादा' के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[२] यह स्मरणीय है कि ऋग्वेद में 'मह् पितर्', 'पूर्व पितर्' आदि शब्दों का प्रयोग अधिकतर देवों के प्रसङ्ग में किया गया है जहाँ उन्हें रूढि से वैसा कहा गया है। मनुष्यों के प्रसङ्ग में 'मह् पितर्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक बार हुआ है, जहाँ किसी पौराणिक (legendary) पुरुष उशनस् काव्य का उल्लेख हुआ है।[३] 'दादा' के लिये विशेष शब्द—'पितामह', 'ततामह'—सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलते हैं और आगे इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है। सम्भवतः पिता से पूर्व की पीढ़ी के पूर्वजों को 'पितर्' ही कहा जाता था।

दादा के विषय में ऋग्वैदिक साक्ष्य इतना अल्प है कि उसके अधिकार तथा कर्त्तव्यों के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

(आ) पिता के भाई (चाचा, ताऊ)—यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है[४] कि 'पिता के भाई' का वाचक शब्द 'पितृव्य' इण्डो-यूरोपीय काल से चला आ रहा है। लेकिन ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में यह शब्द नहीं पाया जाता। 'पितृव्य' शब्द का प्रयोग पाणिनि की अष्टाध्यायी (४,२,३६) में

---

१. ऋक् ३,५४,९; ५,४७,३; १०,३,२; देखिये, ऊपर पृ० ११२।

२. ऋक् ६,१६,३५।

३. परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम्।
ऋक् ६,२०,११; देखिये ऊपर पृ० ११३।

४. ऊपर पृ० ५१।

तथा आश्वलायनगृह्यसूत्र (१,२४) में हुआ है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में मधुपर्क-विधि में पितृव्य का आचार्य और श्वसुर के पश्चात् परन्तु मातुल (मामा) से पूर्व निर्देश किया गया है।[1] अथर्ववेद में 'पिता के भाई' का 'पितृबन्धु' से निर्देश किया गया है[2], लेकिन उसके किसी कर्त्तव्य या अधिकार का उल्लेख नहीं हुआ है।

(इ) **चचेरे-तयेरे भाई** (cousins)—चचेरे-तयेरे भाइयों को वैदिक काल में कदाचित् 'भ्रातृव्य' कहा जाता था। 'भ्रातृव्य' का अथर्ववेद तथा उत्तरवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में बार-बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में 'भ्रातृव्य' शब्द केवल एक बार 'अभ्रातृव्य'[3] समासयुक्त-पद में आया है, जहाँ 'भ्रातृव्य' शब्द का अर्थ निश्चित करना कठिन है। अथर्ववेद और उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों में 'भ्रातृव्य' को 'द्विषत्', 'पाप्मा' आदि कहा गया है और उसे नष्ट अथवा पराभत करने के लिये अनेक उपाय दिये गये हैं, जिससे प्रकट होता है कि अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों के काल में 'भ्रातृव्य' का अर्थ शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप में 'भ्रातृव्य' का अर्थ 'पिता के भाई का पुत्र' रहा होगा।[4] परन्तु संयुक्त-परिवार में विवाह तथा सम्पत्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में अनेक भाइयों के पुत्रों में परस्पर स्पर्धा होने के कारण द्वेष और कलह रहता होगा और इस प्रकार निकट सम्बन्धियों में सहज शत्रुता के कारण उनका वाचक शब्द शत्रु का पर्यायवाची हो गया होगा।[5] अथर्ववेद में 'भ्रातृव्य' का 'भ्राता' और 'स्वसा' के साथ उल्लेख हुआ है, जहाँ बलास, कासिका और पामन् (खुजली) रोगों को तक्मन् नामक रोग का क्रमशः भाई, बहिन और 'भ्रातृव्य' कहा गया है।[6]

१. आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च। आश्व० गृ० सू० १.२४।

२. छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु। अथर्व० १२,५,४३। (१२,६,५)।

३. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। ऋक् ८,२१, १३।

४. डेलब्रूक ने 'भ्रातृव्य' का अर्थ 'एक प्रकार का भाई' माना है। (*Cf. Vedic Index*, II, p. 114, f. n. 8); व्हिटनी ने अथर्ववेद (१०,६,१; १५,१,८) में भ्रातृव्य का अर्थ 'cousin' किया है।

५. पाणिनि ने 'भ्रातृव्य' शब्द को सम्बन्धी अर्थ में 'व्यत्' प्रत्यय से और सपत्न अर्थ में 'व्यन्' प्रत्यय से निष्पन्न माना है। अष्टाध्यायी ४,१,१४४; १४५।

६. तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।
पाप्मना भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम्॥ अथर्व० ५,२२,१२।

इसलिये 'भ्रातृव्य' से अवश्य ही किसी ऐसे सम्बन्धी का अभिप्राय है जो भाई और बहिन की कोटि का है; लेकिन निकटता की दृष्टि से जिसका स्थान भाई और बहिन के बाद आता है। ऋग्वेद ८,२१,१३ में भी 'भ्रातृव्य' का 'अनापि' के साथ प्रयोग हुआ है जिससे यह सूचित होता है कि 'भ्रातृव्य' किसी सम्बन्ध का वाचक शब्द है। अथर्ववेद और उत्तरवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मणों में भ्रातृव्यों की पारस्परिक स्पर्धा और द्वेष के उल्लेखों से यही सम्भव प्रतीत होता है कि 'भ्रातृव्य' का अर्थ 'पिता के भाई के पुत्र' था, क्योंकि संयुक्त-परिवार में दो भाइयों के पुत्रों में सम्पत्ति के विभाजन आदि विषयों पर असन्तोष के कारण कलह और शत्रुता हो जाना नितान्त स्वाभाविक था।

उत्तरवर्ती वैदिक काल में भ्रातृव्यों के पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण नहीं थे। इनमें प्रायः कलह होता रहता था और भ्रातृव्यों को नष्ट और पराभूत करने के लिये अनेक जादू और टोने-टोटके किये जाते थे। परन्तु भ्रातृव्यों के सम्बन्धों की ऐसी ही अवस्था ऋग्वैदिक काल में भी रही थी, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस विषय में ऋग्वेद का साक्ष्य इतना कम है कि उसके आधार पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता है। वैसे यह सम्भव है कि ऋग्वैदिक काल में भी भ्रातृव्यों में परस्पर विवाद की घटनायें भी होती रहती हों, क्योंकि ऋग्वेद में कई बार 'जामि' शत्रुओं का भी उल्लेख हुआ है।[1]

(ई) **भाई का पुत्र (भतीजा)**—ऋग्वेद में भाई के पुत्रों का केवल एक बार 'भ्रातुः पुत्र' शब्द से उल्लेख हुआ है, जहाँ इन्द्र के लिये कहा गया है कि अपने भाई के पुत्रों (मरुतों) को उत्साहित करते हुए उसने द्यौ और पृथिवी को ऊपर रोके रखा।[2] ऋग्वेद के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि पितृव्य और भतीजों के सम्बन्ध प्रायः सौहार्दपूर्ण होते थे और वे एक दूसरे की सहायता करते थे।[3]

भाई के पुत्र को कदाचित् 'भ्रातृव्य' शब्द से भी निर्दिष्ट किया जाता था, क्योंकि अवस्ता में 'भ्रातृव्य' के समानप्रभव (cognate) शब्द 'brāturya'

---

१. देखिये, ऋग्वेद १,१००,११; ४,४,५; ६,१९,८; २५,३; ४४,१७; १०,६९,१२।

२. उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान् मघवन् तित्विषाणः। ऋक् १०,५५,१।

३. हिन्दी भाषा की एक कहावत में भी भतीजे को भाई की अपेक्षा अधिक प्रिय कहा गया है—'भाई से भतीजा प्यारा'।

का अर्थ 'भाई का पुत्र' होता है और लौकिक संस्कृत में भी 'भ्रातृव्य' का अर्थ 'भाई का पुत्र' भी होता है।[1] सामान्यतया लौकिक संस्कृत में 'भाई के पुत्र' के वाचक शब्द 'भ्रात्रीय' और 'भ्रातृज' हैं और आधुनिक आर्य भाषाओं में 'भतीजे' के वाचक शब्द इन्हीं दोनों शब्दों से निकले प्रतीत होते हैं। 'भ्रातृव्य' शब्द की व्युत्पत्ति—भ्रातुरपत्यम्—से भी यह सम्भव प्रतीत होता है कि 'भ्रातृव्य' का अर्थ 'भाई का पुत्र' हो।[2]

(उ) **पुत्र का पुत्र (पोता)**—ऋग्वेद में 'पुत्र का पुत्र' इस अर्थ में 'नपात्' और नप्तर् (नप्तृ) इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'नपात्' इण्डो-यूरोपीय *nepot का समानप्रभव (cognate) है।[3] ऋग्वेद में 'नपात्' शब्द का प्रयोग 'पुत्र', 'पौत्र' और 'वंशज' अर्थ में हुआ है।[4] 'नप्तर्' शब्द भी 'नपात्' से सम्बद्ध प्रतीत होता है। ऋग्वेद में दोनों ही शब्दों के प्रयोग में बड़ी अव्यवस्था है। प्रायः अग्नि आदि देवों को इस या उस का 'नपात्' अथवा नप्तर्' कहा गया है जिससे इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। लेकिन ऋग्वेद में कुछ स्थल ऐसे हैं[5] जहाँ स्पष्ट रूप से 'नपात्' अथवा 'नप्तर्' का अर्थ 'पुत्र का पुत्र' है।[6]

ऋग्वेद में पुत्र और पौत्र का अर्थ अभिव्यक्त करने के लिये एक अन्य विधि का भी प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में अनेक बार अपत्य के वाचक दो-दो शब्दों का एक साथ प्रयोग किया गया है[7]—तोक-तनय; तुच्-तन्। ऐसे स्थलों में पूर्ववर्ती शब्द का अर्थ पुत्र और उत्तरवर्ती शब्द का अर्थ पौत्र है।[8]

---

१. श्वशुर्यौ देवरश्यालौ भ्रातृव्यौ भ्रातृजद्विषौ। अमरकोश ३,३,१४३।

२. व्हिटनी ने अथर्ववेद (२,१८,१) में भ्रातृव्य' का अर्थ 'adversary' (शत्रु) किया है, लेकिन पादटिप्पणी में इसका शाब्दिक अर्थ 'nephew', 'brother's son' (भतीजा) किया है।

३. अवस्ता—napāt ; ग्रीक—νεποδες ; लैटिन—nepo't ; एंग्लो-सैक्सन—nefo ; अंग्रेजी—nephew आदि ; देखिये ऊपर पृ० ५२।

४. देखिये ऊपर पृ० १५८–५६।

५. ऋक् ६,२०,११; ८,१७,१३; १०,३३,७; ८५,४२।

६. देखिये, ऊपर पृ० १५८।

७. ऋक् ८,१८,१८; ६,६१,६; १०,४,७।

८. देखिये ऊपर पृ० १५०।

'पौत्र' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद[1] और आगे ही पाया जाता है।

ऋग्वैदिक साक्ष्य से दादा और पोते के अधिकारों और कर्त्तव्यों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि दादा को पोते बहुत ही प्रिय होते होंगे, क्योंकि ऋग्वेद में पुत्र-पौत्रों की बार बार कामना की गई है। ऋक् ६,२०,११ में 'नपात्' को 'अनुदेय' कहा गया है और नपात् देने के लिये इन्द्र की प्रशंसा की गई है।

ऋग्वेद में 'प्रणपात्' शब्द से एक बार 'प्रपौत्र' का भी उल्लेख हुआ है।[2]

२. पितृपक्षीय स्त्रियाँ (patrilineal females) और उनके द्वारा होने वाले सम्बन्ध (cognates)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऋग्वैदिक परिवार में पितृपक्षीय स्त्रियों या उनसे होने वाले सम्बन्धियों का कोई महत्त्व नहीं था। ऋग्वेद में पिता की बहिन की सन्तान का उल्लेख केवल एक बार खिल-भाग में ही हुआ है। पुत्री या बहिन की सन्तानों का ऋग्वेद में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कदाचित् उनकी सन्तान को आत्मीय स्वीकार नहीं किया जाता था। इन सम्बन्धियों का महत्त्व वैदिक काल के उत्तर भाग में ही प्रारम्भ हुआ था।

(अ) पिता की बहिन (पितृष्वसर्) और उसकी सन्तान—यद्यपि यह सम्भव है कि पिता की अविवाहित बहिन भी परिवार में रहती हो, क्योंकि ऋग्वेद में पिता के साथ रहने वाली 'अमाजुर्' कन्याओं का उल्लेख हुआ,[3] लेकिन ऋग्वेद में उसके साथ सम्बन्ध को प्रकट करने वाला कोई शब्द नहीं आया। उत्तरकाल में भी उसका 'पितृष्वसर्' अथवा 'पितुःष्वसर्' समास-युक्त पद से निर्देश किया गया है, जिससे प्रकट होता है कि 'पिता की बहिन' का सम्बन्ध मूल सम्बन्ध नहीं है। उत्तरकाल में पिता की बहिन की सन्तान के लिये 'पैतृष्वस्रीय' और 'पैतृष्वसेय' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद के खिल-भाग में, जो स्पष्टतः बाद में जोड़ा गया है, 'पिता की बहिन की पुत्री' का केवल एक बार उल्लेख हुआ है।[4] लेकिन वहाँ भी उसके सम्बन्ध के स्वरूप का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता, क्योंकि जिस ऋक् में

१. अथर्व० ६,५,३०; ११,७,१६; १८,४,३९।

२. ऋक् ८,१७,१३।

३. देखिये, ऊपर पृ० २३३–३४; २६५।

४. तृप्तां जुहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव। अध्याय २, खिल १४,६। (ऋग्वेद-संहिता खण्ड ४, परिशिष्ट, पूना संस्करण)।

पैतृष्वसेयी का उल्लेख हुआ है, उसका उपलब्ध पाठ इतना भ्रष्ट तथा संदिग्ध है कि उत्तरवर्ती टीकाकारों ने उसका दो परस्पर विरोधी प्रथाओं का औचित्य सिद्ध करने में प्रयोग किया है और उसकी दो विरुद्ध व्याख्यायें की गई हैं। एक व्याख्या के अनुसार पिता की बहिन की पुत्री के साथ विवाह को प्रशंसनीय समझा गया है, परन्तु दूसरी व्याख्या के अनुसार उसके साथ विवाह वर्जित ठहराया गया है।[1] कदाचित् वैदिक काल में पिता की बहिन की पुत्री से विवाह सम्भव था,[2] क्योंकि शतपथब्राह्मण में एक ही पुरुष से पति (अत्ता) और पत्नी (आद्या) की उत्पत्ति का कथन किया गया है।[3]

(आ) **पुत्री की सन्तान**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऋग्वेद में पुत्री का 'दुहितर्', 'योषा', 'योषणा' और 'कन्या' आदि शब्दों से अनेक बार उल्लेख हुआ है। लेकिन ऋग्वेद में दुहिता का अत्यधिक उल्लेख होने पर भी दुहिता की सन्तान के साथ सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाला कोई शब्द नहीं आया है। ऋग्वेद में केवल एक बार 'दुहितुर्नप्त्यम्'[4] शब्द से पुत्री की सन्तान का उल्लेख हुआ है। यहाँ भी सम्भवतः उस पुत्री की सन्तान का उल्लेख है, जिसे पुत्रहीन पिता ने 'पुत्रिका' बना लिया है।[5]

पुत्री की सन्तान के लिये 'दौहित्र', 'दौहित्री' शब्द का प्रयोग विद्यमान वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता। पुत्री के पुत्र का 'दौहित्र' शब्द से सर्व-प्रथम उल्लेख निरुक्त में हुआ है।[6] महाभारत तथा आगे सम्बन्धियों में दौहित्र को स्वीकार किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि सौ पुत्रों के होते हुए भी गान्धारी पुत्री की कामना करती थी, क्योंकि पुत्री के अभाव में उसके पति को दौहित्र से प्राप्त होने वाला लोक नहीं मिल सकता था।[7] मनुस्मृति, वसिष्ठधर्मसूत्र तथा पारस्करगृह्यसूत्र से दौहित्र की ओर भी अधिक निकटता

---

१. देखिये, *History of Dharmaśāstra,* Vol. II, Pt. I, pp. 461–62.

२. वही।

३. समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते। शतपथ ब्रा० १,८,३,६।

४. ऋक् २,३१,१।

५. देखिये, निरुक्त ३,४–५।

६. नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति। निरुक्त ३,४।

७. महाभारत, आदिपर्व (पूना संस्करण, Vol. 1, Appendix 1. 63)।

प्रकट होती है। उसे श्राद्ध को पवित्र करने वाले तीन में से एक कहा गया है और नाना की मृत्यु होने पर उसके लिये एक दिन के आशौच का विधान किया गया है तथा उसे नाना की ऊर्ध्व-क्रिया में भाग लेने का अधिकारी कहा गया है।[१] लेकिन वैदिक काल में दौहित्र के सम्बन्ध का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद १,१२४,७ में पुत्रहीन पिता की पुत्री का पिण्डदान के लिये पितृकुल में जाने का संकेत माना है,[२] लेकिन इस ऋक् का अर्थ निश्चित नहीं है, इसलिये ऋग्वैदिक काल में दौहित्र के अधिकार अथवा कर्त्तव्यों के विषय में कोई निश्चित प्रकाश नहीं पड़ता। इतना निश्चित है कि निरुक्त, बृहद्देवता तथा धर्मसूत्रों के काल में तथा उससे कुछ समय पूर्व से परिवार में दौहित्र का महत्त्व बढ़ गया था और उसे नाना का धार्मिक उपकार कर सकने में समर्थ समझा जाने लगा था।[३]

(इ) **बहिन की सन्तान**—जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है, ऋग्वेद में बहिन का बार-बार उल्लेख हुआ है। पहले यह भी प्रदर्शित किया गया है कि ऋग्वैदिक काल में भाई और बहिन का सम्बन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण था। बहिन पिता की अपेक्षा भाई पर अधिक आश्रित रहती थी। लेकिन ऋग्वेद में माता के भाई (अर्थात् मामा) और बहिन के पुत्र अथवा पुत्री (भानजे, भानजी) के सम्बन्धों का कोई स्पष्ट और असंदिग्ध उल्लेख नहीं मिलता। प्रो० सीग (Sieg) ने ऋक् १०,६०,६ में[४] 'नद्भ्यः' शब्द का अर्थ 'बहिन के पुत्र' माना है, लेकिन 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों का मत है कि सम्भवतः इसका अर्थ 'पौत्र' है।[५] रौथ[६] और ग्रासमान[७] के अनुसार 'नद्भ्यः' में प्रकृति-अंश 'नह्' है जिसका अर्थ 'bond' (सम्बन्ध) है।

बहिन के पुत्र का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख यजुर्वेद की तैत्तिरीय[८] और

---

१. मनुस्मृति ३,१४८; २३४; २३५; ५,८१; वसिष्ठधर्मसूत्र ६,३५; पार० गृ० सू० ३,१०,५३।

२. देखिये, ऊपर पृ० २५३।

३. Kapadia (Dr.) K. M. : *Hindu Kinship*, p. 122.

४. अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता। ऋक् १०,६०,६।

५. *Vedic Index*, I, 438.

६. St. *Petersburg Lexicon*, S. V.

७. *Wörterbuch zum Rigveda*, S. V.

८. तैत्ति० सं० २,५,१,१।

मैत्रायणी[1] संहिताओं में हुआ है जहाँ उसे 'स्वस्रीय' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। तैत्तिरीय-संहिता में कहा गया है: 'त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप देवों का पुरोहित और असुरों की बहिन का पुत्र (स्वस्रीय) था,...वह प्रत्यक्ष में देवों के लिये भाग देने को कहता था, लेकिन परोक्ष में असुरों के लिये। प्रत्यक्ष में सबके लिये भाग कहते हैं, लेकिन जिसके लिये परोक्ष में भाग देने को कहते हैं, उसी का भाग होता है।' 'बृहद्देवता'[2] में कहा है कि त्रिशिरस् असुरों की बहिन का पुत्र (स्वसुःपुत्र) था, वह असुरों का प्रिय करने की कामना से (प्रियकाम्यया)[3] देवों का पुरोहित हुआ। इन दोनों सन्दर्भों से पता चलता है कि उत्तर वैदिक काल में मामा और भानजे में घनिष्ठ सम्बन्ध होता था और स्वस्रीय के अपनी माता के भाई के प्रति कुछ निश्चित कर्त्तव्य होते थे। मैत्रायणी-संहिता १,६ १२ से प्रतीत होता है कि बहिन का पुत्र अपनी माता के भाई से कुछ सम्पत्ति भी प्राप्त करता था।[4] लेकिन ऋग्वैदिक काल में बहिन के पुत्र और माता के भाई के पारस्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यों का कोई संकेत नहीं मिलता।

बहिन की पुत्री का वैदिक साहित्य में कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

३. मातृपक्षीय सम्बन्धी

ऋग्वेद की वर्तमान शाकलसंहिता में किसी मातृपक्षीय सम्बन्धी का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। केवल ऋग्वेद के खिल-भाग में पैतृष्वसेयी के साथ माता के भाई और उसकी पुत्री का 'मातुलस्य योषा' से उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में मातृपक्षीय किसी भी सम्बन्धी का कोई उल्लेख नहीं है। मैत्रायणी-संहिता में माता के भाई का केवल एक बार 'मातुर्भ्रात्र' शब्द से निर्देश किया गया है।[5] माता के भाई के लिये 'मातुल' शब्द का प्रयोग सूत्रग्रन्थों[6] में तथा आगे ही हुआ है, पहले नहीं। माता के पिता और माता के

१. मै० सं० २,४,१।

२. बृहद्देवता ६,१४६।

३. 'प्रियकाम्यया' के स्थान पर 'क्षयकाम्यया' पाठ भी मिलता है, तब श्लोक का अभिप्राय '(देवों के) नाश की इच्छा से' हो सकता है।

४. किमयं देव्याः पुत्रो देवेभ्यो मातुर्भ्रात्रिभ्या (?) आहार्षीदस्त्वेव मे किञ्चिदिति, तस्मा अग्निर्यज्ञियां तन्वं प्रायच्छत्। मै० सं० १,६,१२।

५. पा० टि० ४ में उद्धृत।

६. आश्वलायनगृह्यसूत्र १,२४,४ आदि।

लिये भी ऋग्वेद तथा अन्य किसी संहिता में कोई शब्द नहीं आया है। उत्तर-वर्ती साहित्य में उनके लिये प्रयुक्त 'मातामह' और 'मातामही' शब्द 'पितामह' और 'पितामही' के सादृश्य पर बाद में बना लिये गये हैं। माता की बहिन (मातृस्वसर् या मातुःस्वसर्) और उसकी सन्तान का भी ऋग्वेद तथा परवर्ती संहिताओं में भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऋग्वेद में मातृपक्षीय सम्बन्धियों के उल्लेख के अभाव से प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक काल में आर्यों का परिवार विशुद्ध रूप से पितृपक्षीय परिवार था जिसमें केवल पिता के पक्ष के पुरुष सम्बन्धियों को ही महत्त्व दिया जाता था। इसके विपरीत, उत्तरवर्ती वैदिक काल में माता के पक्ष के व्यक्तियों को भी आत्मीय स्वीकार किया जाने लगा था। अथर्ववेद में 'मातृबन्धु' का उल्लेख हुआ है,[1] मैत्रायणी-संहिता में माता के भाई का उल्लेख हुआ है,[2] काठक-संहिता में पुरुरवस् की पत्नी उर्वशी के देवों में जाने का तथा उनमें रहकर आयु नाम के पुत्र को जन्म देने का उल्लेख हुआ है,[3] आश्वलायनगृह्यसूत्र में पितृव्य के साथ मातुल का भी उल्लेख किया गया है।[4] परन्तु वैदिक काल में माता के भाई का वह महत्त्व नहीं हुआ था जिसका महाभारत में तथा आगे दर्शन होता है।[5]

उत्तर वैदिक काल में मातृपक्ष के व्यक्तियों के साथ आत्मीयता की उद्भावना का कारण स्वतन्त्र सांस्कृतिक विकास था अथवा आदि-निवासियों के सम्पर्क का प्रभाव, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता है। कदाचित् दोनों तत्त्व ही मातृपक्षीय सम्बन्धियों की मान्यता के कारण रहे हों।

४. विवाह-जात सम्बन्धी (affines)

इण्डो-यूरोपीय परिवार का विवेचन करते हुए पहले यह कहा गया है कि इण्डो-यूरोपीय काल में ही वधू और पति के परिवार के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना हो गई थी। इन सम्बन्धों में मुख्य श्वशुर, श्वश्रू, स्नुषा, देवर् और यातर् थे। इण्डो-यूरोपीय काल में विवाह-जात सम्बन्ध केवल

१. छिनत्त्यस्य पितृबन्धु पराभावयति मातृबन्धु। अथर्व० १२,५,४३ (१२,६,५)

२. देखिये, पूर्व पृष्ठ पा० टि० ४।

३. काठकसंहिता ८,१०।

४. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १,२४,४।

५. देखिये, Kapadia (Dr.) K. M.: *Hindu Kinship*, p. 130.

पुत्रवधू और पति के परिवार के सदस्यों के मध्य में स्वीकार किये गये थे। ऋग्वैदिक काल में भी विवाह-जात सम्बन्धों में से केवल उन्हीं सम्बन्धों का अधिक महत्त्व था जो कि वधू और पति के परिवार के सदस्यों के मध्य थे, परन्तु ऋग्वैदिक काल में तथा इण्डो-ईरानी काल में भी पति और पत्नी के परिवार के सदस्यों के मध्य भी सम्बन्धों को मान्यता प्राप्त होने लगी थी, जैसा कि ऋग्वेद तथा अवस्ता में पुत्री के पति के लिये प्रयुक्त समान शब्द से प्रतीत होता है। ऋग्वेद में जिन विवाह-जात सम्बन्धियों का उल्लेख हुआ है, वे यह हैं: श्वशुर, श्वश्रू, स्नुषा, देवर्, ननान्दर्, जामातर्, तथा स्याल। ऋग्वेद में 'यातर्' (भाई की पत्नी) का उल्लेख सन्दिग्ध है।

(अ) श्वशुर—श्वशुर का ऋग्वेद में कई बार उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिककाल में मुख्यतया वधू की अपेक्षा में पति का पिता ही 'श्वशुर' कहा जाता था, पति की अपेक्षा में पत्नी का पिता नहीं, क्योंकि ऋग्वेद में 'श्वशुर' का उल्लेख वधू के प्रसङ्गों में ही हुआ है।[१] पत्नी के पिता के लिये 'श्वशुर' शब्द का प्रयोग सूत्रकाल से पहले नहीं मिलता है[२], लेकिन यह सम्भव है कि ऋग्वैदिक काल में भी पत्नी के पिता को 'श्वशुर' कहा जाने लगा हो, क्योंकि ऋग्वेद में एक बार पत्नी की माता के लिये 'श्वश्रू' शब्द का प्रयोग हुआ है।[३]

ऋग्वेद में एक बार 'श्वशुर' का बहुवचन में भी प्रयोग हुआ है।[४] डा० इरावती कार्वे का विचार है कि 'श्वशुर' शब्द के बहुवचन में प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि पति के चाचा-ताऊ और पितामह को भी 'श्वशुर' कहा जाता था।[५] वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों का विचार है कि बहुवचनान्त 'श्वशुर' शब्द से पति के माता और पिता का बोध होता है।[६] 'श्वशुर' शब्द का बहुवचन में प्रयोग केवल आदर में भी हो सकता है, लेकिन इसे बहुपति प्रथा का संकेत नहीं माना जा सकता है।[७]

---

१. ऋक् १०,२८,१; ८५,४६; ९५,४। देखिये, ऊपर पृ० ९०–९१।

२. *Vedic Index*, II, 407.

३. ऋक् १०,३४,३। ४ ऋक् १०,९५ १२।

५. *A. B. O. R. I*, XX. p 138.

६. *Vedic Index*, II, 407, S. V. श्वशुर।

७. *Ibid*, f. n. 5; Compare, Sarkar (Dr) S. C. : *Some Aspects of the Earliest Social History of India*, p. 78.

स्नुषा श्वशुर का आदर-सम्मान करती थी तथा श्वशुर के भोजन का ध्यान रखती थी।[1] स्नुषा का अधिक समय कदाचित् अपनी सास के पास श्वशुर के गृह में ही व्यतीत होता था।[2] प्रो० लुडविग ने ऋक् १०,६५,४—सा वसु दधती श्वशुराय वयः—में 'वसु वयः' का अभिप्राय भावी पौत्र लिया है।[3] यदि प्रो० लुडविग द्वारा की गई व्याख्या सत्य हो, जैसा कि बहुत सम्भव है, तो सन्तान को जन्म देना स्नुषा का श्वशुर के प्रति महान् कर्त्तव्य समझा जाता था और जिसके कारण स्नुषा की प्रशंसा की जाती थी।

अथर्ववेद में स्नुषा को श्वशुर के प्रति 'शम्भू' और 'स्योना' होने का आदेश दिया गया है।[4] अथर्ववेद ८,६,२४ में स्नुषा द्वारा श्वशुर के परिहार (avoidance) का संकेत किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण में स्नुषा का श्वशुर से छिपने का उल्लेख हुआ है।[5] काठकसंहिता[6] और मैत्रायणीसंहिता[7] में मद्य-पान की निन्दा में कहा गया है कि बड़े और छोटे तथा स्नुषा और श्वशुर सुरा पीकर साथ बातचीत करते हुए बैठते हैं। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में सामान्यतया स्नुषा और श्वशुर परस्पर वार्तालाप नहीं करते थे। सम्भवतः यह बात ऋग्वैदिककाल के लिये भी सत्य हो।

ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में ही वधू को श्वशुर और श्वश्रू पर शासन करने वाली (सम्राज्ञी) कहा गया है।[8] इससे प्रतीत होता है कि जब पति का पिता वृद्ध अथवा अशक्त होने के कारण अपने अधिकार पुत्र को सौंप देता था अथवा पुत्र पिता से अधिकार छीन लेता था[9] और पुत्र गृहपति हो जाता

---

१. ऋक् १०,२८,१; ६५,४।

२. ऋक् १०,६५,४।

३. देखिये, Griffith : *Hymns of the Rigveda*, Vol. IV, p. 305, f. n. 4.

४. अथर्व० १४,२,२६–२७।

५. ऐत० ब्रा० ३,२२।

६. ज्यायाँश्च कनीयाँश्च स्नुषा च श्वशुरश्च सुरां पीत्वा सह लालपत आसते पाप्मा वै माल्व्यं तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति। काठक सं० १२, १२।

७. मै० सं० २,४,२।

८. ऋक् १०,८५,४६; अथर्व० १४,१,४४।

९. देखिये, ऋक् १,७०,५, जहाँ पुत्रों द्वारा वृद्ध पिता का धन बाँट लिये जाने का उल्लेख हुआ है।

था तो उसकी पत्नी भी अपने पति के साथ गृहपत्नी बन जाती थी और पति के माता-पिता तथा अविवाहित भाई-बहिन उसके अधीन हो जाते थे।[1] यदि पिता के सशक्त रहते हुए भी पुत्र अपने पिता से पृथक् रहने लगता था, तब भी कदाचित् पुत्रवधू का अपने श्वशुर के प्रति व्यवहार आदरपूर्ण होता था।[2]

(आ) श्वश्रू—पति की माता को 'श्वश्रू' कहा जाता था।[3] ऋग्वेद १०,३४,३ में एक बार पत्नी की माता को भी 'श्वश्रू' कहा गया है, जहाँ अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए जुआरी के मुख से कहलाया गया है कि श्वश्रू उससे द्वेष करती है।[4] अपने पति के वृद्ध और अशक्त हो जाने पर और पुत्र के गृहपति बन जाने पर वह भी पति के समान स्नुषा के अधीन रहती थी[5], परन्तु सामान्यतया श्वश्रू स्नुषा से आदर और सम्मान प्राप्त करती थी और स्नुषा के साथ उसके सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण होते थे।[6] ऋग्वेद में वृषाकपायी के लिये 'अच्छी स्नुषा वाली' (सुस्नुषे) विशेषण का प्रयोग किया गया है।[7]

(इ) स्नुषा—माता और पिता दोनों की अपेक्षा में पुत्र की पत्नी 'स्नुषा' कहलाती थी। श्वशुर की अपेक्षा में स्नुषा का वैदिक साहित्य में अनेक जगह उल्लेख हुआ है,[8] परन्तु श्वश्रू की अपेक्षा में यह शब्द केवल एक बार ऋग्वेद में 'सु-स्नुषा' विशेषण में प्रयुक्त हुआ है। श्वशुर और श्वश्रू के प्रति स्नुषा के कर्त्तव्य और व्यवहार का कथन ऊपर किया जा चुका है।

(ई) पति का भाई (देवर्)—ऋग्वेद में पति के भाई के लिये प्रयुक्त होने वाले 'देवर्' (देवृ) शब्द का केवल तीन बार प्रयोग हुआ है।[9] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में देवर् के समानप्रभव (cognate) 'देवर' शब्द से

---

१. Cf. *Vedic Index*, I, 484–85.

२. ऋक् १०,२८,१; *Vedic Index*, I, 485.

३. ऋक् १०,८५,४६।

४. द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि।

५. ऋक् १०,८५,४६; अथर्व० १४,१,४४।

६. स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्। अथर्व० १४,२,२६।

७. ऋक् १०,८६,१३।

८. अथर्व० ८,६,२४; मै० सं० २,४,२; काठक सं० १२,१२; ऐत० ब्रा० ३,२२,७; तैत्ति० ब्रा० २,४,६,१२।

९. ऋक् १०,४०,२; ८५,४४; ४६।

'पति का छोटा भाई' अर्थ समझा जाता है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में छोटे बड़ का बिना भेद किये पति के प्रत्येक भाई को देवर कहा जाता था।[१] महाभारत में कहा गया है कि जब सत्यवती ने अपनी स्नुषा काशिसुता से कुल की रक्षा के लिये देवर के साथ सहवास के लिये अप्रमत्त होकर प्रतीक्षा करने को कहा तो वह अपने समीप आने वाला देवर भीष्म या अन्य किसी कुरुवंशी को समझती थी।[२] महाभारत में भीष्म चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य का ज्येष्ठ भाई है, लेकिन विचित्रवीर्य की पत्नी ने भीष्म को भी देवरों में समझा। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में 'देवर' से पति के छोटे और बड़े सभी भाइयों का बोध होता था।

देवर का भाभी (अपने भाई की पत्नी) के प्रति अत्यधिक महत्त्व था। देवर और भाभी के पारस्परिक व्यवहार तथा कर्त्तव्य का ऊपर कई प्रसङ्गों में उल्लेख किया जा चुका है।[३] देवर अपनी भाभी के स्नेह का पात्र होता था[४] और भाई के गृहपति बन जाने पर उसके अधीन रहता था।[५] भाई की मृत्यु हो जाने पर वह भाई की विधवा से विवाह भी कर लेता था।[६]

(उ) **ननान्दर**— ऋग्वेद में तथा आगे पति की बहिन को 'ननान्दर्' कहा गया है। ऋग्वेद में 'ननान्दर्' शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है।[७] लौकिक

---

१. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से केवल मराठी और सिन्धी में पति के छोटे और बड़े भाइयों में भेद नहीं किया जाता। इनमें पति के सभी भाइयों के लिये 'देवर' से सम्बद्ध शब्दों का प्रयोग किया जाता है। देखिये, *Fourth Oriental Conference Proceedings*, Vol. II, pp. 508–511).

२. कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे आगमिष्यति ॥
श्वश्र्वास्तद्वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे।
साचिन्तयत्तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुँगवान् ॥ महाभारत १,१००,
४३ (पूना-संस्करण)।

३. देखिये, ऊपर पृ० १८५, ३६२,३७४।

४. ऋक् १०,८५,४४।

५. ऋक् १०,८५,४६।

६. ऋक् १०,४०,२; देखिये, *Vedic Index*, S. V. Devṛ.

७. ऋक् १०,८५,४६।

संस्कृत में भी 'ननान्दर्' शब्द का प्रयोग अतिविरल है,[1] लेकिन भारतीय आर्य भाषाओं में पति की बहिन के लिये प्रयुक्त शब्द इसी के समानप्रभव हैं।[2]

ऋग्वेद में वधू को ननान्दर् पर शासन करने वाली कहा गया है,[3] लेकिन यह बात कदाचित् ऐसी ननान्दर् पर लागू होती थी, जो अविवाहित अवस्था में अपने भाई के आश्रित रहती थी। ननान्दर् की स्थिति भाई की पत्नी की अपेक्षा में हीन थी, यह बात ऐतरेयब्राह्मण के एक प्रसङ्ग से भी पुष्ट होती है, जहाँ यह कहा गया है कि बहिन समानोदर्य होते हुए भी अन्योदर्य पत्नी के आश्रित होकर ही रहती है।[4]

(ऊ) पति के भाई की पत्नी (यातर्)—यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि पति के भाई की पत्नी के सम्बन्ध की उद्भावना इण्डो-यूरोपीय काल में ही हो चुकी थी और उसे *yenәter कहा जाता था।[5] लौकिक संस्कृत में पति के भाई की पत्नी के लिये 'यातर्' शब्द है।[6] इससे सम्बद्ध शब्द कतिपय आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी पाये जाते हैं।[7]

ऋग्वेद में 'यातर्' शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है।[8] लेकिन प्राचीन या आधुनिक किसी भी विद्वान ने कहीं भी उसे 'पति के भाई की पत्नी' अर्थ में नहीं लिया है। परन्तु ऋक् १,७०,६ में 'यातर्' का अर्थ 'पति के भाई

---

१. उत्तररामचरित में (१,१० के पश्चात्) 'ननान्दर्' का उल्लेख हुआ है।

२. पालि—ननन्दा; अवधी—नन्द; हिन्दी—नन्द; पंजाबी—ननाण्; सिन्धी—निनाण, गुजराती—नणद; मारवाड़ी—नणद्; पहाड़ी—नन्द, मैथिली—ननदि; बंगला—ननद्; मराठी—नणद (*Fourth Oriental Conference Proceedings*, Vol. II, p. 509—11).

३. ननान्दरि सम्राज्ञी भव। ऋक् १०,८५,४६।

४. ऐत० ब्रा० ३,३७: 'तस्मात्समानोदर्या स्वसान्योदर्यायै जायाया अनुजीविनी जीवति।'

५. देखिये, ऊपर पृ० ६२।

६. साहित्यदर्पण।

७. बंगाली, आसामी, उड़िया—ja: मराठी—zāū (Cf. *Fourth Oriental Conference Proceedings*, Vol. II, p. 486).

८. ऋक् १,३२,१४; ७०,६।

की पत्नी' भी सम्भव प्रतीत होता है। अग्नि की स्तुति में कहा गया है: 'दीप्तियुक्त अग्नि युद्ध में कुशल के समान (धन) प्राप्त करने वाला, धनुर्धारी के समान शूर और याता के समान भयंकर है।'[१] सायण ने इस ऋक् में 'याता' का अर्थ 'यातयिता,' 'हिंसकः' किया है। लेकिन यहाँ अग्नि की 'पति के भाई की पत्नी' से भी तुलना सम्भव है, क्योंकि संयुक्त परिवार में भाइयों की पत्नियाँ (देवरानी—जेठानी) परस्पर ईर्ष्या और द्वेष के कारण उग्रता के लिये प्रसिद्ध रही होंगी।

(ए) जामातर—ऋग्वेद में तथा आगे पुत्री के पति के लिये 'जामातर्' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२] ऋग्वेद ८,२६,२१ तथा २२ में वायु को त्वष्टा का जामाता कहा गया है। ऋषि ने वायु को 'त्वष्टा का जामाता' कहकर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में जामाता का बड़ा मान था और 'जामाता' कहकर किसी पुरुष के अहम्भाव की तुष्टि की जा सकती थी।

सामान्यतया जामाता और श्वशुर तथा श्वश्रू के परस्पर घनिष्ठ और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होते थे। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि श्वशुर के घर में रहने वाले जामाता (घर-जमाई) को जब-तब श्वशुर और श्वश्रू के क्रोध का भाजन भी बनना पड़ता था और उसे रात्रि श्वशुर के घर से बाहर व्यतीत करनी पड़ जाती थी। इन्द्र से प्रार्थना करते हुए एक ऋषि ने कहा है: 'क्रुद्ध हुआ (इन्द्र) अप्रसन्न करने वाले (अश्रीर) जामाता के समान आज सायंकाल को हम से दूर न रहे।'[३]

ऋग्वेद में एक बार 'विजामाता' का भी उल्लेख हुआ है, जहाँ विजामाता का अर्थ कदाचित् 'निन्दित जामाता' है। सम्भवतः ऐसे जामाता को जिसमें कोई अङ्ग सम्बन्धी अथवा किसी अन्य प्रकार का दोष होता था, अपने भावी श्वशुर को अच्छी धनराशि देकर सन्तुष्ट करना पड़ता था।[४]

---

१. साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु। ऋक् १,७०,६।

२. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पुत्री के पति के वाचक शब्द इसी के समानप्रभव हैं।

३. मो ष्वद्य दुर्हणावान्त्सायं करदारे अस्मत्।
अश्रीर इव जामाता॥ ऋक् ८,२,२०।

४. ऋक् १,१०९,२; निरुक्त ६,९ पर दुर्गाचार्यकृत टीका; ऊपर पृ० २२६।

(ऐ) **स्याल**—ऋग्वेद में 'स्याल' का केवल एक बार उल्लेख हुआ है।[1] यद्यपि ऋग्वेद के सन्दर्भ से 'स्याल' का अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता, फिर भी यह सम्भव है कि ऋग्वैदिक काल में भी 'स्याल' का अर्थ 'पत्नी का भाई' रहा हो। निरुक्त में उद्धृत नैदानों के मत से स्याल को 'स्याल' कहने का कारण यह है कि वह सम्बन्ध से (संयोगेन) समीपवर्ती होता है।[2] यास्काचार्य ने पत्नी के भाई को स्याल कहने का कारण विवाह-विधि में उसका यह कर्त्तव्य बताया है कि वह शूर्प (स्य) से लाजाओं का वपन करता है।[3]

ऋग्वैदिक साक्ष्य से प्रतीत होता है कि पत्नी का भाई घनिष्ठ सम्बन्धी होता था और वह आर्थिक सहायता करने के लिये प्रसिद्ध था, क्योंकि उससे इन्द्र और अग्नि की दानशीलता की तुलना की गई है।[4]

५. अन्य सम्बन्धी

उपर्युक्त पारिवारिक सम्बन्धियों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ अन्य सम्बन्धियों का भी बहुलता से उल्लेख हुआ है। ऐसे सम्बन्धियों के वाचक पद 'आपि', 'नाभि', 'सनाभि', 'ज्ञा', 'ज्ञाति', 'जामि', 'सजात', 'सजात्य' तथा 'बन्धु' हैं। ऋग्वेद में इन पदों के प्रयोग से यह निश्चय नहीं हो पाता कि इनसे किन कोटि के सम्बन्धियों का बोध होता था। ऋग्वेद में कोई विशेष भेद किये बिना ही इनका प्रयोग किया गया है। भिन्न भिन्न स्थलों में एक ही देव को 'आपि', 'जामि' आदि पदों से निर्दिष्ट किया गया है। उदाहरणार्थ, अग्नि को ऋक् १,७५,४ में 'जामि' और ऋक् १,३१,१६ में 'आपि' कहा गया है। परन्तु साथ ही ऋग्वेद में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ इनमें से कई पदों का एक साथ प्रयोग हुआ है।[5] इससे प्रतीत होता है कि ये पद निकटता के विचार से विभिन्न कोटि के सम्बन्धियों के लिये प्रयुक्त होते थे। इन पदों का प्रयोग कदाचित् माता-पिता और सन्तान के परिवार से अधिक विस्तृत सामाजिक वर्ग के सदस्यों के लिये होता था और ये पद साधारणतया किसी सम्बन्ध-विशेष का बोध न कराकर केवल सामान्य सम्बन्ध का बोध कराते थे।

---

१. ऋक् १,१०९,२।
२. स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः। निरुक्त ६,९।
३. स्याल्लाजानावपतीति वा। निरुक्त ६,९।
४. ऋक् १,१०९,२।
५. ऋक् १,१०९,१; ४,२५,६; १०,३९,६।

डा० कापडिया ने इन सम्बन्ध-वाचक पदों का अर्थ निश्चित करने का प्रयास किया है।[१] डा० कापडिया का विचार है कि 'सजात' और 'सनाभि' से ऐसे सामाजिक वर्ग के सदस्यों का बोध होता था जिसमें किसी पुरुष की दो या तीन पीढ़ियाँ सम्मिलित होती थीं और परिवार के रूप में यह सम्बन्धियों का सब से छोटा वृत्त होता था। 'ज्ञा' और 'ज्ञाति' से ऐसे सामाजिक वर्ग का बोध होता था जिसमें किसी एक मूल पूर्वज के चार पीढ़ियों तक के अनुवंशज एक साथ रहते थे और जिनमें अत्यधिक घनिष्ठता होती थी। 'आपि' से किसी मूल पुरुष से सम्बद्ध सदस्यों के सबसे बड़े वृत्त का बोध होता था। 'बन्धु' से सम्भवतया सम्बन्धियों के सबसे बड़े सामाजिक वर्ग के सदस्यों का बोध होता था। डा० इरावती कार्वे के अनुसार 'बन्धु' से कदाचित् विवाह-जात सम्बन्धियों का भी बोध होता था।[२]

डा० कापडिया और डा० श्रीमती कार्वे द्वारा किया गया सम्बन्धियों का उपर्युक्त वर्गीकरण यद्यपि बिल्कुल सम्भव है, परन्तु सम्बन्धियों के इस प्रकार के वर्गीकरण की पुष्टि में ऋग्वैदिक साक्ष्य उपस्थित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऋग्वेद में सम्बन्धियों के वाचक इन पदों का प्रयोग इतना स्वच्छन्द तथा अव्यवस्थित है कि ऋग्वेद के साक्ष्य से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता, जैसा कि इन पदों के आगे किये गये विवेचन से प्रकट होगा।

(अ) आपि—ऋग्वेद में 'आपि' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। उपासक ने अनेक बार देवों को अपना 'आपि' कहा है।[३] 'आपि' का मनुष्यों के प्रसङ्ग में भी उल्लेख हुआ है।[४] परन्तु ऋग्वेद में 'आपि' पद के प्रयोगों से यह निश्चय नहीं हो पाता कि 'आपि' का सम्बन्ध मित्रता का सम्बन्ध होता था अथवा रक्त का सम्बन्ध। डा० इरावती कार्वे ने 'आपि' को √आप् धातु से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ 'पड़ौसी' (neighbour) किया है, लेकिन ऋक् ४,३,१३ में 'आपि' का 'वेश' (पड़ौसी) के विरोध में उल्लेख किया गया प्रतीत होता है।[५] सायण ने 'आपि' की व्याख्या 'बन्धु' की है।[६]

---

१. Kapadia (Dr.) K. M.: *Hindu Kinship*, pp. 124—128.

२. *A. B. O. R. I.*, XX, p. 144, f. n.

३. ऋक् १,३१,१६; २,२९,४; ४,२५,६; १०,३९,६।

४. ऋक् १,११०,२; २,२९,७; ४,३,१३; ६,४४,१०; १०,३९,६।

५. मा वेशस्य प्रमिनतो मापेः।

६. देखिये सायणभाष्य (ऋक् २,२९,४; ४,३,१३; ६,४४,१० आदि)।

ऋग्वेद में उपासकों द्वारा देवों की सहायता तथा रक्षा की कामना करते हुए उनके साथ 'आपि' का सम्बन्ध स्थापित किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि आपि आपस में एक दूसरे की सहायता करते थे। एक उपासक ने कहा है: 'हे देवों, तुम ही मेरे आपि हो, मुझे याचना करने वाले को आनन्दित करो।'[1] एक अन्य ऋषि ने वरुण से कामना की है कि उसे अधिक दाता, प्रिय और धनी आपि का शून्य गृह (शूनम्) न देखना पड़े।[2] इससे भी यही प्रतीत होता है कि आपि परस्पर एक दूसरे के लिये शुभकामनायें रखते थे। आपि सम्बन्ध में स्थित पुरुषों में यदा-कदा ईर्ष्या और द्वेष की भावनायें भी होती थीं। एक उपासक अग्नि से प्रार्थना करता है कि वह किसी विश्वासघाती पड़ोसी और आपि की दावत (दक्ष) में न जाये।[3]

ऋग्वेद में 'आपि' से निष्पन्न भाववाचक संज्ञा शब्द 'आप्य'[4] और 'आपित्व'[5] का भी प्रयोग हुआ है। आपि' का प्रयोग केवल ऋग्वेद में ही पाया जाता है, उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों में 'आपि' का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती काल में आपि शब्द से निर्दिष्ट किये जाने वाले सामाजिक वर्ग का वैदिक आर्यों के सामाजिक सगठन में परिवर्तन हो जाने के कारण लोप हो गया था।

(आ) **नाभि, सनाभि**—'नाभि' और 'सनाभि' शब्दों का भी ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में 'सम्बन्धी' अथवा 'सम्बन्ध' अर्थ में प्रयोग हुआ है। ऋक् १,१६४,३३ में उपासक ने द्यौ को अपना पिता, जनिता तथा नाभि कहा

---

१. ह ये देवा यूयमिदापयः स्थ ते मृळत नाधमानाय मह्यम्।
ऋक् २,२६,४।

२. माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
ऋक् २,२६,७।

३. मा कस्य यक्षं सदमिद्धुरो गा मा वेशस्य प्रमिनतो मापेः।
ऋक् ४,३,१३।

४. ऋक् ७,१५,१; ८५,८; १०,६३,१; १४२,१।

५. ऋक् ८,२१,१३।

६. एक बार अथर्ववेद (४,३२,६) में भी आपि का उल्लेख हुआ है, लेकिन यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आया है (देखिये, *A. B. O. R. I.* XX, p. 141).

है।[१] ऋक् १०,१३३,५ में 'सनाभि' को 'निष्ट्य' (अपरिचित) के विरोध में रखा गया है।[२] सोम-सवन के संदर्भ में अङ्गुलियों को भी 'सनाभि' कहा गया है।[३]

कदाचित् 'सनाभि' से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों का होता था जिनका सम्बन्ध किसी एक मूल पुरुष से होता था अथवा जो एक ही घर में रहते थे। डा० इरावती कार्वे ने 'सनाभि' में नाभि का अर्थ 'घर' माना है।[४] यास्काचार्य के अनुसार 'ज्ञाति' (सम्बन्धियों) को 'सनाभि' कहने का कारण यह है कि गर्भ नाभि से जुड़े हुए ही उत्पन्न होते हैं।[५] सनाभि सम्बन्ध में स्थित मनुष्यों में कलह की घटनायें भी हो जाती थीं। ऋग्वेद १०,१३३,५ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह उपासक पर आक्रमण करने वाले का बल क्षीण कर दे, चाहे वह आत्मीय (सनाभि) हो, चाहे अनात्मीय (निष्ट्य)।[६]

(इ) **ज्ञा, ज्ञाति**—ऋग्वेद में 'ज्ञा' और 'ज्ञाति' शब्दों का आत्मीयों के लिये प्रयोग हुआ है। यह शब्द सम्भवतः √ज्ञा (जानना) धातु से निष्पन्न है। इन्द्र और अग्नि की स्तुति करते हुए एक उपासक ने कहा है: 'धन की इच्छा से मैंने 'ज्ञा' और 'सजात' को देखा।'[७] इससे प्रतीत होता हैं कि 'ज्ञा' अथवा 'ज्ञाति' ऐसे आत्मीय होते थे, जिन से कि आर्थिक सहायता की आशा की जा सकती थी। अश्विनौ से सहायता की कामना करने वाली घोषा ने भी स्वयं को 'अज्ञा' (ज्ञा-हीन) कहा है।[८]

'ज्ञाति' शब्द का भी ऋग्वेद में कई बार प्रयोग हुआ है। एक ऋषि ने कहा है कि ऐसे दो व्यक्ति भी, जो परस्पर ज्ञाति होते हैं, समान रूप से प्रसन्न नहीं करते।[९] एक अन्य ऋषि ने देवों को सम्बोधित किया है: 'देवों, प्रसन्न

---

१. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र।

२. यो न इन्द्राभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अव तस्य बलं तिर...॥

३. ऋक् ६,८६,४।

४. *A B. O. R. I.*, XX, p. 144, f. n.

५. नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरेतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते। निरुक्त ४,२१।

६. ऊपर पा० टि० २ में उद्धृत।

७. ऋक् १,१०६,१।

८. ऋक् १०,३६,६।

९. ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः। ऋक् १०,११७,९।

हुए ज्ञाति के समान हमारी इच्छानुसार आओ और हम पर धन की वर्षा करो।"[1] इससे भी यही प्रतीत होता है कि ज्ञाति ऐसे आत्मीय होते थे जो समय आने पर धन से सहायता करते थे। स्वापन-सूक्त से प्रतीत होता है कि ज्ञाति सम्भवतः एक ही घर में अथवा समीपवर्ती घरों में रहते थे।[2] विवाह-विधि में वधू के ज्ञाति-जनों की समृद्धि की कामना से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञाति अतिनिकटवर्ती आत्मीय होते थे।[3] प्रो० मैक्डानल और कीथ का विचार है कि 'ज्ञाति' कदाचित् पितृपक्षीय आत्मीय होते थे जिनमें परस्पर रक्त का सम्बन्ध होता था।[4]

(ई) **जामि**—पहले बहन और भाइयों के सम्बन्धों की विवेचना करते हुए यह दिखलाया जा चुका है कि ऋग्वेद में जामि शब्द का प्रयोग भाई और बहिन के अर्थ में हुआ है। 'जामि' शब्द की निरुक्ति भी पहले प्रदर्शित की जा चुकी है।[5] ऋग्वेद में (विशेषतः ऋग्वेद के प्राचीन भाग में) जहाँ 'जामि' को 'अजामि' के विरोध में रखा गया है, 'जामि' का अर्थ भाई या बहिन न होकर सामान्य आत्मीय (kin) प्रतीत होता है। एक उपासक ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि इन्द्र उसके जामि (आत्मीय) और अजामि (असम्बद्ध, अनात्मीय) शत्रुओं का नाश कर दे।[6] इसी प्रकार ऋक् ६,२५,३ और ऋक् ६,४४,१७ में भी इन्द्र से जामि और अजामि शत्रुओं के संहार की कामना की गई है। ऋक् १,३१,१० में उपासक ने स्वयं को अग्नि का जामि कहा है।[7] सायण ने इन तथा अन्य स्थलों में 'जामि' का अर्थ 'बन्धु'[8] अथवा 'ज्ञाति'[9] किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में 'जामि' का अर्थ 'रक्त-सम्बन्ध से सम्बद्ध आत्मीय' था और बाद में इसका 'भाई' या 'बहिन' सम्बन्ध-विशेष

---

१. प्रीताइव ज्ञातयः काममेत्यास्मे देवासोऽव धूनुता वसु।
ऋक् १०,६६,१४।

२. ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः। ऋक् ७,५५,५।

३. एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते। ऋक् १०,८५,२८।

४. वैदिक इण्डैक्स १,२९१।

५. देखिये, ऊपर पृ० २९५—९६।

६. जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून्। ऋक् ४,४,५।

७. त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्। ऋक् १,३१,१०।

८. सायणभाष्य, ऋक् १,७५,३; ४; १००,११; ४,४,५; २५,६।
सायणभाष्य, ऋक् १,७१,७; ६,२५,३; ६,४४,१७ आदि।

अर्थ में प्रयोग होने लगा और लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ 'बहिन' या 'कुल की स्त्री' मात्र रह गया है।[१]

(उ) **सजात, सजात्य**—ऋग्वेद में 'सजात' और 'सजात्य' शब्दों का भी आत्मीय के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में 'सजात' शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है,[२] जहाँ कुछ विद्वानों ने 'सजात' का अर्थ भाई माना है।[३] 'वैदिक इण्डैक्स' के लेखकों का विचार है कि 'सजात' का अर्थ सम्बन्धी (relative) है और अर्थ-विस्तार से समान पद अथवा स्थिति के पुरुष भी सजात कहे जाते हैं।[४] ऋग्वेद में सजात्य का मूर्त[५] (concrete) और अमूर्त[६] (abstract) दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि सजात्यों में परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध होते थे। ऋक् ८,८३,७ में कहा गया है : 'इन्द्र, विष्णु, अश्विनौ और मरुत् हम सजात्यों का ध्यान रखें।'[७] इसी प्रकार एक अन्य ऋक् में भी मरुतों से उपासकों के साथ अपने 'सजात्य' का ध्यान रखने की प्रार्थना की गई है।[८] घोषा के इस आत्मनिवेदन से कि वह आपि, ज्ञा तथा सजात से रहित है,[९] यही प्रतीत होता है कि सजात्य परस्पर एक दूसरे की सहायता करते थे। एक अन्य उपासक ने अश्विनौ के सजात्य (सम्बन्ध) को चारु कहा है।[१०] परन्तु उत्तरवर्ती वैदिक साक्ष्य से प्रतीत होता है कि सजात (अथवा सजात्य) परस्पर कलह और द्वेष के लिये कुख्यात थे और सजातों को वश में करने के लिये देवों का आह्वान किया जाता था।[११]

---

१. मिलाइये, अमरकोश ३,३,१४२—'जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः'।
२. ऋक् १,१०६,१।
३. देखिये, ऊपर पृष्ठ २९७।
४. *Vedic Index*, II, 418.
५. ऋक् ८, ८३,७; १०,३९,६।
६. ऋक् ३,५४,१६; १०,६४,१३ आदि।
७. अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतो अश्विना ॥
८. कुविदङ्ग प्रति यथा चिदस्य नः सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ।
ऋक् १० ६४,१३ ॥
९. ऋक् १०,३९,६।
१०. सजात्यमश्विनोश्चारु नाम। ऋक् ३,५४,१६।
११. देखिये, तैत्तिरीयब्राह्मण ३,७,१२,२; तै० सं० २,१,३,२।

(ऊ) **बन्धु**— ऋग्वेद में आत्मीय (kin) का वाचक एक अन्य शब्द 'बन्धु' है। 'बन्धु' सम्भवतया √बन्ध् (बाँधना) धातु से निष्पन्न है। लेकिन ऋग्वैदिक साक्ष्य से यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि 'बन्धु' किस कोटि के आत्मीय को कहा जाता था। ऋक् १, ११४,३३ में पृथिवी को माता तथा बन्धु कहा गया है।[1] नासत्या (अश्विनौ) की बन्धुओं का ध्यान रखने वाले कहकर प्रशंसा की गई है।[2] एक अन्य ऋक् में उपासक ने अपनी दशा की विषमता प्रदर्शित करते हुए इन्द्र का इस प्रकार आह्वान किया है : 'हम बन्धुहीन विप्र तुम बन्धुयुक्त को यहाँ लाये हैं।'[3] ऋग्वेद के इन प्रसङ्गों से यह प्रकट है कि बन्धु ऐसे आत्मीय होते थे जो किसी व्यक्ति के लिये महान् अवलम्बन होते थे। परस्पर एक दूसरे की सहायता करना बन्धुओं का कर्त्तव्य प्रतीत होता है।

अथर्ववेद १२,५,४३ में कहा गया है कि ब्राह्मण को दी गई गौ यदि वापस ले ली जाए तो वह लेने वाले के पिता के बन्धुओं को छिन्न कर देती है और माता के बन्धुओं को पराभूत कर देती है।[4] अथर्ववेद के काल में कदाचित् पिता के कुल के व्यक्तियों के समान माता के कुल के व्यक्तियों को भी सामान्य रूप से बन्धु (आत्मीय) स्वीकार किया जाने लगा था।

---

१. बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। ऋक् १,११४,३३।

२. नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा। ऋक् ३,५४,१६।

३. वयं हि त्वा बन्धुमन्तमबन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम। ऋक् ८,२१,४।

४. छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु। अथर्व० १२,५,४३।

अध्याय ११

उपसंहार

इस अध्याय में पूर्व अध्यायों में प्रतिपादित विषय का संक्षेप में पुनरवलोकन करते हुए ऋग्वैदिक परिवार के संगठन का सुश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद के पर्यालोचन से प्रतीत हुआ है कि ऋग्वैदिक परिवार का संगठन कुछ बातों में उत्तरी भारत के वर्तमान हिन्दू परिवार के संगठन से मिलता-जुलता है और कुछ बातों में भिन्न है। यहाँ ऋग्वैदिक परिवार के संगठन की इन दोनों प्रकार की बातों को स्थान दिया गया है। क्योंकि जिन बातों में वर्तमान हिन्दू परिवार ऋग्वैदिक परिवार के सदृश है, उनका अपना पृथक् महत्त्व है। यह बातें ऋग्वैदिक आर्यों तथा उनके उत्तराधिकारियों में इतनी बद्धमूल हो गई थीं कि वे अब तक अक्षुण्ण चली आ रही हैं। जिन बातों में ऋग्वैदिक परिवार का वर्तमान हिन्दू परिवार से भेद है, वहाँ वर्तमान हिन्दू परिवार से तुलना करके ऋग्वैदिक परिवार के चित्र को स्पष्ट किया गया है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह जन्म लेते ही अनेक प्रकार के सामाजिक वर्गों से सम्बद्ध हो जाता है और उसके जीवनक्रम के विकास और समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति उसके व्यवहार की प्रवृत्ति को निश्चित करने में इन सामाजिक वर्गों का, जिनसे वह सम्बद्ध होता है, अत्यधिक महत्त्व है। परिवार भी एक ऐसा ही सामाजिक वर्ग है जिसका किसी व्यक्ति के लिये सर्वाधिक महत्त्व होता है और जो माता-पिता तथा सन्तान की इकाई के रूप में स्वयं समाज का आधार माना जाता है। परिवार की सन्तोषजनक परिभाषा देना अत्यधिक कठिन तथा जटिल कार्य है। परन्तु सामान्यतया परिवार एक ऐसा सामाजिक वर्ग है जिसके सदस्यों में परस्पर वंशक्रम सम्बन्धी (genealogical) अथवा किसी सामाजिक प्रथा (दत्तक आदि) से स्थापित सम्बन्ध होता है, जिनके आर्थिक हितों तथा धार्मिक विश्वासों में एकता होती है और जो सामान्यतया एक घर अथवा स्थान में रहते हैं। किसी समाज की सांस्कृतिक अवस्था (Cultural Stage) के अनुसार उसके परिवार की सीमा तथा कर्त्तव्यों (functions) में भेद होता है।

परिवार के विकास की अवस्थायें—अनेक मानव-विज्ञान-शास्त्रियों (anthropologists) तथा समाज-विज्ञान-शास्त्रियों (sociologists) का

यह विश्वास है कि प्रत्येक मानव-समाज जंगली और बर्बर जीवन में समान परिस्थितियों में समान रूप से सामाजिक संस्थाओं का विकास करते हुए अपनी सांस्कृतिक अवस्था के अनुरूप अपनी वर्तमान सामाजिक संस्थाओं को प्राप्त हुआ है। विवाह-संस्था तथा उससे सम्बद्ध सामाजिक वर्ग परिवार के एक-रूप-विकास (unilinear evolution) के सिद्धान्त के समर्थ व्याख्या-कार लुई एच० मॉर्गन का मत है कि मानव-समाज में परिवार संस्था का विकास यौन सम्बन्धों के नियमन (regulation) की पूर्वावस्था कामचार (promiscuity) से हुआ है जबकि विकासक्रम की दृष्टि से मानव में पशुओं से अधिक भेद नहीं था। उसके अनुसार यौन-सम्बन्धों के नियमन की दृष्टि से कामचार (promiscuity) किसी मानव-समाज के विकास की आदिम अवस्था है और एक-पति-विवाह (monogamy) विकास की चरम सीमा है। किसी समाज को कामचार से एक-पति-विवाह की संस्था तक पहुँचने में बीच में पड़ने वाली अनेक अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है और इस प्रकार कोई मानव-समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करने वाली विवाह संस्था से सम्बद्ध सामाजिक वर्ग—परिवार—के विकास की भी अनेक अवस्थाओं को पार करके एकाकी परिवार—जिसमें केवल माता-पिता और उनकी सन्तान (औरस अथवा दत्तक) सम्मिलित होते हैं—की अवस्था को प्राप्त करता है, परिवार की जो अवस्था सभ्यता के युग में ही आती है। मॉर्गन की योजना के अनुसार कोई समाज अपनी सांस्कृतिक अवस्था के विकास के अनुरूप परिवार की जिन अवस्थाओं को पार करता हुआ एक-पति-विवाह पर आश्रित परिवार की अवस्था को पहुँचता है, वे यह हैं :

(१) समूह (horde) की अवस्था, जिसमें समाज में यौन सम्बन्धों को नियमित करने वाले कोई सामाजिक नियम नहीं होते और उनका नियमन सहज पसन्द (natural selection) पर निर्भर रहता है। इस अवस्था में किसी मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति का उस समाज के दूसरे व्यक्तियों से एक समान सम्बन्ध होता है, इसलिए इस अवस्था में विवाह-संस्था और उससे सम्बद्ध सामाजिक वर्ग परिवार का आविर्भाव नहीं होता।

(२) सगोत्र-परिवार (consanguine family) की अवस्था, जिसमें पिता-पुत्री या माता-पुत्र के यौन सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लग जाता है। लेकिन सगे भाई-बहिन सामूहिक रूप में विवाह के सहज साथी होते हैं।

(३) सखा-परिवार (punaluan family) की अवस्था, जिसमें सगे या सपक्षीय भाई-बहिनों के विवाह पर प्रतिबन्ध लग जाता है, लेकिन सगी बहिनों

का कुछ पुरुषों से, जो उनके सगे भाई नहीं होते हैं और जिनका परस्पर भाई होना भी आवश्यक नहीं होता, सामूहिक विवाह होता है। इस अवस्था में समाज गोत्रों (septs या clans) में संगठित हो जाता है।

(४) मिथुन-परिवार (pairing family) की अवस्था, जिसमें निकट सम्बन्धियों के विवाह पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण विवाह योग्य समूह का अभाव हो जाता है और एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह होता है। इस अवस्था में भी विवाह में स्थिरता नहीं आती, क्योंकि विवाह में आबद्ध स्त्री अथवा पुरुष कोई-से की भी इच्छा से विवाह-विच्छेद हो सकता है।

इन अवस्थाओं को पार करके ही कोई मानव-समाज अपनी बर्बर अवस्था के दूसरे या तीसरे स्तर में एक-पति-पत्नी-विवाह (monogamy) की अवस्था को प्राप्त होता है। मॉर्गन की विवाह तथा परिवार संस्था की इस योजना का अनेक विद्वानों ने विरोध किया है। उनका विश्वास है कि वर्तमान आदिम अवस्था के समाजों की संस्थाओं में जितनी विविधता दृष्टिगोचर होती है उससे यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि उनका विकास एक समान हुआ हो। मॉर्गन की योजना में छिद्रान्वेषण अथवा उसका समर्थन करना यहाँ उपयुक्त नहीं है, लेकिन यह सर्वमान्य सत्य है कि किसी मानव-समाज का वर्तमान पारिवारिक संगठन और उससे उद्भूत सम्बन्धों का वर्तमान स्वरूप उसकी पूर्वावस्था में हुए स्थायी परिवर्तनों का परिणाम है।

ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा संस्कृति की आदिम अवस्था सुदूर प्राचीनकाल में पारित

ऋग्वेद में ऋग्वैदिक आर्यों की जिस सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवस्था का उद्घाटन हुआ है, वह आर्यों की आदिम अवस्था नहीं है। इतना ही नहीं, इण्डो-यूरोपीय भाषा-भाषियों के सामान्य शब्दकोष की सहायता से उनके जिस पारिवारिक संगठन का उद्घाटन होता है, वह भी मॉर्गन की योजना में बहुत बाद में आता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि मॉर्गन ने मानव-समाज की जिस आदिम अवस्था से परिवार संस्था के विकास की कल्पना की है, इण्डो-यूरोपीय लोग उस आदिम अवस्था को पृथक् पृथक् शाखाओं में विभक्त होने से सुदूर पूर्वकाल में पार कर चुके थे। इण्डो-यूरोषीय-भाषा के सामान्य कोष से विदित होता है कि इण्डो-यूरोपीय भाषा-भाषी जातियों की एकता के काल में उनका पारिवारिक संगठन पितृपक्षीय हो चुका था, जिसमें केवल पितृपक्षीय सम्बन्धियों का महत्त्व था। पितृपक्षीय सम्बन्धियों के अति-

रिक्त केवल उन विवाहजात सम्बन्धों को स्वीकार किया जाता था जो किसी कुल में रहने वाली स्त्रियों तथा पुरुषों और उस कुल में विवाह-विधि से आई हुई स्त्रियों (वधुओं) के मध्य में होते थे (पृष्ठ ५६)[1]। इण्डो-यूरोपीय काल में विवाहजात सम्बन्धियों के वाचक शब्दों की सत्ता से प्रतीत होता है कि इण्डो-यूरोपीय काल से पूर्व ही इण्डो-यूरोपीय-भाषा-भाषी जातियाँ मॉर्गन की योजना की 'सगोत्र-परिवार' की अवस्था को पार कर चुकी थीं, क्योंकि जिस समाज में सगे या सपक्षीय भाई बहिनों में विवाह-सम्बन्ध की प्रथा होती है, उनमें विवाहजात सम्बन्धियों की कल्पना नहीं की जा सकती।

पारिवारिक सम्बन्धों का वर्गीकरण—ऋग्वेद प्रधानतया धार्मिक ग्रन्थ है, लेकिन उसमें ऋग्वैदिक काल के आर्यों के पारिवारिक संगठन तथा उसमें उद्भूत सम्बन्धों के विषय में प्रकाश डालने वाली सामग्री की प्रचुरता है। ऋग्वेद में जिन पारिवारिक सम्बन्धों का उल्लेख पाया जाता है, उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: —

(१) एकाकी परिवार के सदस्य—पिता, माता,पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, पति तथा पत्नी।

(२) संयुक्त अथवा विस्तृत परिवार के सदस्य तथा अन्य पितृपक्षीय सम्बन्धी—दादा, पोता, भ्रातृव्य, आपि, जामि, ज्ञा, ज्ञाति, सनाभि, सजात, बन्धु आदि।

(३) विवाहजात सम्बन्धी—सास, ससुर देवर, ननन्द, पतोहू (स्नुषा), जमाई तथा साला।

यद्यपि ऋग्वैदिक काल का परिवार इण्डो-यूरोपीय तथा इण्डो-ईरानी काल के परिवार के नमूने का ही था और यह बहुत ही कम सम्भव है कि ऋग्वैदिक आर्यों में एकाकी परिवार की अवस्था आ गई हो, फिर भी ऋग्वेद के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि संयुक्त-परिवार में भी माता-पिता और सन्तान में अन्य सम्बन्धियों की अपेक्षा अधिक निकटता होती थी। इसलिए माता-पिता और सन्तान की इकाई को ऋग्वैदिक संयुक्त-परिवार के अन्तर्गत एकाकी-परिवार कहना उचित ही है।

एकाकी परिवार के सदस्य

यद्यपि सम्बन्धियों के पारस्परिक व्यवहार तथा सम्बन्धों के विषय में

---

१. इस अध्याय में कोष्ठान्तर्गत पृ० संख्या से प्रस्तुत निबन्ध के पृष्ठों का संकेत है।

ऋग्वेद का साक्ष्य उतना स्पष्ट और निश्चित नहीं है जैसा कि समाज-विज्ञान की पुस्तकों में अपेक्षित होता है, फिर भी ऋग्वेद से पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, एकाकी परिवार के सदस्यों के मध्य होने वाले सम्बन्धों का बहुत ही उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद-काल में आर्यों के परिवार पितृसत्ताक थे, इसलिए ऋग्वेद में पिता, पुत्र तथा अन्य पुरुष सम्बन्धियों का अधिक उल्लेख स्वाभाविक है।

पिता—ऋग्वेद में पिता के लिए 'पितर्', 'जनितर्', 'तत' तथा 'ओणि' शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वैदिक साक्ष्य से प्रतीत होता है कि परिवार में पिता का अत्यधिक महत्त्व तथा गौरव था (पृ० ९२—९३)। ऋग्वेद में सन्तान के प्रति पिता का व्यवहार अत्यधिक उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण चित्रित किया गया है। सन्तान का पालन-पोषण, रक्षण तथा शिक्षण पिता का कर्त्तव्य था (पृ० ११३—१९)। अधिकारों की दृष्टि से ऋग्वैदिक पिता पूर्ण-प्रभुता सम्पन्न था। पुत्र उसकी आज्ञा के पालन के लिए तत्पर रहते थे। साधारणतया पिता सन्तान के अपराधों को सहज स्नेह के कारण सहन कर लेता था, परन्तु क्रुद्ध होने पर वह सन्तान का अङ्ग-भङ्ग, जल-मज्जन अथवा वध भी कर सकता था (पृ० ११९—२१)। वह सन्तान का दान, विक्रय, तथा परित्याग भी कर सकता था (पृ० १२१—२९)। पिता अपनी इच्छा से किसी भी पुत्र को दाय का अधिकारी बना सकता था और किसी भी पुत्र को दाय के वञ्चित कर सकता था। उत्तरवर्ती धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में पिता के यह अधिकार अत्यन्त सीमित हो गये हैं और वर्तमान हिन्दू कानून में पिता केवल स्वार्जित सम्पत्ति को ही स्वेच्छा से किसी को दे सकता है। ऋग्वैदिक काल में विवाह पूर्ण युवा-युवतियों का होता था, इसलिये कदाचित् सन्तान के विवाह पर पिता का नियन्त्रण नाममात्र को ही होता था। ऋग्वेद के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाने पर पिता के अधिकार में ह्रास हो जाता था और कदाचित् क्रूर सन्तान द्वारा वृद्ध पिता का परासन (exposure) भी कर दिया जाता था। वृद्ध पिता की सम्पत्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध भी पुत्रों द्वारा बाँट लिया जाता था (पृ० १३०—१३४)।

पुत्र—ऋग्वेद में पुत्र के वाचक शब्दों की अत्यधिक बहुलता है। मूल इण्डो-यूरोपीय भाषा से प्राप्त 'सूनु' के अतिरिक्त 'पुत्र', 'तुच्', 'तुज्', 'तुजि', 'तोक', 'तन्', 'तन', 'तनय', 'तनस्', 'तना', 'तनू', 'तान्व', 'वीर', 'अपत्य',

'ज्ञा', 'जात', 'प्रजा', 'नपात्', 'नप्तर्', 'शेषस्', 'वत्स', 'यहु', 'यह्व' आदि शब्दों से पुत्र अर्थ का बोध होता है (पृ० १३९—१६१)। पुत्र के अर्थ का विकास 'उत्पन्न होना', 'छोटा', 'शेष रह जाना' आदि अर्थ से हुआ है। ऋग्वेद में पुत्र के वाचक शब्दों की विविधता तथा पुत्र की कामना से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों में पुत्र का सम्बन्ध सर्वाधिक प्रिय होता था। औरस पुत्र के अभाव में कृत्रिम पुत्रों से काम चलाया जाता था, परन्तु ऐसे पुत्रों से ऋग्वेद में असन्तोष प्रगट किया गया है (पृ० १८०–८१)। ऋग्वेद में वीर, शत्रु-विजयी, कृषिभूमि जीतने वाले तथा कुल-परम्पराओं का निर्वाह करने वाल पुत्र की कामना की गई है (पृ० १९२–९३)। पिता और पुत्र का पारस्परिक व्यवहार सामान्यतया सौहार्दपूर्ण होता था (पृ० १९७–२०१)। पुत्र को पिता के ऋण का मोचक समझा जाता था (पृ० १९५)। पिता के अपमान अथवा वध का प्रतिशोध भी पुत्र का कर्त्तव्य था (पृ० १९४)। यदा-कदा पिता और पुत्र में संघर्ष और कलह भी हो जाता था और पुत्र पिता की जीवितावस्था में भी उसकी इच्छा के विरुद्ध पैतृक सम्पत्ति का विभाजन कर लेते थे। वृद्धावस्था में पिता पुत्र का वशवर्ती हो जाता था (पृ० १९६)। ऋग्वेद-काल में भी ज्येष्ठ पुत्र को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे (पृ० २०९)। उत्तरवर्ती संहिताओं, प्राचीन धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में ज्येष्ठ के विशेषा-धिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार किए गए हैं, लेकिन वर्तमान हिन्दू परिवार में ज्येष्ठ के विशेष साम्पत्तिक अधिकारों का लोप हो गया है। जहाँ कहीं कोई पद कुलक्रमागत होता था, वहाँ पिता के पद का उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था (पृ० २१२–२१६)।

पुत्री – ऋग्वेद में पुत्र के समान पुत्री के वाचक 'दुहितर्', 'कना', 'कनी', 'नप्ती', यह्वी', 'योषणा', 'योषा', आदि अनेक शब्द हैं, लेकिन इनमें से 'दुहितर्' ही प्रचलित तथा इण्डो-यूरोपीय काल से प्राप्त शब्द है (पृ० २१७–२२४)। ऋग्वेद में यद्यपि पुत्र के समान पुत्री की कामना का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी ऋग्वैदिक साक्ष्य से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में पुत्री को उत्तर काल के समान हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था और उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा सामाजिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्धों का अभाव था (पृ० २२५–२३२)। ऋग्वेद में कन्यावध की प्रथा प्रचलित नहीं थी (पृ० २३५–२३८)। पुत्री घर के कार्यों में गृहपत्नी की सहायता करती थी। जलाशय से जल लाना युवती कन्या का दैनिक जीवन का मुख्य कार्य प्रतीत होता है। अभ्रातृमती पुत्री का अपने पिता के लिए पुत्र उत्पन्न करना सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्त्तव्य था (पृ० २५७)। ऋग्वेद में कुछ देवों के प्रसङ्ग में पिता और पुत्री के यौन सम्बन्धों का भी उल्लेख हुआ है, परन्तु इन उल्लेखों को ऋग्वैदिक समाज में पिता-पुत्री के मध्य यौन सम्बन्धों का संकेत नहीं माना जा सकता है (पृ० २४३-२५५)। ऋग्वेद-काल में पुत्री को पिता की सम्पत्ति में दाय का अधिकार नहीं था, केवल अभ्रातृमती पुत्री, जिसके पुत्र को पिता गोद ले लेता था, अपने पुत्र के द्वारा पिता के दाय की अधिकारी हो सकती थी। ऐसी पुत्री विवाह हो जाने पर भी कदाचित् अपने पिता के परिवार में रहती थी (पृ० २५९-२६५)। वर्तमान हिन्दू परिवार में पुत्र के अभाव में सर्वप्रथम दाय की अधिकारी पुत्री होती है।

माता—यद्यपि ऋग्वैदिक आर्यों के परिवार में पुरुषों का हाथ ऊपर था, फिर भी परिवार में पिता के पश्चात् दूसरा स्थान माता का था (पृ० २७२)। ऋग्वेद में पैतृक नामों के समान कुछ मातृक नाम (metronymic) भी पाये जाते हैं, लेकिन उन्हें ऋग्वैदिक काल में अथवा उससे पूर्व काल में मातृसत्ता का संकेत नहीं माना जा सकता (पृ० २७१)। ऋग्वेद में माता के लिए भी 'मातर्' के अतिरिक्त 'जनि', 'जनित्री', 'प्रसू', 'अम्बा', 'अम्बि' अथवा 'अम्बी' और 'नना' शब्दों का प्रयोग हुआ है (पृ० २७३-२७७)। ऋग्वेद के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि माता का अपनी सन्तान से अधिक सम्बन्ध उसकी शैशवावस्था में ही होता था। बच्चों का लालन-पालन तथा उनकी देख-रेख करना, उनके लिए वस्त्र बुनना तथा सिलना और उनको संवारना माता का कार्य था (पृ० २८४-२८६)। युवा पुत्र से माता का अधिक सम्पर्क नहीं रहता था। पुत्री के विवाह में माता का सक्रिय सहयोग रहता था (पृ० २८६)। ऋग्वेद में माता को स्नेहमयी एवम् उदार चित्रित किया गया है। सन्तान के प्रति माता का व्यवहार पिता और भ्राता के व्यवहार की अपेक्षा अधिक उदार होता था (पृ० २८९)। ऋग्वेद में एक बार देव पूषा को माता का 'दिधिषु' कहा गया है, परन्तु इसे माता और पुत्र के मध्य यौन सम्बन्ध का संकेत नहीं माना जा सकता (पृ० २८९-९२)।

भाई-बहिन—ऋग्वेद में माता-पिता तथा पुत्र-पुत्री के वाचक शब्दों की जैसी विविधता है, वैसी विविधता भाई और बहिन के वाचक शब्दों की नहीं है। ऋग्वेद में भाई के लिए प्रचलित शब्द 'भ्रातर्' है। कुछ विद्वानों ने 'सजात' का अर्थ भी भाई किया है। बहिन का वाचक शब्द 'स्वसर्' है। 'जामि' शब्द का भाई और बहिन दोनों के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

'भ्रातर्' शब्द के धात्वर्थ और ऋग्वैदिक साक्ष्य के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भाई के सम्बन्ध की कल्पना विशेषतया बहिन की अपेक्षा में हुई थी। ऋग्वेद में किसी कन्या के लिए पिता की अपेक्षा भाई का अधिक महत्त्व था। ऋग्वेद में इधर-उधर घूमने वाली और संदिग्ध उपायों से जीवन-निर्वाह करने वाली युवतियों को 'भ्रातृहीन' कहा गया है (पृ० ३०१-३०३)। यद्यपि ऋग्वेद के अर्वाचीन भाग में पुत्री के विवाह का दायित्व पिता का परिलक्षित होता है, परन्तु कदाचित् पहले बहिन के नैतिक आचरण तथा सम्मानपूर्ण विवाह का दायित्व भाई का होता था (पृ० ३०३)। बहिन के विवाह-संस्कार में भाई की भूमिका उत्तरवर्ती वैदिक विवाह-पद्धति में भी सुरक्षित रही है (पृ० ३०६)। भाई और बहिन की निकटता इस बात से भी परिलक्षित होती है कि ऋग्वैदिक काल में भी किसी सामाजिक विधि अथवा घोषणामात्र से कृत्रिम भाई-बहिन बनाने की प्रथा प्रचलित थी और भाई अपनी सम्पत्ति से कुछ अंश बहिन को देते थे, जैसा कि पणियों के सरमा को गौ देने के प्रस्ताव से प्रकट है (पृ० ३०८)।

ऋग्वेद-काल में केवल एक माता-पिता की स्त्री और पुरुष सन्तान ही भाई-बहिन नहीं कहलाते थे, अपितु चाचा-ताऊ, बुआ, मौसी और मामी आदि की सन्तान भी परस्पर भाई और बहिन होते थे। कदाचित् ऐसे भाई-बहिनों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव था। लेकिन ऋग्वेद-काल में सगे भाई-बहिनों में या एक वृद्ध पुरुष के अधीनवर्ती परिवार में रहने वाले भाई-बहिनों का विवाह नहीं हो सकता था (पृ० ३१२-३१३)। देवताख्यान के सन्दर्भ में आये हुए भाई-बहिन के यौन-सम्बन्ध-विषयक ऋग्वैदिक संकेतों को सगे भाई-बहिन के यौन-सम्बन्ध के विषय में प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता (पृ० ३१३-३२२)।

भाइयों का परस्पर व्यवहार—भाइयों का दायित्व केवल बहिन की रक्षा तक ही सीमित नहीं था, उनके परस्पर भी एक दूसरे के प्रति निश्चित कर्त्तव्य होते थे। एक भाई के अपमान अथवा वध का प्रतिशोध दूसरे भाई का कर्त्तव्य था। एक का शत्रु दूसरे का भी शत्रु माना जाता था। भाइयों में परस्पर अत्यधिक सौहार्द होता था और वे पारस्परिक स्पर्धा से बचने का प्रयत्न करते थे (पृ० ३२२-३२४)। छोटे भाई बड़े भाई का आदर करते थे और उसकी आज्ञा का पालन करते थे। बड़े भाई को विवाह, पारिवारिक भोज तथा धार्मिक कृत्यों में प्राथमिकता दी जाती थी (पृ० ३२५-२६)। यदा-कदा भाइयों में संघर्ष भी हो जाता था, विशेषतः सजात (कदाचित् चचेरे-तयेरे भाई) उत्तरवैदिक काल

में पारस्परिक कलह के लिए कुख्यात थे।

विवाह-प्रथा—विवाह-संस्था के विकासक्रम की दृष्टि से ऋग्वैदिक आर्य एक-पति-पत्नी-विवाह (monogamy) की अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। ऋग्वेद में बहुपत्नी (polygyny) प्रथा के संकेत भी मिलते हैं (पृ० ३३१), परन्तु सामान्य रूप से ऋग्वैदिक आर्यों में एक-पति-पत्नी विवाह की प्रथा थी। विवाह-विधि में देवों का आह्वान किया जाता था और विवाह को धार्मिक कृत्य समझा जाता था। वैध पुत्र की प्राप्ति ऋग्वैदिक काल में विवाह का मुख्य प्रयोजन प्रतीत होता है (पृ० २७८-७९)। कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के कुछ अस्पष्ट संकेतों से ऋग्वेद-काल में बहु-पति विवाह की प्रथा का प्रचलन माना है, परन्तु ऋग्वैदिक साक्ष्य से असंदिग्ध रूप से बहु-पति-विवाह का प्रचलन सिद्ध नहीं होता (पृ० ३३०-३३६)। ऋग्वैदिक काल में समाज का विवाह-वर्जित गोत्रों में सगठन नहीं हुआ था, जैसा कि उत्तरकाल में पाया जाता है, और विवाह-वर्जित सम्बन्धियों का वृत्त बहुत छोटा होता था।

पति-पत्नी—विवाहसूत्र में आबद्ध पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध के वाचक शब्द मुख्य रूप से 'पति' और 'पत्नी' हैं, लेकिन विवाह-विधि की विभिन्न अवस्थाओं तथा युवा स्त्री और पुरुष के प्रसङ्ग में पुरुष को 'जार', 'मर्य', 'जनिधा', 'जनिवत', 'वर', 'वरेयु', 'वधूयु', 'दिधिषु', 'हस्तग्राभ', 'प्रिय' तथा 'भर्तर्' और स्त्री को 'वधू', 'जनि', 'जनी', 'जानि', 'जाया', 'योषा', 'ग्ना' तथा 'मेना' भी कहा गया है (पृ० ३३६-३४८)। विवाहित पुरुष को 'पति' कहने का कारण कदाचित् यह था कि वह घर, स्त्री तथा सन्तान का स्वामी था। स्त्री पति के साथ गृह की स्वामिनी होने के कारण 'पत्नी' और सन्तान को जन्म देने के कारण 'जाया', 'जनि' आदि कहलाती थी। पत्नी और पति को 'दम्पती' भी कहा जाता था। ऋग्वेद में सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से पत्नी की स्थिति उत्तरकाल की अपेक्षा उत्कृष्ट चित्रित की गई है (पृ० ३५८-३६८), लेकिन फिर भी पत्नी का गौरव विशेष रूप से पुरुष सन्तान को जन्म देने के कारण ही था। ऋग्वेद-काल में पति और पत्नी की समानता स्वीकार नहीं की जाती थी, जो इस बात से प्रकट है कि ऋग्वैदिक आर्यों में पितृ-बन्धुओं के समान मातृबन्धुओं को मान्यता नहीं दी गई थी।

ऋग्वेद में पति और पत्नी का परस्पर व्यवहार सामान्यतया मधुर तथा सौहार्दपूर्ण चित्रित किया गया है। ऋग्वेद में अनेक बार पति के प्रति पत्नी के आत्मसमर्पण का कथन किया गया है (पृ० ३५०-५१)। पत्नी के लिये पति का अत्यधिक महत्त्व था। पति की जीवितावस्था में उसे 'सुभगा' (भाग्य-

शालिनी) समझा जाता था। यदा-कदा पति और पत्नी में कलह और कटुता भी हो जाती थी। ऋग्वेद में परिवृक्ता (त्यागी हुई) पत्नी का उल्लेख हुआ है, लेकिन शुद्ध-चरित्र पत्नी का परित्याग पाप समझा जाता था (पृ० ३५६)। पति को पत्नी पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त था। वह पत्नी का वध तथा ताडन कर सकता था। एक पत्नी के रहते हुए पुरुष अन्य स्त्री से विवाह कर सकता था (पृ० ३५७)।

ऋग्वेद-काल में दाम्पत्य में एकनिष्ठा का आदर्श स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन किन्हीं शर्तों के साथ होने वाले विवाह का विच्छेद सम्भव था। सम्भवतः त्याग दिये जाने पर अथवा पति के लुप्त हो जाने पर पत्नी दूसरा विवाह कर सकती थी। ऋग्वैदिक समाज में विवाहोपरान्त यौन-नैतिकता का स्तर भी बहुत ऊँचा नहीं प्रतीत होता (पृ० ३६८-७३)।

विधवा—पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी को 'विधवा' कहा जाता था। वैधव्य को नारी का बड़ा दुर्भाग्य माना जाता था। ऋग्वेद-काल में कदाचित् मृतपतिका स्त्री को वैधव्य-जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था। वह पति के भाई के साथ विवाह कर सकती थी, अथवा अपने पति के लिये पति के भाई अथवा अन्य निकट सम्बन्धी के द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकती थी (पृ० ३७४-७६)। ऋग्वैदिक काल में विधवा को पति के साथ जलाए जाने की प्रथा समाप्त हो गई थी, विधवा आचार के निर्वाह मात्र के लिए मृत पति के समीप लेट जाती थी, जहाँ से उसका देवर अथवा अन्य निकट सम्बन्धी उसे सान्त्वना देता हुआ उठा लेता था (पृ० ३७९-८१)।

संयुक्त परिवार के सदस्य तथा अन्य पितृपक्षीय सम्बन्धी

संयुक्त परिवार के सदस्य—ऋग्वैदिक काल में संयुक्त-परिवार में माता-पिता तथा सन्तान के अतिरिक्त दादा-पोते, चाचा-ताऊ और भतीजे भी रहते थे। ऋग्वेद में दादा के लिये कोई विशेष शब्द नहीं है, पिता के वाचक 'पितर्' शब्द से 'पूर्व' या 'मह' विशेषण जोड़कर 'दादा' के अर्थ का बोध कराया गया है। 'पोते' के अर्थ का बोध सामान्य अनुवंशज के वाचक 'नपात्' या 'नप्तर्' शब्द से किया गया है। ऋग्वेद में एक बार 'प्रणपात्' (परपोते) का भी उल्लेख हुआ है। चाचा या ताऊ के लिए यद्यपि इण्डो-यूरोपीय-भाषा से प्राप्त 'पितृव्य' शब्द है, लेकिन ऋग्वेद में इन सम्बन्धियों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। भतीजे का वाचक शब्द 'भ्रातृव्य' है। ऋग्वेद से पितृव्य और भ्रातृव्य के पारस्परिक व्यवहार के विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उत्तर-वैदिक काल में भ्रातृव्यों के पारस्परिक कलहों और सङ्घर्षों का वैदिक साहित्य

में अनेकशः संकेत किया गया है। अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'भ्रातृव्य' प्रायः शत्रु का पर्यायवाची हो गया था और भ्रातृव्यों को पराभूत करने के लिए जादू तथा टोने-टोटकों का आश्रय लिया जाता था (पृ० ३८५-८६)।

अन्य पितृपक्षीय सम्बन्धी—इन संयुक्त-परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त 'आपि', 'नाभि', 'सनाभि', 'ज्ञा', 'ज्ञाति', 'जामि' का अनेक बार उल्लेख हुआ है। ये पितृपक्षीय सम्बन्धी कदाचित् दो या तीन पीढ़ी के संयुक्त-परिवार से अधिक बड़े सामाजिक वर्गों के सदस्य होते थे। ऋग्वेद में इन सम्बन्धियों के वाचक पदों का इतना स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है कि उनके स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। लेकिन यह निश्चित है कि सामान्यतया ये सम्बन्धी परस्पर एक दूसरे की सहायता करते थे और विपत्ति तथा संकटों में एक साथ मिलकर शत्रु का सामना करते थे, यद्यपि उनमें परस्पर भी युद्ध और सङ्घर्ष चलते रहते थे। ऋग्वेद में अनेक बार इन्द्र से अनात्मीय शत्रुओं के साथ-साथ आत्मीय शत्रुओं का नाश करने की याचना की गई है (पृ० ३९९–४०५)।

ऋग्वैदिक परिवार में पितृपक्षीय स्त्रियों की सन्तान तथा मातृपक्ष के साथ सम्बन्धों का अभाव—ऋग्वैदिक आर्यों के समाज में विवाहित होकर परिवार से बाहर चली जाने वाली स्त्रियों का कोई महत्त्व नहीं था। उनका पितृकुल से सर्वदा के लिए सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता था। यह इस बात से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में पिता की बहिन, अपनी बहिन तथा पुत्री की सन्तान का कोई उल्लेख नहीं हुआ है और न ही उसके साथ सम्बन्ध को प्रकट करने वाले कोई शब्द हैं। इन सम्बन्धियों को केवल उत्तरवैदिक काल में ही महत्त्व दिया जाना आरम्भ हुआ है (पृ० ३८८–३९१)। ऋग्वेद में मातृकुल के सम्बन्धियों का भी कोई उल्लेख नहीं हुआ है। माता के पक्ष के सम्बन्धियों का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में 'मातृबन्धु' शब्द से हुआ है। माता के भाई का सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीसंहिता में 'मातुभ्रात्र' शब्द से उल्लेख हुआ है।

विवाहजात सम्बन्धी

इण्डो-यूरोपीय-भाषा-भाषी जातियों में कुछ विवाहजात सम्बन्धों को उनके पृथक्-पृथक् शाखाओं में विभक्त होने से पूर्व ही स्वीकार कर लिया गया था (पृ० ५६–६२)। ये वह सम्बन्ध थे जो किसी कुल में वधू के रूप में आने वाली स्त्री और उस कुल के पुरुष और उस कुल में विवाह-विधि से आई हुई अथवा उस कुल में उत्पन्न स्त्रियों के मध्य होते थे।

श्वशुर, श्वश्रू, स्नुषा—पति के पिता और माता कुल में आने वाली वधू

के 'श्वशुर' और 'श्वश्रू' कहलाते थे और वह उनकी 'स्नुषा' कहलाती थी। श्वशुर और श्वश्रू के प्रति स्नुषा का व्यवहार आदर तथा सम्मानपूर्ण होता था (पृ० ३९४)। पति के गृहपति बन जाने पर वह भी गृहपत्नी बन जाती थी और पति के माता-पिता तथा भाई और अविवाहित बहिनें उसके अधीनवर्ती हो जाते थे (पृ० ३९५)। श्वशुर और स्नुषा के पारस्परिक व्यवहार के विषय में ऋग्वेद से कोई प्रकाश नहीं पड़ता, लेकिन अथर्ववेद के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि स्नुषा श्वशुर से वार्तालाप नहीं करती थी और उससे छिपती थी (पृ० ३९४)।

देवर—पति के भाई वधू के 'देवर्' कहलाते थे। भाई की पत्नी के लिए ऋग्वेद में कोई शब्द नहीं मिलता। कदाचित् 'देवर्' का भाभी से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा पति के भाई से सम्भवतः विवाह कर लेती थी। गृहपति भाई की पत्नी अपने देवरों पर शासन करती थी।

ननान्दा—पति की बहिन वधू की 'ननान्दर्' कहलाती थी और वह भी अविवाहित अवस्था में अपने भाई की पत्नी के अधीन रहती थी (पृ० ३९७)।

जामाता, स्याल—ऋग्वैदिक काल में पुरुष का अपनी पत्नी के कुल से भी सम्बन्ध जुड़ने लगा था और पत्नी के माता-पिता के लिए भी श्वशुर और श्वश्रू शब्दों का प्रयोग होने लगा था। पुरुष अपनी पत्नी के माता-पिता का 'जामातर्' कहलाता था। सामान्यतया जामाता और श्वशुर तथा श्वश्रू का सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण होता था। पत्नी का भाई 'स्याल' कहलाता था जो बहिन के पति की आर्थिक सहायता करने के लिए प्रसिद्ध था (पृ० ३९९-४००)।

ऋग्वैदिक परिवार का संगठन

ऋग्वेद में आये हुए सम्बन्धवाचक पदों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो गया है कि ऋग्वैदिक परिवार विशुद्ध रूप से एकपक्षीय परिवार था जिसमें आत्मीयों का निश्चय केवल पितृपक्ष से किया जाता था। पितृपक्ष के दूरवर्ती पुरुष सम्बन्धी भी आत्मीय माने जाते थे और दूरी अथवा निकटता की दृष्टि से उन्हें विभिन्न पदों से निर्दिष्ट किया जाता था। विवाह होकर दूसरे कुल में गई हुई कुल की स्त्रियों अथवा उनकी सन्तान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। पिता की बहिन (पितृष्वसर्) तथा उसकी सन्तान, बहिन की सन्तान और पुत्री की सन्तान एवम् उनके पतियों के कुल के सम्बन्धियों को उत्तरकाल में ही मान्यता प्राप्त हुई है। वर्तमान हिन्दू-परिवार में पिता की बहिन का

अपनी भतीजी के विवाह के विषय में पर्याप्त अधिकार होता है। धर्मशास्त्रों में 'दौहित्र' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विवाह-विधि से दूसरे कुलों से आई हुई स्त्रियाँ भी पतिकुल की अभिन्न अङ्ग हो जाती थीं और सन्तान को जन्म देकर माता के रूप में उनका परिवार में गौरवपूर्ण स्थान हो जाता था, लेकिन उसकी सन्तान का उसके पितृकुल से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। सन्तान का सम्बन्ध केवल अपने पिता के कुल से ही माना जाता था। वर्तमान हिन्दू-परिवार में माता के भाई (मामा) का अपने भानजे-भानजी से निकटता का सम्बन्ध होता है और उसका उनके विवाह के विषय में महत्त्वपूर्ण भाग होता है। संक्षेप में वर्तमान हिन्दू-परिवार उभयपक्षीय (bilateral) होता है, परन्तु ऋग्वैदिक परिवार में इन सम्बन्धियों का कोई महत्त्व नहीं था।

ऋग्वैदिक परिवार विशुद्ध रूप से पितृसत्ताक परिवार होता था जिसमें आत्मीयता, वंशानुक्रम, दाय, उत्तराधिकार, प्रभुत्व तथा विवाह आदि सामाजिक प्रक्रियायें पितृपक्षीय थीं। पिता के कुल और कबीले के सम्बन्धी किसी पुरुष के आत्मीय माने जाते थे। कोई बच्चा अपने पिता के कबीले का माना जाता था। पैतृक सम्पत्ति के दायाधिकारी पुत्र होते थे। केवल पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति ही पुत्री को जाती थी, वह भी केवल उस दशा में जबकि पिता पुत्री के पुत्र को गोद ले लेवे। कदाचित् दत्तक पुत्र बनाने में भी पितृ-पक्षीय बन्धुओं के पुत्रों को प्राथमिकता दी जाती थी। पद का उत्तराधिकार पिता से पुत्र को जाता था। कुल की सन्तान पर पिता अथवा पितृपक्षीय किसी अन्य पुरुष का अधिकार होता था। माता के भाई का सन्तान अथवा सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता था। ऋग्वैदिक आर्यों में पितृस्थानीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पत्नी पति के कुल में आती थी, केवल कभी अपवाद स्वरूप ही जामाता अपनी पत्नी के कुल में रहता था।

ऋग्वैदिक परिवार यद्यपि संयुक्त-परिवार होता था जिसमें दो-तीन पीढ़ियों के सम्बन्धी एक घर में रहते थे, लेकिन फिर भी सामाजिक कर्त्तव्यों और अधिकारों तथा सहज-प्रेम और निकटता की दृष्टि से संयुक्त-परिवार के अन्तर्गत माता-पिता और सन्तान की इकाई का अलग महत्त्व था। आर्थिक दृष्टि से सन्तान माता-पिता पर तथा वृद्धावस्था में माता-पिता अपने पुत्रों पर ही अधिक निर्भर रह सकते थे।

—:o:—

परिशिष्ट (क)

सहायक पुस्तकों की सूची

१. मूल संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् और उनकी संस्कृत टीकाएँ

अथर्ववेद	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
ऋग्वेद (मूल)	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९९८।
ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य सहित)	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
ऐतरेयब्राह्मण	हॉग मार्टिन द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८६३।
कौषीतकिब्राह्मण	हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९२०।
काठकसंहिता	स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, १९४३।
गोपथब्राह्मण	ड्यू गास्ट्रा का संस्करण, ई० जे० बिल, लीडेन, १९१९।
छान्दोग्योपनिषद्	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पूना, १९१५।
जैमिनीयब्राह्मण	सरस्वती विहार सीरीज़, नागपुर, १९५४।
तैत्तिरीयसंहिता	स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, १९४५।
तैत्तिरीयसंहिता (सायण-भाष्यसहित)	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पूना।
तैत्तिरीयब्राह्मण	,, ,, ,,
तैत्तिरीयारण्यक (सायण-भाष्यसहित)	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पूना १९२६।
ताण्ड्यमहाब्राह्मण	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९३५।
निरुक्त (सनिघण्टु) दुर्गाटीका	बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज़।
निरुक्त (सनिघण्टु) देवराजयज्वा की टीका	बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता १८८२।
पंचविंशब्राह्मण (अनुवादक कलाण्ड)	बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९३१।
बृहदारण्यकोपनिषद्	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पुना, १९१५।

बृहद्देवता (शौनक)	हारवर्ड यूनिवर्सिटी, कैम्ब्रिज, १९०४।
मैत्रायणीसंहिता	स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, सम्वत् १९९८।
वाजसनेयीसंहिता	स्वाध्याय मण्डल, औन्ध।
शतपथब्राह्मण	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९०२।
षड्विंशब्राह्मण	सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८१।

२. श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतिग्रन्थ

अङ्गिरःस्मृति	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पूना, १९०५।
आपस्तम्बधर्मसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३२।
आश्वलायनगृह्यसूत्र	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, १९३६।
कात्यायनश्रौतसूत्र	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, १९३०।
गोभिलगृह्यसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३६।
गौतमधर्मसूत्र	अद्यार लाइब्रेरी सीरीज़, मद्रास, १९४८।
पारस्करगृह्यसूत्र	श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९९९।
पाराशरस्मृति	बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, शकाब्द १८११।
बौधायनधर्मसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९३४।
मनुस्मृति	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९।
याज्ञवल्क्यस्मृति	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना १९०४।
वसिष्ठधर्मसूत्र	गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८८३।
वसिष्ठस्मृति	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना।
शाङ्खायनश्रौतसूत्र	अलफ्रेड हिलब्राण्ट का संस्करण, कलकत्ता, १८८८।
शाङ्खायनगृह्यसूत्र	
संवर्तस्मृति	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना।
हिरण्यगृह्यसूत्र	

३. इतिहास और पुराण

महाभारत (वी० एस० सुकठणकर का संस्करण)	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।
मार्कण्डेयपुराण	श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०२।
वायुपुराण	श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८९५।
श्रीमद्भागवतपुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००८।

हरिवंशपुराण — श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८६५।

४. अन्य संस्कृत ग्रन्थ

अमरसिंह — नामलिङ्गानुशासनम् (अमरकोशोद्घाटन सहित) के० जी० ओका का संस्करण, पूना, १९१३।

कामन्दक पण्डित — कामन्दकीयनीतिसार, श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०४।

कालिदास — अभिज्ञानशाकुन्तल (एम० आर० काले का संस्करण), गोपाल नारायण एण्ड को०, बम्बई, १९३४।

रघुवंश, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४८।

भट्टोजिदीक्षित — सिद्धान्तकौमुदी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९।

भवभूति — उत्तररामचरित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९।

भारवि — किरातार्जुनीय, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०२।

विशाखदत्त — मुद्राराक्षस, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३०।

विष्णुशर्मा — पञ्चतन्त्र, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३०।

शूद्रक — मृच्छकटिक (आर० डी० करमारकर का संस्करण), बम्बई, १९२४।

५. वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद और उनकी समालोचनायें

Das, Abinas Chandra — *Rgvedic Culture*, R. Cambray & Co., Calcutta, 1925.

Deshmukh, P. S, — *The Origin and Development of Religion in Vedic Literature*, Oxford University Press, London, 1933.

Geldner, K. F. — *Der Rigveda*, Vols. I to III, Harward University Press, 1951.

Gonda, J. — *Rigvidhana* (English Translation).

Griffith, Ralph T. H. — *The Hymns of the Rigveda*, Vols. I to IV, E. J. Lazarus & Co., Benares, 1889.

Hariyappa, H. L. — *Rigvedic Legends Through the Ages*, Deccan College Post-graduate and Research Institute, Poona, 1953.

Keith, A. B. — *Rigveda Brāhmaṇas Translated*, Harward University Press, 1920.

Keith, A. B. — *The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads*, Humphrey Milford, London, 1925.

Macdonell, A. A. — *A Vedic Reader*, The Clarendon Press, Oxford, 1917.

Macdonell, A. A. — *Vedic Mythology*, Strassburg, 1897.

Ragozin, Z. A. — *Vedic India, as Embodied Principally in the Rig-Veda*, Pisher Irwin Ltd., London, 1915.

Verma, Siddheshwar — *The Etymologies of Yāska*, Vishveshvaranand Publications, Hoshiarpur, 1953.

Whitney, W. D. — *Atharvaveda Saṃhitā*.

Wilson, H. H. — *Rigveda Saṃhitā* (7 Volumes), Ashtekar & Co., Poona, 1927.

६. आकर ग्रन्थ

Böhtlingk, Otto & Roth, Rudolf — *Sanskrit Wörterbuch* (St. Petersburg Lexicon), (1855—75).

Buck, Carl Darling — *A Dictionary of Selected Synonyms in Principal Indo-European Languages*, The University of Chicago Press, Chicago.

Fick, August — *Vergleichendes Wörterbuch der Indogermanischen Sprachen*, Gottingen, 1874.

Grassmann, Hermann — *Wörterbuch zum Rigveda*, Wiesbaden, 1955.

Hastings, James	*Encyclopaedia of Religion and Ethics*, T. & T. Clark, Edinburgh, 1915.
Shyam Sundar Das	*Hindi Shabda Sagar*, Kashi Nagari Pracharini Sabha, 1925.
Macdonell, A. A. and Keith, A. B.	*Vedic Index of Names and Subjects*, Vols. I & II, London, 1912.
Muir, J.	*Original Sanskrit Texts* (Five Volumes, 2nd Edition). Trübner & Co., London, 1884.
Max Müller, Fredrick	*Biographies of words*, Longmans Green & Co., London, 1888.
Seligman, Edwin R. A.	*Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol. VI, The Macmillan Company, New York, 1949.
Monier-Williams, (Sir) Monier	*A Sanskrit English Dictionary*, The Clarendon Press, 1899.

७. परिवार तथा सम्बद्ध विषयों के आधुनिक ग्रन्थ

Altekar, A. S.	*Prachina Bhartiya Shasana Paddhati*, Bharti Bhandar, Prayag, 1948.
Altekar, A. S.	*Education in Ancient India*, (1st Edition), Indian Book Depot, Benares, 1934.
Altekar, A. S.	*The Position of Women in Hindu Civilization*, Benares Hindu University, 1938.
Brough, John	*The Early Brāhmanic System of Gotra and Pravara*, Cambridge, 1953.
Engels, Frederick	*The Origin of the Family, Private Property and the State*, People's Publishing House, Bombay, 1944.
Haridatta Vedalankar	*Hindū Parivāra Mīmānsā*, Bengal Hindi Mandal, Sam. 2011.
Jayaswal, K. P.	*Hindu Polity*, (3rd Edition), Banglore City, 1955.
Kaegi, Adolf	*Life in Ancient India*, (Translated by R. Arrowsmith), Sushil Gupta Ltd., Calcutta, 1950.

Kane, P. V. — *Vedic Basis of Hindu Law,* Karnatak Printing Works, Dharwar, 1936.

Kapadia, K. M. — *Hindu Kinship,* Popular Book Depot, Bombay, 1947.

Karve, Iravati — *Kinship Terminology and Kinship Usages,* (A. B. O. R. I., Vol. XX, Poona, 1939).

Karve, Iravati — *Kinship Usages and Family Organisation.* (A. B. O. R. I., Vol. XX, Poona, 1939).

Kirkpatrick, E. A. — *Fundamentals of Child Study,* The Macmillan Coy., New York, 1922.

Lowie, Robert H. — *Social Organisation,* London, 1950.

Lowie, Robert H. — *Primitive Society,* London, 1953.

Maine, Sir Henry Summer — *Early Law and Custom.*

McDougall, William — *An Introduction to Social Psychology,* 30th Edition, Methuen & Co. Ltd., London, 1950.

Mayne, John D. — *A Treatise on Hindu Law and Usage,* Higginbotham & Co., Madras, 1880.

Meyer, Johann Jacob — *Sexual Life in Ancient India,* Standard Literature Co. Ltd., Calcutta, 1952.

Mitter, Dwarkanath — *The Position of Women in Hindu Law,* University of Calcutta, 1913.

Mukerji, Radha Kumud — *Ancient Indian Education,* Macmillan & Co. Ltd., London, 1951.

Rao, Shri Raghunath — *Aryan Marriage.*

Rivers, W. H. R. — *Social Organisation,* London, 1926.

Sarkar, S. C. — *Some Aspects of the Earliest Social History of India,* Oxford University Press, London, 1928.

Sen-Gupta, N. C. — *Evolution of Ancient Indian Law,* Eastern Law House, Calcutta, 1950.

Shastri, V. M. Shrinivas — *Marriage After Puberty,* 2nd Edition.

Upadhyaya, B. S. — *Women in Rigveda,* 2nd Edition, Nand Kishore & Bros., Benares, 1941.

Verma, V. P. — *Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundations*, Moti Lal Benarsi Das, Benares.

West, R. & Bühler, J. G. — *A Digest of the Hindu Law*, Education Society Press, Bombay, 1884.

८. प्रकीर्णक ग्रन्थ

Cary, Henery — *Herodotus*, George Bell & Sons, London, 1908.

Durant, Will — *The Story of Civilization*, N. Y. Simson & Schuster, 1954.

Ellwood — *Sociology in its Psychological Aspects.*

Havell, E. B. — *The History of Aryan Rule in India*, George G. Harrop & Coy. Ltd., London.

Jackson, A. V. Williams — *Zoroaster The Prophet of Ancient Iran*, The Macmillan Coy., London, 1901.

Kane, P. V. — *History of Dharmaśāstra*, (Vol. II Pt. I), Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1941.

Macdonell, A. A. — *A History of Sanskrit Literature*, London, 1905.

Maine, Sir Henry Summer — *Village Communities in the East and West*, 6th Edition, John Murray, London, 1890.

Max Müller, F. — *India—What can it teach us*, 1882.

,, ,, — *History of Ancient Sanskrit Literature*, Panini Office, Allahabad.

,, ,, — *Chips from a German Workshop*, Vol. I, 1868.

Mehta, Rati Lal. — *Pre-Budhist India*, Examiner Press, Bombay, 1939.

Baden-Powell, B. H. — *Origin and Growth of Village Communities in India*, Swan Sonnensehein & Co., London, 1908.

Rapson, E. J. — *The Cambridge History of India*, Vol. I, First Indian Reprint, 1955.

Schrader, Otto — *Pre-historic Antiquities of the Aryan Peoples*, (English Translation, 1890).

Shrinivas, M. N. — *Religion and Society Among the Coorgs of South India*, Clarendon Press, Oxford, 1952.

Taraporewala, J. S. — *The Divine Songs of Zarathushtra*, D. B. Taraporewala & Sons, Bombay, 1951.

Taylor, Issac — *The Origin of the Aryans*, Walter Scott, London, 1889.

Whitney, W. D. — *Oriental and Linguistic Studies*, New York, 1873.

६. पत्र पत्रिकाएँ

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XX, Poona, 1939.

Bulletin of Deccan College Research Institute, Vol. VIII.

Fourth Oriental Conference Proceedings, Vol. II, The Indian Press Ltd., Allahabad, 1928.

Indian Antiquary, Vol. 50.

Proceedings and Transactions af the All India Oriental Conference (15th Session, Bombay, 1949).

—: o :—

परिशिष्ट (ख)

नाम, शब्द तथा विषय की अनुक्रमणी

—:o:—

